ॐ

संशयतदुच्छेदवाद-हिन्दी विज्ञान भाष्य

विज्ञानोपक्रमाधिकार-षट्पर्वा
(प्रथम-काण्ड)

पं. मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिक

राजस्थान पत्रिका, प्रकाशन

संशयतदुच्छेदवाद-हिन्दीविज्ञानभाष्य

[स्व० पं० मधुसूदन ओझा प्रणीत संशयतदुच्छेदवाद का विशद विवेचन]

विज्ञानोपक्रमाधिकार–षट्पर्वा

प्रथम-काण्ड

पं. मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथीपथिकः

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
राजस्थान वैदिक तत्व शोध संस्थान
मानवाश्रम विद्यापीठ, जयपुर-११

प्रकाशक :
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ़ जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।

ग्रन्थ-प्राप्ति
राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८

मुद्रक :
श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय,
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८



पूज्यपाद विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदनजी महाराज (श्रीगुरुचरणाः)

प्रकाशकीय

विद्यावाचस्पति पं० मधुसूदन ओझा जी द्वारा विरचित 'संशयतदुच्छेदवाद' नामक ग्रन्थ का उनके ही प्रधान शिष्य वेदवाचस्पति पं० मोतीलाल शास्त्री जी द्वारा किये गए हिन्दीविज्ञानभाष्य सहित–संशयतदुच्छेदवादहिन्दीविज्ञानभाष्य–विज्ञानोपक्रमाधिकार नामक प्रथम-काण्ड को प्रकाशित करते हुए मुझे अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है ।

सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बन्धित प्राचीन दशवादों (दसमतों) पर ओझा जी ने स्वतन्त्र-स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखें हैं, उन्हीं के क्रम में यह 'संशयतदुच्छेदवाद' नामक ग्रन्थ भी है । यह ग्रन्थ अत्यन्त दुरूह किन्तु महत्त्वपूर्ण है । इस ग्रन्थ में सृष्टिरचनाविषयक तत्त्वों के बारे में जो भी संशय हैं, उन संशयों पर विस्तार से चर्चा करते हुए उनका शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्कों के आधार पर निराकरण किया गया है । 'विज्ञानोपक्रमाधिकार' नामक इस प्रथम-काण्ड में 'आभु-अभ्व, रस-बल, ज्ञान-कर्म्म, ब्रह्म, पुरुष, यज्ञ, प्रत्यय, ईश्वर एवं जीव आदि अनेक विषयों का विस्तार से विवेचन करते हुए उनके तात्त्विकस्वरूप को समझाया गया है ।

पूज्य ओझा जी ने वेद-विज्ञानसम्बन्धी जो नवीन दृष्टि हमें प्रदान की है, उसे सहसा समझ पाना बडा दुरूह है । इस परिस्थिति में स्व० पं० मोतीलाल शास्त्री जी के हिन्दीविज्ञानभाष्य हमारे लिए निश्चितरूप से इस विषय को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं–क्योंकि पूज्य ओझा जी द्वारा प्रदत्त ज्ञान को स्व० शास्त्री जी ने आत्मसात् ही नहीं किया अपितु, उसी के अनुसार विशाल वेद-विज्ञान साहित्य का सृजन भी किया है । अब तक स्व० शास्त्री जी के जितने भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, यद्यपि उनमें दृष्टि तो अपने गुरु की ही रही है, तथापि वे सभी स्वतन्त्ररूप से ही लिखे गए हैं । मेरी दृष्टि में स्व० ओझा जी द्वारा विरचित 'संशयतदुच्छेदवाद' नामक यह ग्रन्थ ऐसा प्रथम ग्रन्थ है, जो कि उनके शिष्य स्व० पं० मोतीलाल शास्त्री जी के हिन्दीविज्ञानभाष्यसहित प्रकाशित हुआ है ।

स्व० शास्त्री जी द्वारा विरचित ग्रन्थों के प्रकाशन-कार्य्य से जुड़े प्रो० मदनमोहन जी शर्म्मा ने अपनी बढती अवस्था व स्वास्थ्य की चिन्ता न करते हुए इस ग्रन्थ के मूलपाठ-निर्धारण, भाषा-सम्पादन एवं मूलसंस्कृत अंशों के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण में जिस तरह से पूर्ण श्रद्धा व मनोयोगपूर्वक प्रकाशन-कार्य्य को पूर्ण करने में अपना अधिक से अधिक समय देकर जो बहुमूल्य योगदान प्रदान किया है–उसके लिए मैं उनका हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ ।

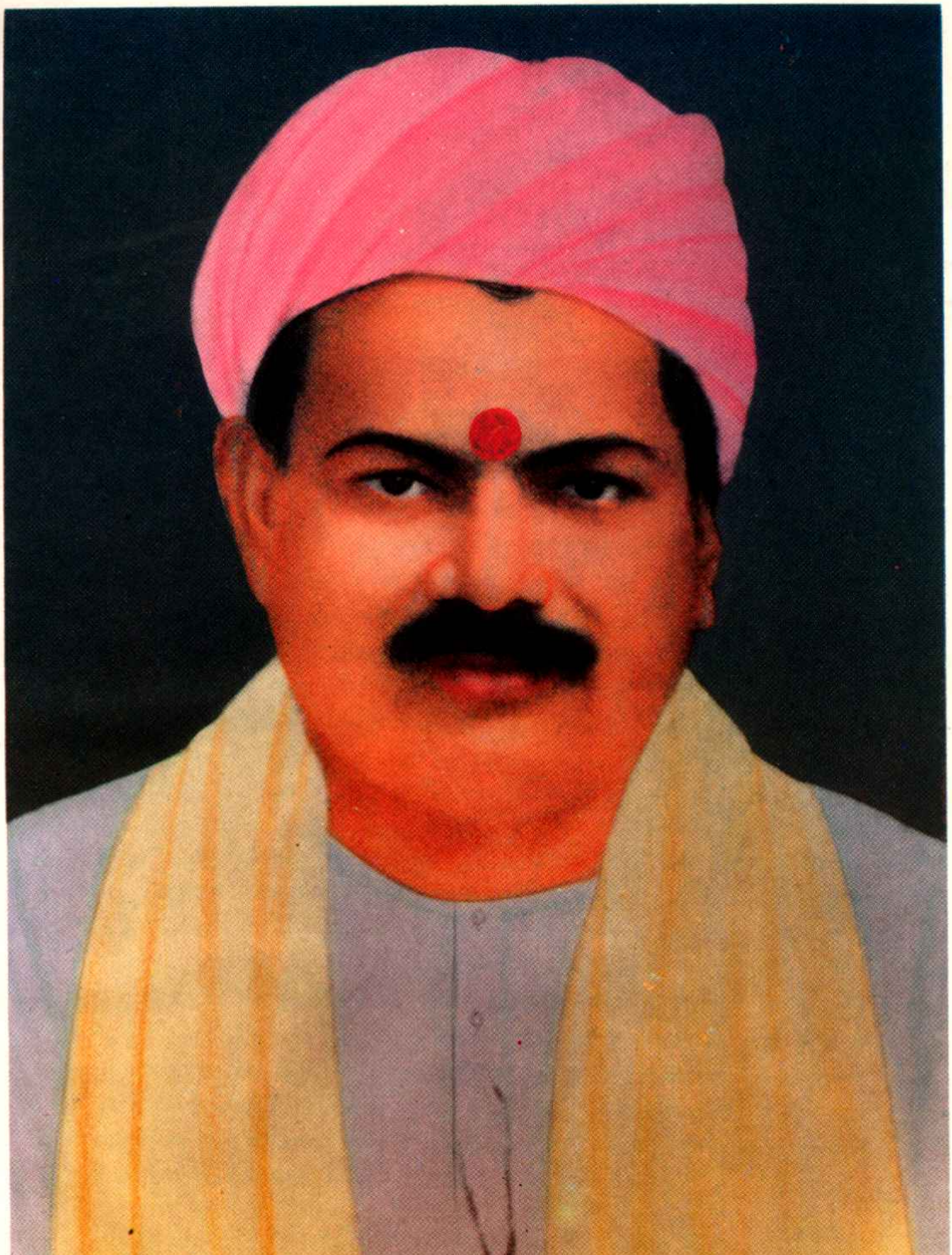
स्व० शास्त्री जी के सुपौत्र श्री प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा प्रकाशन की सभी गतिविधियों के तो केन्द्र हैं हीं, पर इस अत्यन्त दुरूह ग्रन्थ को व्यवस्थित करने, त्रुटित स्थानों को पूर्ण करने, अधूरे सन्दर्भों को ग्रन्थों से खोज कर यथास्थान लगाने, पादटिप्पणियों को देने आदि का जो कार्य उन्होंने निभाया है उसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं ।

श्री हीरालाल गहलोत मूलपाण्डुलिपि के सुपाठ्य पुनर्लेखन, प्रूफसंशोधन एवं सन्दर्भ-शोधन में सहायता प्रदान करने के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

पूज्य ओझा जी रचित 'संशयतदुच्छेदवाद' के मूलसंस्कृतपाठ एवं स्व० शास्त्री जी के हिन्दी-भाष्य के सहित प्रकाशित 'संशयतदुच्छेदवाद-हिन्दीविज्ञानभाष्य' विज्ञानोपक्रमाधिकार नामक यह प्रथम-काण्ड पाठकों के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध होगा, इसी आशा के साथ—

—कर्पूरचन्द्र 'कुलिश'

जन्माष्टमी,
वि०सं० २०५०



वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल शास्त्री

पुरोवाक्

मानव चिन्तन के विस्तार की कोई सीमा नहीं है, अतएव ज्ञान-विज्ञान का प्रवाह निरन्तर गतिशील रहता है। शास्त्र सत्य, ज्ञान, अनन्त और ब्रह्म का सामानाधिकरण्य घोषित करते हैं–**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। ज्ञान की इस अनन्तता के होने पर भी समस्त चिन्तन की कुछ मूलभूत अवधारणायें हैं जिनके आधार पर हमारे मस्तिष्क का संगणक विचारों का ताना-बाना बुनता रहता है। वेद ऐसी ही मूलभूत अवधारणाओं का कोश है। इसी कारण मनु ने कहा कि सब कुछ वेद से ही उद्भूत होता है–**सर्वं वेदात्प्रसिध्यति**। इसका अर्थ यह नहीं है कि विचार का विकास या विस्तार नहीं होता है किन्तु उस विकास या विस्तार की जड़ में कहीं न कहीं वेद अवश्य रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक युग में भी वेद के नूतन भाष्य की आवश्यकता रहती है। एक कालखण्डविशेष में विचार का जो विस्तार हो जाता है उसका मूल सहज ही वेद में पहले से ही उपलब्ध रहता है। भाष्यकार वेद में अन्तर्निहित उस मूल को समकालिक विचार के विस्तार से जोड़कर दिखा देता है। यह भाष्यकार की खींचतान नहीं है बल्कि वेद के उस स्वरूप की महिमा का फल है जिसके अन्तर्गत वेद में अखिल धर्म का मूल छिपा है–**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**। धर्म का एक अर्थ वस्तु का स्वभाव भी है। वेद में यदि समस्त वस्तुओं का स्वभाव वर्णित है तो फिर वेद को समस्त सत्यविद्याओं का ग्रन्थ मानना भी अनुचित नहीं है।

प्रायः यह कहा जाता है कि जब कोई ज्ञान प्रकट हो जाता है तो वेदभक्त यह शोर मचाते हैं कि यह ज्ञान तो वेद में पहले से ही था। यह आरोप सुविचारित नहीं है। सभी शब्द वर्णमाला से बनते हैं–इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। अब यदि आवश्यकता पड़ने पर कोई नया शब्द प्रचलन में आये और कोई यह कहे कि यह शब्द वर्णमाला से ही बना है, तो यह वक्तव्य सर्वथा समीचीन होगा। यह आरोप लगाना कि यदि यह शब्द वर्णमाला से ही बना है तो पहले क्यों नहीं बन गया था, स्पष्ट ही निर्मूल है। वर्णमाला पहले से है, उसमें समस्त शब्दों के निर्माण की शक्ति भी है, किन्तु शब्दों का निर्माण समयानुसार आवश्यकता पड़ने पर ही होता है। वेद मानव-विचार की वर्णमाला प्रदान करता है जिसके अनेकविध समायोजन से विविध वादों का जन्म समय-समय पर होता रहता है। वेद भाष्यकार उन वादों की वर्णमाला वेद में खोजकर बताता है। इसे खींचतान समझना वेद के स्वरूप के प्रति अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पढने पर पाठक की यह प्रतिक्रिया हो सकती है कि यह तो वेद में अत्यन्त अर्वाचीन विचारों को खोजने का एक दुराग्रहपूर्ण प्रयास है। वेद में यह सब दार्शनिक विवेचन कहाँ उपलब्ध है? वस्तु स्थिति यह है कि वेद में भले ही यह विस्तार उपलब्ध न हो किन्तु इसका मूलरूप अवश्य

उपलब्ध है । ग्रन्थकार **पण्डित मधुसूदन ओझा जी** ने वेद में उसके मूलरूप को खोजकर उसको परवर्ती विचार से जोड़ दिया है–यही उनका अवदान माना जाएगा ।

यह भी कहा जा सकता है कि जब एक विचार हमें विस्तार से उपलब्ध ही है तो वेद में उसके मूल तक जाने का श्रम क्यों किया जाये ? अनुभव में यह आया है कि किसी भी विचार के मूल उद्गम तक जाकर उसे खोजने पर उस विचार की समझ में स्पष्टता बढती है । अभी कुछ दिन पहले दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति **आचार्य उपेन्द्र बख्शी** ने संस्कृत के आचार्य पद के चयन के समय एक जिज्ञासा की कि अंग्रेजी के *Being* तथा *Becoming* शब्दों का अनुवाद संस्कृत में क्या होगा ? प्रत्याशियों ने *Being* का अनुवाद सत्ता अथवा सत् के रूप में कर भी दिया, किन्तु *Becoming* का अनुवाद करना कठिन हो गया । यदि वेद के दो शब्द **आभु** तथा **अभ्व** को देखें तो *Being* के लिये **आभु** तथा *Becoming* के लिये **अभ्व** शब्द इतने उपयुक्त हैं कि शब्दानुवाद की मर्यादा भी सुरक्षित रह जाती है और भाव भी स्पष्ट हो जाता है । 'भू' धातु का अर्थ *to be* है । आभु सर्वव्यापक नित्य है, अभ्व सीमित तथा परिवर्तनशील है । यही नहीं, अभ्व को परिभाषित करते हुए वैदिक ऋषि कहता है कि नाम और रूप दो महान् अभ्व हैं–'**नामरूपे महती अभ्वे**' । इस प्रकार अंग्रेजी के शब्द *Being* की व्याख्या भी हो जाती है । प्रस्तुत ग्रन्थ में तो आभु और अभ्व शब्दों की इतनी विस्तृत व्याख्या है कि अन्यत्र शायद ही कहीं मिले ।

ये ही **आभु** तथा **अभ्व** तत्त्व **रस-बल, अमृत-मृत्यु, ब्रह्म-माया, ज्ञान-कर्म** आदि शब्दों द्वारा कहे गये हैं । श्रुति-प्रमाण के आधार पर अभ्व को नाम-रूप समझ लेने पर सहज ही जिज्ञासा होती है कि नाम-रूप की क्या स्थिति है ? प्रत्यक्ष ही नाम-रूप परिवर्तनशील हैं किन्तु क्या इस कारण उन्हें असत्य अथवा मिथ्या मान लिया जाये ? श्रुति शब्दशः कहती है कि नाम-रूप सत्य हैं–'**नामरूपे सत्यम्**' । ऐसी स्थिति में श्रुति-प्रमाण में विश्वास रखने वाले उन्हें मिथ्या अथवा भ्रम कैसे कहेंगे ? यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिस पर भारतीय दर्शन के मनीषियों को पुनर्विचार करके भगवत्पाद **आदि शङ्कराचार्य** की माया की अवधारणा की भी पुनर्व्याख्या करनी होगी क्योंकि, स्वयं शङ्कराचार्य इस बात से कभी सहमत न होंगे कि कोई श्रुति-विरुद्ध मान्यता स्वीकार की जाये । '**मृत्तिकेत्येव सत्यम्**' की श्रुति पर वेदान्तियों ने निरन्तर बल दिया है किन्तु '**नामरूपे सत्यम्**' की श्रुति के साथ उस श्रुति का समन्वय करने पर ही श्रुति की एक वाक्यता सुरक्षित रह सकेगी । यह उदाहरण केवल यह प्रदर्शित करने के लिये है कि यदि परवर्ती विचार के विकास के वैदिक मूल उद्गम तक हम जायें तो विचारों का स्पष्टीकरण ही नहीं शुद्धीकरण तथा विशदीकरण भी होता है ।

भारतीय दर्शन के परवर्ती विकास के मूल उद्गम तक जो पाठक जाना चाहते हैं उनके लिए प्रस्तुत ग्रन्थ अभूतपूर्व खजाना सिद्ध होगा । **पण्डित मधुसूदन ओझा** ने लिखा हमारे युग में है किन्तु साधना के बल पर वे उस शैली में लिखने में समर्थ हो गए हैं जो शैली संस्कृत के लेखक गुप्तकाल के स्वर्णयुग में अपना रहे थे । संस्कृत के उस स्वर्णयुग में लिखे गए ग्रन्थों पर लम्बे अन्तराल में आज तक

अनेकानेक टीका-भाष्य लिख दिए गए। फलतः उन ग्रन्थों की समास-शैली के पूरक व्यास-शैली में लिखे गए ये टीका-भाष्य हो जाते हैं। सौभाग्य की बात है कि **पण्डित मधुसूदन ओझा** को अपने जीवनकाल में ही कम से कम दो ऐसे टीका-भाष्यकार मिल गए थे जो उनके शिष्य थे और इसलिए उनके ग्रन्थों पर प्रामाणिक रूप से भाष्य कर सकते थे। ये विद्वान् थे-महामहोपाध्याय **पण्डित गिरधर शर्म्मा चतुर्वेदी** तथा वेदवाचस्पति **पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री**। इन दोनों ही मनीषियों ने पण्डित ओझा के ग्रन्थों पर भाष्य-टीका भी की तथा स्वतन्त्रसाहित्य का निर्म्माण भी किया। महामहोपाध्याय गिरधर शर्म्मा के **महर्षि कुलवैभव** तथा **ब्रह्मसिद्धान्त** जैसे ग्रन्थों पर भाष्य पण्डित ओझा के ही जीवन-काल में निकल गए थे। अब श्री **कर्पूरचन्द्र जी कुलिश** के प्रयत्नों से **ब्रह्मसिद्धान्त** जैसे ग्रन्थ पर महामहोपाध्याय जी द्वारा लिखित संस्कृत टीका का उन्हीं के ज्येष्ठ आत्मज **पण्डित देवीदत्त जी चतुर्वेदी** द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध हो गया है।

इधर पण्डित ओझा के वेद-विज्ञान को आधार बनाकर विपुल साहित्य का निर्म्माण करने वाले **पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री** का अपने गुरु के किसी ग्रन्थ पर लिखा भाष्य अब तक प्रकाश में नहीं आया था। **संशयतदुच्छेदवाद** पर **पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री** का हिन्दी भाष्य प्रथम बार प्रकाश में आ रहा है। इस भाष्य का जो कुछ मुद्रित अंश मैंने देखा है उसे देखकर मुझे बहुत सन्तोष हुआ। ऐसा लगता है कि अपने ग्रन्थ को पढाते समय अपने शिष्यों को जो कुछ पण्डित ओझा कक्षा में समझाते होंगे, पण्डित मोतीलाल जी की प्रखर स्मृति ने उसे टेपरिकार्ड कर लिया है और फिर स्मृति से उसे ही लिपिबद्ध कर डाला है। पण्डित ओझा के साहित्य का इससे अधिक स्पष्ट तथा प्रामाणिक विवेचन कोई दूसरा कर सकेगा-ऐसा नहीं लगता।

पण्डित मोतीलाल जी के भाष्य की शैली सम्वादात्मक है। इस कारण उसमें प्रसादगुण आ गया है किन्तु साथ ही उसमें अर्थ-गौरव का मणिकाञ्चनसंयोग भी है। आज वेदविज्ञान की गुरुशिष्य-परम्परा विच्छिन्नप्राय है। यह भाष्य उस अभाव की बहुत बडे अंश में पूर्त्ति तो करता ही है, विशेषकर राजस्थान में उस परम्परा को जो पुनः स्थापित करने का पुण्य प्रयास चल रहा है, उसमें भी बहुमूल्य सहायता देगा। पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री के पौत्र **पं० प्रद्युम्नकुमार जी शर्म्मा** ने अपने पितामह के सारस्वत श्राद्ध करने के लिए इस ग्रन्थ को मुद्रण योग्य बनाने में जो श्रम किया है उसका अनुमान सामान्यतः पाठक को नहीं होगा। एक एक पङ्क्ति का मूल से सामञ्जस्य बैठाना और फिर ढूँढ-ढूँढकर शास्त्रीय प्रमाणों के सन्दर्भ देना-एक नये ग्रन्थ लिखने से कम श्रमसाध्य नहीं है। मेरी उत्कट इच्छा है कि श्री प्रद्युम्नकुमार जी इसी प्रकार पण्डित ओझाजी के अन्यान्य ग्रन्थों का भी पण्डित मोतीलाल जी कृत भाष्य सम्पादित करके शीघ्रातिशीघ्र प्रकाश में लायें-'**सत्या नः सन्त्वाशिषः**'।

दयानन्द भार्गव
आचार्य्य एवम् अध्यक्ष संस्कृत विभाग
तथा
अध्यक्ष, परामर्शदातृमण्डल पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

ग्रन्थ-परिचय

आधुनिक वैज्ञानिक एवं सामान्य जन भी सृष्टि के सम्बन्ध में जानने के लिए उत्सुक हैं। आधुनिक वैज्ञानिक विश्व-रहस्य के उद्घाटन में प्रयत्नशील हैं। सृष्टि का मौलिक तत्त्व क्या है? सृष्टि-प्रक्रिया का उद्देश्य क्या है? इसके मूल में कौन-कौन सी शक्ति है? इत्यादि एक से एक रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न सृष्टि-विद्या के सम्बन्ध में हमारे सामने समुपस्थित हैं। ये प्रश्न क्या आज ही उत्पन्न हुए हैं? नहीं। अपि तु, प्राचीन मानव भी विश्व की पहेली को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना चाहता था।

जब हम भारतीय पुरातन सभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले इतिहास के पन्ने उलट कर देखते हैं तो हमें इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि सृष्टिमूलविषयक विभिन्न मतवादों का आविर्भाव-तिरोभाव धारावाहिक रूप से अनादिकाल से प्रवाहित है। जिस आदियुग में भारतीय वैज्ञानिक ऋषियों का तत्त्वदर्शन अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था, उस युग में भी प्राचीन भारतीय विद्वानों में सृष्टि-मूल के सम्बन्ध में विभिन्न दस (१०) वाद प्रचलित थे। अर्वाचीन संस्कृत के 'मत' शब्द के लिए पूज्य ओझा जी ने 'वाद' शब्द का प्रयोग किया है।

सृष्टि का मूल क्या है? सृष्टि किससे बनी? कैसे बनी? सृष्टि का क्या स्वरूप है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए प्राचीन भारतीय ऋषियों ने सत्य के साक्षात्कारविषयक विभिन्न उद्‌गार व्यक्त किए हैं। ये उद्‌गार स्वतःस्फूर्त थे तथापि इनके आधार पर सृष्टिविषयक किसी सर्वमान्य-सिद्धान्त का स्वरूप उभर कर समक्ष नहीं आ सका था। पं० मधुसूदन ओझा जी ने उन सभी धारणाओं को दशवाद संज्ञा के अन्तर्गत समेटते हुए एक सुदृढ दार्शनिक आधार-भित्ति प्रदान की है—ये दशवाद निम्नलिखित हैं—

१–विज्ञानेतिवृत्तवाद	६–आवरणवाद
२–सदसद्वाद	७–अम्भोवाद
३–रजोवाद	८–अमृतमृत्युवाद
४–व्योमवाद	९–अहोरात्रवाद
५–अपरवाद	१०–दैववाद

पूर्वोक्त दशवादों में से एक भी वाद ऐसा नहीं है, जिसका सहसा खण्डन किया जा सके। सभी में युक्ति हैं, तर्क हैं, प्रमाण हैं। किसे सत्य माना जाय और किसे कल्पित कहा जाय? इसका निर्णय करने

में हम अपने आपको सर्वथा असमर्थ पाते हैं, परन्तु हम जानते हैं कि सत्य वस्तु सदा एक ही होती है, सत्य सिद्धान्त एक ही हो सकता है। इधर सृष्टिमूल के सम्बन्ध में जब हमारे सामने प्राचीनों ने कोई एक निश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया, तब अनेक विरुद्धवादों (मतों) की उपस्थिति के कारण 'संशय' का प्रवेश हो जाता है, अतएव इन्हीं दसों वादों के कारण ही आगे जाकर ग्यारहवें (११ वें) 'संशयवाद' का जन्म हुआ। अन्ततोगत्वा वेद महर्षियों द्वारा संशयवाद के निराकरणपूर्वक एकेश्वरमूलक 'ब्रह्मवाद' की स्थापना हुई-जो कि विद्वत्-समाज में बारहवाँ (१२ वाँ) 'सिद्धान्तवाद' कहलाया।

वैदिक-साहित्य को यदि हम समझना चाहें तो उसके लिए वैज्ञानिकदृष्टि से अर्थ को समझना बहुत आवश्यक है, परन्तु दुर्भाग्य से इस वैज्ञानिकदृष्टि की अर्थपरम्परा का वैदिक-जगत् में लोप ही हो गया है। वर्तमान में इस अर्थपरम्परा को पुनः जीवित करने का श्रेय यदि किसी को जाता है तो वे हैं, प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद विद्यावाचस्पति पं० मधुसूदन ओझा जी को। जिन्होंने सहस्र-वर्षों से विलुप्त-प्राय वैदिक विज्ञान-दृष्टि को पुनः जीवित ही नहीं किया अपि तु, इसके तात्त्विक एवं विज्ञान पक्ष को उजागर करते हुए लगभग २८८ ग्रन्थों का संस्कृत भाषा में विशाल साहित्य-सृजन भी किया है।

इस विशाल वैदिक-साहित्य को उन्होंने कई विभागों में विभक्त किया है। इनमें से एक विभाग 'ब्रह्मविज्ञान-विभाग' नाम से है, जिसमें सात महाग्रन्थों के अन्तर्गत ४० ग्रन्थ हैं। इन सात महाग्रन्थों में से 'उक्थवैराजिकम्' नामक महाग्रन्थ के अन्तर्गत पूर्वोक्त 'दशवादों' का पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए प्रत्येक पर स्वतन्त्र-स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। उन्हीं में से एक 'संशयवाद' भी है, जिसका कि नाम श्री ओझा जी ने 'संशयतदुच्छेदवाद' रखा है। यह ग्रन्थ सन् १९२७ ई० में प्रकाशित हुआ था एवं इसका सम्पादन पं० आद्यादत्त जी ठाकुर ने किया था।

पूज्य ओझा जी विरचित 'संशयतदुच्छेदवाद' नामक यह ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त है। इनमें से प्रथम काण्ड 'विज्ञानोपक्रमाधिकार' नामक है-इसमें ६ पर्व हैं। द्वितीय काण्ड 'संशयाधिकार' नामक मध्यम काण्ड है जिसमें दो पर्व हैं एवं तीसरा काण्ड 'संशयोच्छेदाधिकार' नामक उत्तम काण्ड है जिसमें भी दो पर्व हैं। इस प्रकार से तीन काण्डों में विभक्त इस ग्रन्थ के कुल १० पर्व हैं। इनमें से प्रथम विज्ञानोपक्रमाधिकार प्रथम काण्ड में १-मूल, २-कृष्ण, ३-पूर्ण, ४-प्रत्यय, ५-पुरुष, ६-यज्ञ-ये ६ उपनिषदें हैं, जिन्हें कि पर्व भी कहा गया है। इसी प्रकार संशयाधिकार नामक द्वितीय काण्ड जिसे कि मध्यम काण्ड भी कहा है में १-संशय, २-मिथ्या-ये दो उपनिषदें (पर्व) हैं एवं संशयोच्छेदाधिकार नामक तृतीय काण्ड-जिसे कि, उत्तम काण्ड भी कहा गया है, में १-विशिष्ट, २-ईश्वर-ये दो उपनिषदें (पर्व) हैं-जैसा कि 'परिचयात्मक विषय सूची' पृष्ठ संख्या (ग) पर देखने से आपको स्पष्ट हो जाएगा।

संशयतदुच्छेदवाद में सृष्टि के विषय में जितने मत-भेद हैं-उनका निरूपण करके निराकरण किया गया है। परमेश्वर, ईश्वर, जीव, आत्मा, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, उपासना, मोक्ष आदि अनेक दुरूह विषयों का निरूपण करते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से उत्तर दिया गया है। यह ग्रन्थ यथार्थ में ब्रह्म-विज्ञान के सम्बन्ध में उत्पन्न संशयों का उच्छेद करने वाला ग्रन्थ है।

पूज्य ओझा जी के प्रधान शिष्य वेदवाचस्पति पं० मोतीलाल शास्त्री जी ने श्री गुरुचरणों की कृपा से श्री गुरुप्रदत्त ज्ञान को आत्मसात् करते हुए स्वयं ८० सहस्रपृष्ठात्मक विशाल वेद-विज्ञान साहित्य का जो सृजन किया है–उसी क्रम में अपने गुरुवर श्री ओझा जी द्वारा विरचित 'संशयतदुच्छेदवाद' नामक इस ग्रन्थ का भी स्व० शास्त्री जी ने भाष्य किया है। इसमें प्रथम 'विज्ञानोपक्रमाधिकार' नामक प्रथम काण्ड का ६०९ पृष्ठो में, द्वितीय 'संशयाधिकार' नामक मध्यम काण्ड का १११ पृष्ठों में एवं तृतीय 'संशयोच्छेदाधिकार नामक उत्तम काण्ड का ६६६ पृष्ठों में हिन्दीविज्ञानभाष्य सम्पन्न हुआ है। हस्त-लिखित पृष्ठों की यह सम्भूय संख्या लगभग १३८६ पृष्ठों की है।

प्रस्तुत 'विज्ञानोपक्रमाधिकार' नामक इस ग्रन्थ का मुद्रण वास्तव में बहुत ही जटिल कार्य्य था। चूंकि हिन्दीविज्ञानभाष्य का आधार श्री ओझा जी कृत 'संशयतदुच्छेदवाद' नामक ग्रन्थ था और ओझा जी कृत इस मूलग्रन्थ का विषय जितना दुरूह है उतना ही जटिल इसका विषयविभाग भी है। यह प्रथम काण्ड ६ पर्वों का है और इन में से प्रत्येक पर्व में अनेक सूत्र हैं, फिर इनमें भी विषयानुसार सैंकड़ों श्लोक हैं, साथ ही मूलग्रन्थ में कहीं-कहीं श्लोकों की क्रम संख्या भी गड़बड़ा गई थी, उन्हें भी क्रम-बद्ध करना पड़ा है। मूल ग्रन्थ के इन पर्वों-सूत्रों एवं श्लोकों के साथ स्व० शास्त्री जी के हिन्दीविज्ञानभाष्य का सामञ्जस्य बैठाना भी बहुत परिश्रम-साध्य था।

पाठकों की सुविधा के लिए इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम श्री ओझा जी के मूलग्रन्थ का विषयानुसार संस्कृतपाठ दिया गया है, उसके बाद स्व० शास्त्री जी का हिन्दीविज्ञानभाष्य दिया गया है। साथ ही श्री ओझा जी कृत मूलसंस्कृतपाठ को हिन्दीविज्ञानभाष्य में पुनः क्रम से समाहित किया गया है। जहाँ आवश्यक समझा गया है, वहाँ पाद-टिप्पणियाँ भी दे दी गई हैं।

पूज्य पितामह स्व० श्री शास्त्री जी के इस भाष्य-ग्रन्थ को पूज्यपाद स्व० श्री ओझा जी के मूल-संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर सुव्यवस्थित एवं परिपूर्णस्वरूप प्रदान करने का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है, फिर भी न्यूनता अथवा त्रुटि के लिए भी अवकाश रह सकता है, अतएव इस ग्रन्थ के शेष अन्य दो काण्डों को और भी अधिक सुसम्पन्न एवं निर्दोष बनाने के लिए सुधीजनों के सुझाव सादर आमन्त्रित किये जाते हैं। आशा है कि, विद्वज्जन तथा सुरुचिशील पाठक इस ग्रन्थ से लाभान्वित होंगे।

विनीत

प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा

मानवाश्रम, जयपुर

काण्डत्रयात्मक संशयतदुच्छेदवाद

की

परिचयात्मक विषय-सूची

"मूलं कृष्णः पूर्णः प्रत्यय-पुरुषौ च यज्ञ इत्यादौ ।
संशय-मिथ्या-मध्ये, विशिष्ट ईश्वर इमावन्ते" ॥१॥

"एता दशोपनिषदः संशयतद्भङ्गवाद इत्युक्तः ।
विज्ञानोपक्रमणे संशय उच्छिद्यते तत्र" ॥२॥

——❀——

संशयतदुच्छेदवाद-हिन्दीविज्ञानभाष्य

विज्ञानोपक्रमाधिकार षट्पर्वा प्रथमकाण्ड

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

❀ इस १९वें सूत्र का हिन्दीविज्ञानभाष्य उपलब्ध नहीं हुआ है।

।। संशयतदुच्छेदवाद-हिन्दीविज्ञानभाष्य ।।

विज्ञानोपक्रमाधिकार नाम षट्पर्वात्मक

प्रथम-काण्ड (विषय-सूची)

अथ

संशयतदुच्छेदवाद-हिन्दीविज्ञानभाष्य

विज्ञानोपक्रमाधिकार नाम षट्पर्वात्मक

प्रथम काण्ड

अथ

विज्ञानोपक्रमाधिकारो नाम षट्पर्वा प्रथमः काण्डः

तत्रादौ

मूलोपनिषत्

प्रथमं पर्व

१

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ ब्रह्मविज्ञानशास्त्रे संशय-तदुच्छेदवादः

तत्र

विज्ञानोपक्रमाधिकारो नाम षट्पर्वा प्रथमः काण्डः ।

तत्रादौ मूलोपनिषत् ॥

आभु–अभ्वमिति जगतो द्वे मूले ।

१–यदस्ति किञ्चित् तदिदं प्रतीमोऽविचालि शश्वत्स्थमनाद्यनन्तम् ।
प्रतिक्षणान्यान्य–विकार–सृष्टि–प्रवाहवत् तद् द्विविरुद्धभावम् ॥१॥
विरुद्धभावद्वयसंनिवेशात् संभाव्यते विश्वमिदं द्विमूलम् ।
आभ्वभ्वसंज्ञे स्त इमे च मूले द्रष्ट्राभु दृश्यं तु मतं तदभ्वम् ॥२॥
यद् द्रष्टृ तज्ज्ञानमिति प्रसिद्धं ज्ञाने प्रतीतो विषयस्तु कर्म्म ।
ज्ञानं प्रकाशोऽस्त्यविचालिभावस्तत्रान्यदन्यद् भवदस्ति कर्म्म ॥३॥
दिग्देशकालैरमितं तु यत् तज्ज्ञानं हि तद् द्रष्टृ तदाभु विद्यात् ।
दिग्देशकालैः प्रमितं त्वसद्वत् तत्कर्म्म तद् दृश्यमिदं तदभ्वम् ॥४॥

आनन्दः–चेतना–सत्तेत्याभुरूपाणि ॥१॥

कर्म्म–रूपं–नामेत्यभ्वरूपाणि ॥२॥

२–आनन्द आदावथ चेतनान्या सत्ता तृतीयेति तदाभुरूपम् ।
यत्कर्म्म यद्रूपमथास्य नामेत्येतत्त्रयं त्वभ्वमिति ब्रुवन्ति ॥५॥
आभ्वेव तु ब्रह्म न चेदमभ्वं ब्रह्मेति केचित् प्रलपन्ति तन्न ।
प्रत्यक्षमभ्वं जगतः स्वरूपं ब्रह्मैव तन्नाम यदस्ति किञ्चित् ॥६॥

आनन्द–निरुक्तिः ।

३–(१) यात्यन्यदेशं त्वजहत् स्वदेशं विजायते किन्तु न हीयते तत् ।
यदक्षितं स्रष्टृ यदेति सुस्थं तस्मात् तदानन्दपदं वदामः ॥७॥
(२) आत्मायमानन्द इहास्ति देहे दूरस्थितं वस्तु विगाहते सः ।
तत्रैष पश्येच्च न चैष पश्येन्मनो बहिः प्रैति न हीयतेऽन्तः ॥८॥

चेतना–निरुक्तिः ।

(३) आनन्द एव प्रथमं स्वरूपं तच्चीयते यत् परितस्तदेति ।
स्वस्मिन् स्थितस्यास्ति गतिर्विदूरे सा चेतना तच्चयनं हि तस्य ॥९॥

४–(४) विजायते रूपमिदं यदस्माद् बहिर्गतादात्मन एव नाना ।
विज्ञायतेऽर्थः स इतीत्थमाहू रूपं हि विज्ञानमिदं द्वितीयम् ॥१०॥

सत्ता–निरुक्तिः ।

५–विज्ञानमेतद् भवति द्विखण्डं यद् द्रष्टृ तस्मिंश्च विभाति दृश्यम् ।
यद् द्रष्टृ विज्ञानमदोऽथ तस्मिन् दृश्यं तु सत्तां प्रवदामि नाम्ना ॥११॥

अभ्वत्रय–निरुक्तिः ।

६–द्विधा विभक्तं च तदत्र दृश्यं दिग्देशकालातिगतं च किञ्चित् ।
दिग्देशकालाश्रयमन्यदन्यत् तत्राविकारं सविकारमन्यत् ॥१२॥

सत्तेयमत्रैकरसं यदीक्षे यत्त्वीक्ष्यते भिन्नरसं तदभ्वम् ।
यत्कर्म यन्नाम यदस्य रूपं तदभ्वमाभुन्युपपत्तिमेति ॥१३॥

अभ्वत्रयाभुत्रयाभ्यामैकभाव्यम् ।

७–यदाभु तद् द्रष्टृ यदभ्वमेतद् दृश्यं तदेतत् सदसत् सदैव ।
यद्भाति तद्भास्ति यदस्ति तद्भात्येकोऽयमानन्द इदं जगत्तत् ॥१४॥

मतविभागः ।

१–इदं पुरा दर्शनमेकमासीन्मतत्रयं तत्र बभूव काले ।
अभ्वादनित्यात् पृथगाभु नित्यं तच्चाहमस्मीति परे न्यषीदन् ॥१५॥

२–नित्यं तदाभ्वस्ति च नित्यमभ्वं तत्राभु तद् ज्ञानरसं तथाहुः ।
अभ्वं तु तत् कर्म बलं च केचित् प्राहुर्न चान्येन विनाऽन्यदस्ति ॥१६॥

३–सर्वं तदभ्वं सकलं ह्यनित्यं न चाभु किञ्चित् पृथगस्ति नित्यम् ।
सत्ता च विज्ञानमिदं ह्यनित्यं नानन्द आत्मास्त्यहमस्म्यनित्यम् ॥१७॥

इति न्यषीदंस्तु परे तदेषां मिथो विवादात् त्रिमतं प्रवृत्तम् ।
ततः परे संशयवादमाहुः परे तदुच्छेदवचांसि चाहुः ॥१८॥

॥ इति मूलोपनिषत् (प्रथमं पर्व) ॥

"यद्गण्डमण्डलगलन्मधुवारिबिन्दुपानालसातिनिभृता ललितालिमाला।
सद्गुञ्जितेन विनिहन्ति नवेन्द्रनीलाशङ्कां स वो गणपतिः शिवमातनोतु" ।।

अथ ब्रह्मविज्ञानशास्त्रे 'संशयतदुच्छेदवाद:' प्रारभ्यते—

तत्र विज्ञानोपक्रमाधिकारो नाम षट्पर्वा प्रथमः काण्डः—

तत्रादौ "मूलोपनिषत्"

आभु-अभ्वमिति जगतो द्वे मूले।

जगत् के आभु और अभ्व ये दो मूल हैं।

[हिन्दीविज्ञानभाष्य] ईश्वर है या नहीं?–यह जगत् मिथ्या है अथवा सत्य-स्वरूप? जगत् दुःखमय है अथवा सुखमय है–इत्यादि विषयों पर सृष्टि के प्रारम्भ से विवाद चला आ रहा है। कोई कहता है–यह सारा प्रपञ्च सर्वथा मिथ्या है–सारा जगत् शून्यं-शून्यम् है–स्वलक्षणं-स्वलक्षणम् है–क्षणिकं-क्षणिकम् है। कोई कहते हैं–हाँ वास्तव में जगत् ऐसा ही है, परन्तु इस क्षणिक परिवर्त्तनीया क्रिया का कोई नित्य अपरिवर्त्तनीय आलम्बन अवश्य ही है। कई कहते हैं कि जगत् भी है–जीव भी है–ईश्वर भी है–तीनों पदार्थ सच्चे हैं। कई कहते हैं–सत्य एक हो सकता है तीन नहीं। इसलिए सच्चा केवल ब्रह्म है। बाकी का सारा प्रपञ्च रज्जुसर्पवत्-शुक्तिरजतवत् मिथ्या है। जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति अख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति किंवा आत्मख्याति से हो जाती है। तद्वत् ब्रह्म में जगत् की मिथ्या भ्रान्ति है। वास्तव में ब्रह्म सत्य है, जगन्मिथ्या है। बस, इस प्रकार से–दार्शनिकों में परस्पर विवाद चला आ रहा है। यह तो विवाद है–नवीन युग का। इसी प्रकार से वैदिककाल में भी इसमें दस (१०) मत मुख्यरूप से प्रचलित थे। कोई कहता था–जगत् की उत्पत्ति का कारण विज्ञात नहीं है, कोई कहता था–सदसत् से उत्पत्ति होती है। कोई कहता था–रज ही सृष्टि का मूल कारण है। कोई कहता था–आकाश से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। कोई अपरवाद ही मानता था, कोई आवरणवाद ही

की स्थापना करता था। कोई पानी से ही सृष्टि मानता था, कोई कहता था—अमृत और मृत्यु से ही सृष्टि होती है। कोई दिनरात से ही सृष्टि मानता था—कोई दैववाद की ही स्थापना करता था। इस प्रकार से दस (१०) मत प्रचलित थे। सब अपनी-अपनी खिचड़ी अलग-अलग पकाते थे। इन दसों मतों का जो कि बहुत प्राचीन हैं, ऋग्वेद संहिता में उल्लेख मिलता है। साध्यजाति में उत्पन्न भगवान् ब्रह्मा ने दसों का खण्डन करके सिद्धान्तवाद की स्थापना की। उन्होंने कहा—सब मत झूठे हैं एवं सब सच्चे हैं। अतः सब सच्चे हैं, ब्रह्म को न मानना गलत है। इन सबका आधार एक ब्रह्म मान लिया जाता है तो सारे मत सच्चे हैं एवं ब्रह्म नहीं माना जाता है तो सारे मत मिथ्या हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् प्रजापति परमेष्ठी कहते हैं—

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्"॥

"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास"—इति॥[1]

उसी ब्रह्मतत्त्व की स्थापना का रहस्य—श्री गुरुप्रणीत-सुविस्तृत **सिद्धान्तवाद** में वर्णित है। उसका अन्तिम सिद्धान्त है कि जगत् के—दसवाद प्रपञ्च के—आभु और अभ्व—ये दो ही मूल हैं।

संसार में जो 'अस्ति' करके व्यवहृत करने लायक है—जो कुछ 'है' शब्दवाच्य है, उस अस्तिप्रपञ्च को हम दो भावों से आक्रान्त देखते हैं। प्रत्येक पदार्थ की ओर यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो वह हमें प्रतिक्षण बदलता दिखाई पड़ता है। प्रतिक्षण में होने वाले इस परिवर्त्तन के कारण ही हरवख्त वस्तु-स्वरूप बदलता रहता है। जो वस्तु कल थी, वह आज नहीं। जो आज है, वह कल नहीं। प्रतिक्षण में होने वाले इस परिवर्त्तन का यद्यपि सामान्यबुद्धिवाले मनुष्यों को प्रत्यक्ष नहीं होता—वे उस प्रतिक्षणीय परिवर्त्तन को समझने में असमर्थ हैं। परन्तु जो वैज्ञानिक मनुष्य हैं, उन्हें इस बात को अवश्य ही मान लेना पड़ता है कि संसार के यच्चयावत् पदार्थ वास्तव में प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। अस्थि, मांस, मज्जा, असृक्—इत्यादि की समष्टि को ही शरीर कहते हैं। ये अस्थिमांसादि प्रतिक्षण शीर्ण होते रहते हैं—बदलते रहते हैं इसीलिए तो इनकी समष्टि का नाम **शरीर** है। वही मनुष्य जो उत्पन्न होते समय एक हाथ का था, बाल्यावस्था में २ हाथ का हो गया। वही आज ३½ हाथ का हट्टा-कट्टा लम्बा युवा बना हुआ है एवं थोड़े समय के बाद इसके सारे बाल सफेद होने लगते हैं। अन्ततोगत्वा इसकी सारी इन्द्रिएँ शिथिल हो जाती हैं—मस्तक इधर-उधर हिलने लगता है। प्रश्न होता है—"यह अवस्थापरिवर्त्तन कैसे हो जाता है?"—इसका सीधा सा उत्तर है—अस्थिमांसादि के परिवर्त्तन से। अस्थिमांसादि-शिरा धमनी आदि में वायु संचार करता है, रुधिरादि प्रतिक्षण परिवर्त्तित होते रहते हैं। बस, इस प्रतिक्षण

१ ऋग्वेद मं० १०।१२६।१-२।

में होने वाले परिवर्त्तन के कारण ही-अवस्था परिवर्त्तन होता है। यह परिवर्त्तन प्रतिक्षण में होने वाली क्रिया के कारण ही मानना पड़ता है। आज यह बालक है-कल जवान हो जाएगा। अब आपसे हमारा प्रश्न है कि एक हाथ का बालक-३½ हाथ का लम्बा किस क्षण में बन गया ? उतने लम्बे बनने के लिए क्या कोई क्षण नियत है ? इसी क्षण में-यह बालक एक दम ३½ हाथ का बन जाता है-क्या यह बात मानने के लिए कोई तय्यार है ? हर्गिज नहीं। आपको इसके लिए क्षणिकवाद का ही आश्रय लेना पड़ेगा। प्रतिक्षण में होने वाली क्रिया के कारण ही-यह शरीर परिवर्त्तित होता रहता है-वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर यही बात ठीक मालूम होती है। एवमेव समुद्र के पानी पर ध्यान दीजिए—

पानी से झाग बनता है-झाग से उषा (खार) बनती है। उषा से सिकता बनती है-सिकता से शर्करा बनती है। शर्करा से पत्थर बनता है-पत्थर से लोहा बनता है। लोहे से सोना बनता है। इस प्रकार से ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध के कारण वही पानी आठ व्याहृतियों में परिणत हो जाता है। पानी से ही पूर्वोक्त पदार्थ बनते हैं। पानी में जब आग्नेय वायु (गर्म हवा) घुस पड़ता है तो पानी में बबूला उठ जाता है। यदि हवा का वेग कमजोर होता है तो स्वभाव ही से इधर-उधर लुढकने वाला पानी के गोल बुद्बुद् का ऊपर का स्तर तो इधर-उधर लुढक जाता है एवं वायु फक से निकल जाता है, परन्तु वायु का आक्रमण बार-बार होता रहता है तो थोड़ी देर में पानी और वायु दोनों नष्ट हो जाते हैं एवं इन दोनों की रासायनिक प्रक्रिया से एक नई तीसरी वस्तु उत्पन्न हो जाती है-जिसका कि नाम 'फेन' होता है। इस पर जब फिर आक्रमण होता है तो यही फेन उषा बन जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर के आक्रमण से सारे पदार्थ बन जाते हैं। आग्नेय वायु अग्नि है-पानी सोम है। बस, अग्नि-सोम के मेल से ही-सर्दी-गर्मी के मेल से ही संसार के यच्चयावत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसीलिए तो **अग्नीषोमात्मकं जगत्**[1]-यह कहा जाता है। इस प्रपञ्च से हमे केवल यही बतलाना है कि पानी के फेनस्वरूप में परिणत होने के लिए क्या कोई क्षण नियत है ? एवं फेन के उषा-स्वरूप में परिणत होने के लिए क्या कोई क्षण नियत है ? विज्ञानक्लास में ऐसा बेहूदा प्रश्न हो ही नहीं सकता। संचरक्रम में पानी हरवक्त झाग बना करता है-झाग हरवक्त उषा बना करता है। इस प्रकार प्रतिक्षण में धाराप्रवाहरूपेण यह परिवर्त्तन क्रिया होती रहती है।

एक काष्ठ के कपाट पर दृष्टि डालिए। आज जो कपाट हथोड़े से भी नहीं टूटता, वही दो सौ वर्ष बाद-जहाँ से उसके हिस्से को पकड़ा जाता है, उतना ही हिस्सा हाथ में आ जाता है। बतलाइए ! इस परिवर्त्तन के लिए कोई ख़ास क्षण नियत है ? या अनवरत होने वाले परिवर्त्तन के कारण इस कपाट की यह अवस्था हो गई है ? "प्रतिक्षणीय परिवर्त्तन ही के कारण यह अवस्था हुई है"-आपको नतमस्तक होकर यही बात माननी पड़ेगी।

परन्तु साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि इस परिवर्त्तनक्रिया का विश्राम भी कभी नहीं होता है। परिवर्त्तनक्रिया के कारण वह किवाड़ मिट्टी बन जाता है। मिट्टी पत्थर बन जाती है, पत्थर

१ रामपूर्व० उप० ४।६।

लोहा बन जाता है। लोहा सोना बन जाता है। यहाँ तक तो संचरक्रम है-अर्थात् सृष्टिक्रम है। यहाँ से विपरीत गति हो जाती है। प्रतिसंचर क्रिया होने लगती है। ग्रन्थियाँ टूटने लगती हैं। सोने की गाँठे खुलती हैं तो वह लोहा बन जाता है। लोहा पत्थर बन जाता है। पत्थर मिट्टी बन जाता है। मिट्टी पानी बन जाती है, पानी अग्नि बन जाता है। अग्नि वायु बन जाता है, वायु आकाश बन जाता है। अन्त में यह वाक् (आकाश) उस अपने कारणब्रह्म में लीन हो जाता है। गरज यह है कि क्रिया का व्यापार बन्द नहीं रहता। बस, इसी क्रिया के कारण प्रतिक्षण पदार्थों में परिवर्त्तन होता रहता है। हरवक्त पदार्थ स्वरूपान्तरित होते रहते हैं। बस, घड़ा है, कपड़ा है, सूर्य्य है, चन्द्रमा है-इत्यादि इत्यादि का जो एक 'अस्ति' प्रपञ्च है, विश्व में जो 'है' कहलाने लायक है, उसमें हम इस प्रतिक्षण में होने वाले धाराप्रवाहस्वरूप परिवर्त्तन को देखा करते हैं। यदि संसार के पदार्थों पर हम दृष्टि डालते हैं-'है' प्रपञ्च पर सूक्ष्म नजर डालते हैं, तो उसमें हमें यह परिवर्त्तन प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि जो वस्तु कल जैसी थी, उसमें आज तारतम्य है-फ़र्क है। जिस समय दूध में जाँवण दिया जाता है, उस समय उस दूध का स्वाद और ही कुछ रहता है। जाँवण के पहले दूध का स्वाद और ही कुछ था एवं निकलते हुए दूध का स्वाद कुछ और ही था एवं जाँवण देने के थोड़े काल के बाद उसका स्वाद कुछ और ही है। कहाँ तक कहें-बात सूक्ष्म है-सामान्य मनुष्य इसका अनुभव नहीं कर सकते। परन्तु हम दावे के साथ कह सकते हैं कि उस दूध का स्वाद प्रतिक्षण में होने वाली क्रिया के कारण सर्वथा भिन्न-भिन्न है।

तात्पर्य्य कहने का यही है कि जरा सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर मालूम हो जाता है कि संसार के यच्चयावत् पदार्थ प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। परन्तु साथ ही में एक-दूसरे भाव के भी दर्शन हमें होते हैं। इस परिवर्त्तन के साथ-साथ ही अपरिवर्त्तन के भी दर्शन होते हैं। यदि व्यक्ति की तरफ दृष्टि डालते हैं तो परिवर्त्तन का प्रत्यक्ष होता है-यदि समष्टि पर दृष्टि डालते हैं तो अपरिवर्त्तन का अनुभव होता है। संसार के पदार्थ प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, परन्तु 'संसार' वही है। २ लाख वर्ष पहले भी संसार था-अब भी वैसे ही मौजूद है-बाद में भी ऐसा ही रहेगा। महाभारत के समय में मनुष्य, पशु, पक्षि, कीट, पतङ्ग, वृक्ष, वनस्पति इत्यादि इत्यादि जितने भी पदार्थ थे, उसी प्रतिक्षणीया क्रिया की महिमा के कारण उनमें से आज एक भी अवशिष्ट नहीं है। इस समय सारी सृष्टि नई है, परन्तु संसार तो वही है।

गङ्गा की धारा पर नजर डालिए। १० वर्ष पहले गङ्गा की धारा में जिस स्थान पर गङ्गा का जो पानी मौजूद था-आज कहीं उसका पता भी नहीं है। इतने दूर जाने की क्या आवश्यकता है? एक क्षण के पहले गङ्गा में जो पानी था, द्वितीय क्षण में न मालूम कहाँ गया? यदि लहर पर दृष्टि डालते हैं तो वह प्रतिक्षण में बदलती रहती है, परन्तु 'गङ्गा' इस समष्टि पर दृष्टि डालते हैं तो वह सदा एकरूपा दिखलाई पड़ती है। १०० वर्ष पहले जिसने वहाँ स्नान किया था, वह भी गङ्गास्नान का दावा कर रहा है। अभी जो स्नान करके आया है, वह भी गङ्गास्नान का दावा कर रहा है। आगे भी जो स्नान करने जाएगा, वह भी इस बात का अवश्य ही दावा करेगा। पानी सर्वथा तीनों मनुष्यों के स्नान

में भिन्न है, परन्तु भिन्न में एक–'गङ्गा' यह अभिन्नभाव बैठा हुआ है। व्यापकदृष्टि से देखने पर जिसे कि–'यूनिवर्सल नॉलेज' कहते हैं–सारा प्रपञ्च अविचाली-शान्त-अनादि और अनन्तस्वरूप दिखलाई पड़ता है। यदि आप घटपटादि व्यक्तियों पर दृष्टि डालेंगे तो आपको ये घटपटादि-दिग्देशकाल से अवच्छिन्न अर्थात् ससीम मिलेंगे एवं विचाली मिलेंगे–आद्यन्तभावयुक्त मिलेंगे–सक्रिय मिलेंगे। परन्तु जब आप इस व्यक्तित्वबुद्धि को हटाकर व्यापकदृष्टि से संसार को देखेंगे तो आप इस संसार का ओरछोर कहीं भी–कभी भी नहीं बतला सकते। कहाँ तक संसार की सीमा है? इसका उत्तर बुद्धि के बाहर की चीज है। एवमेव उस व्यापकसंसार को आप विचाली भी नहीं कह सकते। घड़े को आप उठाकर ले जा सकते हैं, परन्तु संसार को उठाकर विचलित करने का आप में सामर्थ्य नहीं है। घड़ा कल नहीं था–आज है–कल नहीं रहेगा। परन्तु संसार कल भी था–आज भी है–कल भी रहेगा। गङ्गाजी का आज बहने वाला पानी कल नहीं था–परन्तु आज है और कल नहीं रहेगा। परन्तु गङ्गाजी कल भी थीं–आज भी हैं–कल भी रहेंगी। व्यापकत्वभाव सदा रहता है–शाश्वत् है–सदा रहने वाला है। दोनों भावों का दृष्टिकोणभेद से इस अस्तिप्रपञ्च में हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं।

एक ही प्राणी बालक था–जवान हो गया–थोड़े दिन बाद बुड्ढा हो गया। सारी अवस्थाएँ भिन्न हैं, परन्तु उस भिन्नता में भी 'स एवायं'–यह प्रत्यभिज्ञा बनी ही रहती है। पर्वत प्रतिक्षण बदलता रहता है, परन्तु 'यह वही पर्वत है जिसे हमने १० वर्ष पहले देखा था"–यह नित्यत्व प्रतीति होती रहती है। दोनों भावों के जो कि परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं, हम साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। एक व्यापक है तो दूसरा परिच्छिन्न है। एक नित्य है तो दूसरा अनित्य है। एक सर्वथा अविचाली है तो दूसरा सर्वथा विचाली है। एक आद्यन्तरहित है तो दूसरा साद्यन्त है। इस प्रकार परस्पर सर्वथा विरुद्ध इन दोनों भावों का इस **'अस्ति'** प्रपञ्चयुक्त जगत् में हमें साक्षात् प्रत्यक्ष हो रहा है। परस्परात्यन्तविरुद्ध इन दो भावों को संसार में देखते हैं।

"संसार में जो कुछ 'है' कहकर व्यवहृत करने लायक है, उस जगत्-प्रपञ्च को सर्वथा विरुद्ध दो भावों में परिणत देखते हैं। एक भाव तो ऐसा है जो सर्वथा अविचाली है–शश्वत्स्थ है, अनाद्यनन्त है एवं दूसरा ठीक इसके विरुद्ध प्रतिक्षण में अन्य अन्य विकारों में–अवस्थाओं में परिणत होने वाला है, सृष्टि प्रवाहवत् धारारूपेण परिवर्तित होने वाला है। जैसे संचरक्रम में अर्थात् सृष्टिक्रम में प्रवाहवत् अनन्तानन्त वस्तुएँ उत्पन्न होती रहती हैं एवं बिगड़ती रहती हैं–ठीक इसी प्रकार प्रतिपदार्थ में क्रियाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, उन क्रियाओं से वह पदार्थ नवीन-नवीन अवस्थाओं में परिणत होता रहता है। इस प्रकार हरवक्त परिवर्त्तन का चक्र चलता रहता है। बस, परस्पर सर्वथा विरुद्ध हम इन दो भावों को–अस्तिप्रपञ्च में देखते हैं। जो कुछ 'है' कहने लायक है–वह 'है'–प्रपञ्च 'अस्तिभाव' सदा इन दो विरुद्धभावों से आक्रान्त रहता है"। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"यदस्ति किञ्चित् तदिदं प्रतीमोऽविचालि शश्वत्स्थमनाद्यनन्तम्।
प्रतिक्षणान्यान्यविकारसृष्टिप्रवाहवत् तद् द्विविरुद्धभावम्" ॥१॥

इस अस्तिप्रपञ्च में–दो विरुद्धभावों का संनिवेश–हम प्रत्यक्ष में देखते हैं। बस, इन दो विरुद्ध-भावों के संनिवेश के कारण ही हमें सम्भावना करनी पड़ती है कि, यह विश्व अवश्य ही द्विमूल है। अवश्य ही इस जगत् के दो मूल हैं। **'कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते'**–यह सिद्धान्त है। जैसा स्वभाव कारण में होता है, वैसा ही कार्य्य में होता है। जबकि कार्य्यस्वरूप विश्व हम दो भावों में परिणत देखते हैं तो हम अवश्य ही यह कह सकते हैं कि–इनके कारण अवश्य ही दो हैं। कार्य्य बिल्कुल भिन्न-भिन्न है। एक नित्यस्वरूप है–एक अनित्य है। भला, ऐसे विजातीय कार्य्यों का कारण एक कैसे हो सकता है? दोनों के कारण सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। विरुद्धभावस्वरूप कार्य्यद्वययुक्त–यह विश्व अवश्य ही **'द्विमूल'** है।

बस, विश्व के–ये दो मूल–'आभु' और 'अभ्व'–इन दो शब्दों से व्यवहृत होते हैं। वैदिक सायन्स में–नित्यभाव का मूल 'आभु' नाम से पुकारा जाता है एवं अनित्यभाव का कारण 'अभ्व' नाम से पुकारा जाता है। इसी 'आभु' को–अमृत, ब्रह्म, सत्य–इत्यादि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है। यह नित्यतत्त्व का मूल–चूँकि आद्यन्तरहित है, अतएव इसे 'आभु' कहा जाता है। चारों ओर सर्वत्र वही वस्तु रह सकती है–जो कि व्यापक हो–आद्यन्तरहित हो। चूँकि वह नित्यतत्त्व वास्तव में ऐसा ही है–सर्वत्र आसमन्तात् व्यापक है–अतएव **आसमन्तात् भवति**–इस व्युत्पत्ति से उसे **आभु** कहा जाता है। यह तत्त्व चूँकि अमरणधर्म्मा है–इसका कभी विनाश नहीं होता, अतएव हम इसे 'अमृत' कहने के लिए तय्यार हैं एवं यही तत्त्व उपबृंहित होकर के संसारस्वरूप में परिणत हो रहा है, अतएव इसे 'ब्रह्म' कहते हैं। चूँकि यह तत्त्व–भूत, भविष्यद्, वर्त्तमान त्रिकालाबाधित है, अतएव इसे 'सत्य' कहा जाता है।

दूसरा मूल है–'अभ्व'। यही अभ्व–मृत्यु, कर्म्म, बल–इत्यादि नामों से भी प्रसिद्ध है। क्रिया सर्वथा नष्ट होने वाली है। उत्पत्ति-स्थिति-लय–ये तीन ही भाव क्रिया में रहते हैं। जिस क्षण में–'स्थिति' बतलाई जाती है, वास्तव में–वह स्थिति भी नष्ट होती हुई ही रहती है। इस प्रकार क्रिया का प्रत्यक्ष सर्वथा नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह एक क्षण भी पूरी तौर से ठहरे तब तो उसका प्रत्यक्ष हो–जब वह सदा नष्ट ही होती रहती है तो फिर उसका प्रत्यक्ष कैसा? परन्तु होता है। संसार में घट, पट, मठ–इत्यादि इत्यादि जो स्वरूप दिखलाई पड़ते हैं–वे सब क्रिया ही क्रिया की समष्टि ही तो हैं। तो इस प्रकार यह क्रिया वास्तव में कोई चीज न होकर भी दिखलाई दे रही है, अतएव इसके मूल को **अभूत्वा भाति–न भवन् भाति**–इस व्युत्पत्ति से **अभ्व** कहा जाता है। चूँकि यह मूल मरणधर्म्मा है–अनित्य है–इसलिए इसे 'मृत्यु' कहा जाता है। जैसे–आभु को 'रस' कहा जाता है–तद्वत्–इस 'अभ्व' को 'बल' कहा जाता है। प्रकृत में हमें केवल बतलाना है कि सर्वथा विरुद्ध भावद्वय के मूल दो हैं एवं वे दोनों 'आभु' और 'अभ्व' नाम से पुकारे जाते हैं। वादी प्रश्न करता है कि हमने नहीं समझा कि–'आभु' किस चिड़िया का नाम है? एवं 'अभ्व' किस चिड़िया का नाम है? खाली वागाडम्बर से आप हमारा सन्तोष नहीं कर सकते। आभु और अभ्व–हम तब तक नहीं मान सकते–जब तक कि आप इन दोनों तत्त्वों का प्रत्यक्ष न करवा दें–बस, हम उन्हीं दोनों का प्रत्यक्ष करवाते हैं—

जो आभु है–उसे ही 'द्रष्टा' कहते हैं एवं दृश्य को 'अभ्व' कहते हैं। देखने वाला और देखने की वस्तु, इन दो बातों का ज्ञान आपामर-आविद्वत्कुल सबको समानरूपेण है। "मैं इस घड़े को देख रहा हूँ"–"मैं इस हाथी को देख रहा हूँ"–"मैं इस पर्वत को देख रहा हूँ"–इस प्रकार का व्यवहार एक छोटा सा बच्चा भी करता है एवं बडे भारी पण्डित जी भी करते हैं। मैं इसे देख रहा हूँ–इसे देखने वाला और देखने की चीज–दोनों स्फुट प्रतीत हो रही हैं। मैं 'द्रष्टा' हूँ अर्थात् देखने वाला हूँ एवं घटपटादिपदार्थ दृश्य हैं अर्थात् दीखने वाले हैं। बस, सर्वजनसिद्ध जो द्रष्टा और दृश्य हैं–जिनका कि सबको अनुभव है–वे ही 'आभु' और 'अभ्व' नाम से प्रसिद्ध हैं। देखने वाला नित्य है–दीखने वाला अनित्य है। देखने वाला एक है, दीखने वाले नाना हैं, देखने वाला अपरिच्छिन्न है–असीम है, दीखने वाला परिच्छिन्न है–ससीम है। द्रष्टा एक है–दृश्य अनेक हैं। एक द्रष्टा सब दृश्यों पर अभिव्याप्त रहता है। बस, इसीलिए हम द्रष्टा को 'आभु' कहने के लिए तय्यार हैं एवं दृश्य को 'अभ्व' कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"विरुद्धभावद्वयसंनिवेशात् संभाव्यते विश्वमिदं द्विमूलम्।
आभ्वभ्वसंज्ञे स्त इमे च मूले द्रष्ट्राभु दृश्यं तु मतं तदभ्वम्" ॥२॥

वादी प्रश्न करता है कि हाँ कुछ तो समझे, परन्तु पूरी तरह से नहीं समझे–द्रष्टा और दृश्य–असल में हैं क्या चीज ? बस, यही बतलाया जाता है। जिसको हमने 'द्रष्टा'–'द्रष्टा' कहा है–वही द्रष्टा संसार में **ज्ञान** नाम से प्रसिद्ध है। '**घटमहं जानामि**'–मैं घड़े को जानता हूँ–इसमें जो जानने वाला 'मैं' है–वह ज्ञानस्वरूप ही है। द्रष्टा और ज्ञान पर्य्याय हैं एवं इस ज्ञान में प्रतीत होने वाले जो घटपटादि-स्वरूप विषय हैं–दृश्य हैं–उन्हें ही कर्म्म कहते हैं। द्रष्टा ज्ञान है–दृश्य कर्म्म है। बस, ज्ञानकर्म्म के अर्थात् क्रिया के अलावा और है ही क्या। ज्ञान वास्तव में आभु है। ज्ञान एक प्रकार का प्रकाश है–प्रकाश भी ऐसा वैसा नहीं–अविचालीभाव है–नित्य है–एकस्वरूप है। ज्योति संसार में कुल दो ही प्रकार की होती हैं–भूतज्योति एवं ज्ञानज्योति। इन दोनों में से–जो भूतज्योति है–वे ४ प्रकार की हैं–१–सूर्य्यज्योति, २–चन्द्रज्योति, ३–अग्निज्योति, ४–वाग्ज्योति। ज्ञानज्योति एक ही प्रकार की है जिसे कि आत्मज्योति भी कहा करते हैं। इन पाँच ही ज्योतियों से मनुष्य की जिन्दगी रहती है, अतएव–'**पञ्चज्योतिरयं पुरुषः**'–यह कहा जाता है। जनक महाराज के–**किंज्योतिरयं पुरुषः**' ?–प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं–'**पञ्चज्योतिरयं पुरुषः**'–इति।

इन पाँचों ज्योतियों में सबसे उत्तम ज्ञानज्योति है। भूतज्योति अन्धकार से विरोध करती है। जहाँ सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि–तीनों में से किसी का भी प्रकाश रहता है, वहाँ अन्धेरा नहीं रहता है। अन्धेरे का प्रत्यक्ष भूतज्योति से नहीं होता। वह केवल प्रकाश में आए हुए पदार्थों को दिखला देती है। परन्तु ज्ञानज्योति जैसे भूतज्योति का अर्थात् सूर्य्यादि का स्वरूप दिखलाती है, तद्वत् अन्धेरे का भी प्रत्यक्ष ज्ञान-ज्योति से ही हो जाता है। सूर्य्य के जिस प्रकाश के ऊपर आपको गर्व है–उस प्रकाश को भी प्रकाशित करने वाली हमारी ज्ञानज्योति है। यदि ज्ञानज्योति न हो तो–सूर्य्य चन्द्रमा आदि कोई वस्तु ही न रहें। ज्ञानज्योति के आधार पर भूतज्योति की सत्ता है। इसीलिए वेद भगवान् कहते है—

"न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" ॥[1]

कहने का तात्पर्य्य यही है कि ज्ञान प्रकाशस्वरूप है-प्रकाशों का भी प्रकाश है-सर्वोत्तम प्रकाश है। इस प्रकाशस्वरूप ज्ञान की तरफ हम दृष्टि डालते हैं तो यह हमें सर्वथा स्थिर दीखता है। इस ज्ञान के पटल पर नाना फोटू आते रहते हैं। कभी ज्ञान में घड़ा आता है, कभी हाथी आता है-कभी घोड़ा आता है-कभी मकान आता है-कभी पर्वत आता है। हरवक्त नये-नये पदार्थ इस पर आते रहते हैं। यह अपने स्वरूप से सर्वथा अविचाली रहता है। विचाली-ज्ञान में आने वाले विषय हैं, न कि ज्ञान। ज्ञान तो काच के समान है। तमोली की दुकान में एक बड़ा भारी काच रक्खा हुआ है, बाजार में होकर आने जाने वाले अनन्तानन्त पदार्थों के प्रतिबिम्ब (फोटू) काच में पड़ते रहते हैं। कभी हाथी की तस्वीर काच में उतरती है-कभी घोड़े की उतरती है। कभी मनुष्य की उतरती है। तस्वीर जिनकी उतरती है-वे विचाली हैं-हरवक्त वे ही बदलते हैं, परन्तु काच सर्वथा अविचाली है-स्थिर है-प्रकाशस्वरूप है। उस स्थिर काच में अनन्तानन्त प्रतिबिम्ब पड़ते रहते हैं, बस, ठीक यही हालत हमारे ज्ञान में और ज्ञान में प्रतिभासिक होने वाले पदार्थों के विषय में समझनी चाहिए। हमारा ज्ञान प्रकाशस्वरूप है-अविचाली है, उसमें कभी घोड़ा आता है, कभी हाथी आता है-कभी पुस्तक आती है। नाना प्रकार के पदार्थ ज्ञानपटल पर प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। जो आने वाले प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थ हैं, वे अनन्त हैं-सर्वथा विचाली हैं, परन्तु ज्ञान एक है एवं अविचाली है। उसमें अन्यान्य प्रकार के कर्म्म आया करते हैं, ज्ञान में आने वाले जो विषय हैं, वे अनन्त हैं, ससीम हैं, अतएव इस दृश्य सीगे को हम 'अभ्व' कहने के लिए तय्यार हैं एवं ज्ञान एक है-प्रकाशी है-आद्यन्तरहित है-नित्य है, अतएव हम इसे-'आभु' कहने के लिए तय्यार हैं। सब का खुलासा यही हुआ कि—

जो द्रष्टा है-वह 'ज्ञान' इस नाम से प्रसिद्ध है एवं ज्ञान में प्रतीत होने वाली विषयसमष्टि 'कर्म्म' इस नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान प्रकाशस्वरूप है, आदर्शवत् अविचाली पदार्थ है। उसमें अन्यान्य-स्वरूपों में परिणत होने वाला पदार्थ-समूह 'कर्म्म' है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"यद् द्रष्टृ तज्ज्ञानमिति प्रसिद्धं ज्ञाने प्रतीतो विषयस्तु कर्म्म ।
ज्ञानं प्रकाशोऽस्त्यविचालिभावस्तत्रान्यदन्यद् भवदस्ति कर्म्म" ॥३॥

ज्ञान कैसे अपरिच्छिन्न है-असीम है एवं कर्म्म कैसे परिच्छिन्न है?-ससीम है-इसका स्पष्टीकरण कर देते हैं—

आप अपने शरीर में किसी ऐसे तत्त्व पर नजर डालिए जो दिग्देशकाल से अपरिच्छिन्न है-असीम है। बस, उसी का नाम 'ज्ञान' है। ज्ञान वास्तव में असीम है। घड़ा जैसे परिच्छिन्न है,

---

१ मुण्डकोप० २।२।१०

एक पर्वत जैसे महद्दृद है, सूर्य्य जैसे ससीम है–वैसे ग्रापका ज्ञान जो कि स्वानुभवैकगम्य है–सर्वथा ग्रपरिच्छिन्न है। ससीम बनाने वाले पूर्वपश्चिमादि-दिक्, भूतभविष्यत्वर्त्तमान-काल एवं देश (स्थान) –ये तीन पदार्थ हैं, घड़ा इधर से पूर्व की ओर रक्खा है–एवं इस समय घड़ा मौजूद है एवं इसने नियत स्थान घेर रखा है, ग्रतएव घड़ा ससीम है। परन्तु यह बात ज्ञान में नहीं है। ग्राप एक तिल को देखिए–तिल ही को क्यों ? सरसों को देखिए। ग्रापका ज्ञान सरसों के ग्राकार में परिणत हो जाएगा। जब ग्राप छोटे से छोटे पदार्थ पर दृष्टि डालेंगे तो ग्रापका ज्ञान तदाकाराकारित हो जाएगा। यदि ग्राप घड़े पर दृष्टि डालेंगे तो ग्रापका ज्ञान घटाकाराकारित हो जाएगा एवं यदि पर्वत पर नजर डालेंगे तो आप ग्रपने ज्ञान को पर्वताकाराकारित पाएँगे एवं यदि महासमुद्र पर नजर डालेंगे तो ग्रापको ग्रपना ज्ञान उतनी ही दूर में व्याप्त मिलेगा। कहाँ तक कहें ?–सारा विश्व तक ग्रापके ज्ञान में समा जाता है। जब ग्राप अखिल विश्व का ध्यान करेंगे तो अपने ज्ञान को विश्वाकाराकारित पाएँगे। ज्ञान की कोई सीमा है ही नहीं। वह ज्ञान बडे से बडा बन सकता है–छोटे से छोटा बन सकता है। वह ग्रणोरणीयान् है–तो महतोमहीयान् भी है। ज्ञान की ग्रसीमता सर्वथा प्रचुर है। वह दिग्देशकाल से अमित है। ज्ञान में कल घड़ा नहीं था–ग्राज है–कल घड़ा फूट जाएगा तो कल ज्ञान में घड़ा भी न रहेगा। परन्तु ज्ञान कल भी था–आज भी है–कल भी रहेगा। ज्ञान त्रिकालाबाधित है, ग्रतएव दिग्देशकाल से ग्रमित है। बस, ग्रपने शरीर में जो ग्रापका दिग्देशकाल से ग्रमित स्वानुभवैकगम्य एक प्रकाशस्वरूप ग्रविचाली पदार्थ दिखलाई पड़ता है–वही ज्ञान है। उसी को 'द्रष्टा' कहते हैं। चूँकि वह ज्ञान ग्रर्थात् द्रष्टा ग्रविचाली है–ग्रसीम है–त्रिकालाबाधित है–एक है–नित्य है–ग्रासमन्तात् व्याप्त है, ग्रतएव हम अवश्य ग्रवश्य ही इसे 'ग्राभु' कहने के लिए तय्यार हैं। ग्राप पूछते हैं–ग्राभु कैसा है ? हम कहते हैं–ग्रापके शरीर में जो ग्रसीमस्वरूप द्रष्टा है–उसे ही आप 'ग्राभु' समझिये।

यह तो हुई 'ग्राभु' की कथा। अब लीजिए–'ग्रभ्व' के विषय में। जैसे ग्राप ग्रपने शरीर में–एक दिग्देशकाल से ग्रमिततत्त्व (ज्ञान) का प्रत्यक्ष ग्रनुभव करते हैं–तद्वत्–दिग्देशकाल से मिततत्त्व का भी ज्ञान ग्रापको होता है। बस, उसी को 'ग्रभ्व' कहते हैं। उस ज्ञान में–घट, पट, मठ, पर्वत, नदी, तालाब, सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह–इत्यादि इत्यादि पदार्थों का ही तो भान होता है। ये सारे पदार्थ एकान्ततः विचाली हैं। घड़ा सर्वथा विनश्यत् पदार्थ है–कल था ग्राज नहीं। ये सारे पदार्थ दिग्देशकाल से ससीम हैं एवं ग्रनन्त हैं। ये सारे पदार्थ क्रियास्वरूप हैं, इसीलिए तो जैनदर्शन सत्ता का 'उत्पादव्यय ध्रौव्यं सत्'–यह लक्षण करता है। घटपटादि सारे पदार्थ क्रियात्मक हैं। क्रिया की समष्टि का नाम ही घट है। 'ग्रर्थक्रियाकारित्वं सत्'–यही घटपटादि का लक्षण है। क्रिया नष्ट होने वाली है, ग्रतएव असत् है। बस, इसी को हम कर्म्म कहने के लिए तय्यार हैं। यही दृश्य है। चूँकि ग्रसत् होते हुए भी इसकी सद्वत् प्रतीति होती है, ग्रतएव हम इस दृश्य को 'ग्रभ्व' कहने लिए तय्यार हैं।

कहने का तात्पर्य्य यही है कि ज्ञान ही ग्राभु है–ज्ञेय ही अभ्व है। ग्राभु ही रस कहलाता है–ग्रभ्व ही बल कहलाता है। ग्राभु अमृत है–ग्रभ्व मृत्यु है। ग्राभु ज्ञान है–ग्रभ्व कर्म्म है। ग्राभु ब्रह्म है–अभ्व माया है। बस, ये ही दोनों विश्व के मूल हैं। ग्राभु ग्रौर ग्रभ्व ग्रर्थात् ग्रमृत ग्रौर मृत्यु–दोनों

अविनाभूत हैं। अमृत मृत्यु में ओतप्रोत है, मृत्यु अमृत में ओतप्रोत है। दोनों का आधाराधेयभाव मृद्घटवत् अभिन्नसत्ताक है। चूंकि सत्ताभेदेन द्वैतव्यवहार होता है एवं आभु और अभ्व-चीज दो होने पर भी सत्ता एक है, अतएव अद्वैतवाद में कोई आपत्ति नहीं आती है। इसी अमृतमृत्यु का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति"॥[1]

सम्पूर्ण कथन का सारांश यही है कि विरुद्धभावद्वययुक्त इस विश्व के आभु और अभ्व-ये ही दो मूल हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"दिग्देशकालैरमितं तु यत् तज्ज्ञानं हि तद् द्रष्टृ तदाभु विद्यात्।
दिग्देशकालैः प्रमितं त्वसद्वत् तत्कर्म्म तद् दृश्यमिदं तदभ्वम्" ॥४॥

मृत्यु का नाम बल है-अमृत का नाम रस है। रस सर्वथा शान्त है-पूर्ण है-नित्य है-अभय है-ज्योतिस्वरूप है-अखण्ड है-अद्वय है। बल क्षणिक है-शून्य है-स्वलक्षण है। रस दिग्देशकाल से अनन्त है अर्थात् व्यापक है एवं संख्या से एक है। मृत्यु अर्थात् बल संख्या में अनन्त है एवं दिग्देशकाल से साद्यन्त है अर्थात् परिच्छिन्न है। रस निष्क्रिय है-बल सक्रिय है। इन्हीं रसबल के समन्वय से-दोनों के मेल से सृष्टि होती है। ब्रह्म यद्यपि असंग है तथापि बलसमन्वयात् उसे सृष्टस्वरूप में अवश्य ही परिणत होना पड़ता है। इसीलिए निष्क्रिय ब्रह्म से कैसे सृष्टि होती है?-इसका समाधान करते हुए भगवान् बादरायण कहते हैं-**तत्तु समन्वयात्**। समन्वय से सृष्टि होती है। सृष्टि असल में बल से ही ताल्लुक रखती है, परन्तु बल और रस अविनाभूत हैं, अतएव उसे भी सृष्टिस्वरूप में अवश्य ही मानना पड़ता है। यहाँ पर एक बडा भारी प्रश्न होता है कि बल सर्वथा सक्रिय है एवं वे सारे बल अर्थात् मृत्युसमष्टि रस में सर्वथा सुप्त है-ऐसी अवस्था में सृष्टि के लिए पहले-पहल बलों को किसने प्रेरित किया? बल तो बल को प्रेरित कर नहीं सकता है क्योंकि बल स्वयं जड़ है। जड़-जड़ में क्योंकर प्रेरणा कर सकता है? एवं रस इस प्रेरणादि के प्रपञ्च से सर्वथा पृथक् है क्योंकि वह तो शान्त है-निष्क्रिय है-वह क्योंकर प्रेरणा कर सकता है? बस, ऐसी अवस्था में-कैसे सुप्तबल सृष्टि के लिए सन्नद्ध हो गया?-यह प्रश्न और भी जोर पकड़ लेता है। इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है-मायाबल। सर्वबलविशिष्ट अर्थात् सुप्तबलविशिष्ट रस में-आभु में-सर्वप्रथम मायाबल का आविर्भाव होता है। इसी मायाबल के कारण उस सुप्तबल को सृष्टि में परिणत होने का मौका मिलता है। माया भी बल है-ऐसी हालत में इसे भी किसने पैदा किया? क्योंकर मायाबल उत्पन्न हो गया? इसमें निम्नलिखित श्रुति ही शरण है—

१ शत० ब्रा० १०।५।२।४।

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्या विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" ॥[1]

श्रुति कहती है–माया भी जब बल है तो वह भी क्योंकर उत्पन्न हुआ ? इस बात को सृष्टि-निर्म्माता वह परमाकाशस्वरूप परब्रह्म भी जानता है या नहीं–इसमें सन्देह है। इसीलिए माया का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः ।
काचिद् विलक्षणा माया वस्तु प्रकृतिरिष्यते" ॥

बस, सर्वबलविशिष्ट रस में सर्वप्रथम इसी विलक्षण मायाबल का उदय होता है। बल यद्यपि अनन्त हैं तथापि इनके कोश कुल १६ ही हैं। वे १६ओं कोश–माया, जाया, धारा, आप, यज्ञ, अभ्व, मोह, सूत्र–इत्यादि नामों से व्यवहृत होते हैं। बस, सारे बल इन्हीं १६ बलकोशों में भरे रहते हैं। इन १६ (सोलहों) में से पहला बल मायाबल है। सर्वप्रथम मायाबल का ही प्रादुर्भाव होता है। इसके पेट में शेष बल नाचा करते हैं। जो सर्वबलविशिष्ट असीम रस था–वही मायाबल के कारण मायी बना दिया जाता है–ससीम बना दिया जाता है। बस, इस ससीम रस का नाम ही 'अव्यय' रक्खा जाता है। मायाबल के कारण वह आभुब्रह्म–सृष्ट, प्रविष्ट और प्रविविक्त–इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। जो ब्रह्म अर्थात् जो रस सृष्ट में (घट-पटादि पदार्थों के स्वरूप में) परिणत हो जाता है–वह सृष्ट कहलाता है एवं जो उनमें–**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**[2]–के अनुसार उनमें घुस जाता है, वह अंश प्रविष्टब्रह्म कहलाता है। इस प्रविष्टब्रह्म का नाम ही अव्यय है एवं जो ब्रह्म बाकी बचा हुआ है–वही प्रविविक्तब्रह्म कहलाता है। यह प्रविविक्त चूंकि वाङ्मनसागोचर है, अतएव शास्त्रानधिकृत है। तटस्थलक्षणमात्र से जानने की चीज है। इसी प्रविविक्तब्रह्म को 'परात्पर' कहा जाता है। प्रविविक्त अशास्त्रीय है, अतः उसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। कहेंगे केवल सृष्ट और प्रविष्टब्रह्म के विषय में। सृष्टब्रह्म को हम 'शरीर' कहेंगे एवं प्रविष्ट ब्रह्म को आत्मा कहेंगे। ये आत्मा और शरीर अर्थात् सृष्ट और प्रविष्ट–दोनों परस्पर एकान्ततः अविनाभूत हैं। हम शरीर-आत्मा इन दोनों को ही दूसरे शब्दों में आभु और अभ्व भी कह सकते हैं। आत्मा अर्थात् अव्यय आभु है–शुद्ध रस है एवं शरीर अर्थात् यह सारा विश्व 'अभ्व' है। वह अव्ययब्रह्म अर्थात् आत्मा उन्हीं बलों के कारण सत्ता-चेतना और आनन्द–इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। एक ही आभु बलतारतम्य से सत्ता-चेतना अर्थात्

१ ऋग्वेद मं० १०।१२९।६-७। २ तैत्तिरीयोप० २।६।

विज्ञान और ग्रानन्द–इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है एवमेव यह एक ही मृत्यु सृष्टिस्वरूप में ग्राकर 'नाम-रूप-कर्म्म' ग्रपने ये तीन स्वरूप बना लेता है। मृत्यु मृत्युत्वेन एक है–संख्या में ग्रनन्त है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"तदाहुः-एको मृत्युर्बहवा३ इति-एकश्च बहवश्चेति ह ब्रूयात्। ग्रथ यदिह प्रजासु बहुधा व्याविष्टः-तेनो बहवः" ॥[1]

ग्रपि च—

"सर्वेषु वा एषु लोकेषु मृत्यवोऽन्वायत्ताः। एको वाऽग्रमुष्मिन्-लोके मृत्युः। ग्रशनया मृत्युरेव" ॥[2]

तात्पर्य्य यही है कि–ग्रानन्द-चेतना-सत्ता–ये तीन ग्राभु के स्वरूप हैं एवं नाम-रूप-कर्म्म–ये तीन ही ग्रभ्व के स्वरूप हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ग्रोझाजी कहते हैं—

ग्रानन्दः–चेतना–सत्तेत्याभुरूपाणि ॥१॥

कर्म्म–रूपं–नामेत्यभ्वरूपाणि ॥२॥[3]

एक ही आभु–ग्रानन्द-चेतना और सत्तास्वरूप में कैसे परिणत हो जाता है? अब यह बतलाते हैं।

रस को हमने ज्ञान बतलाया था–जिसे कि द्रष्टा भी कहा गया है। यह रस ग्रर्थात् ग्राभु ज्ञान-स्वरूप है। यह ज्ञान ही ग्राहक-ग्रहीता ग्रौर ग्राह्य (सत्ता)–इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। जितने भी प्रकाशी पदार्थ हैं–वे सब ग्रपनी तीन संस्था रखते हैं। ज्योतिष्मान् पदार्थ त्रिवृत् होते हैं। ग्राहक-ग्रहीता-ग्राह्य–इन तीन की संस्था में परिणत होकर ही ज्योतिष्मान् पदार्थ अपनी सत्ता कायम करते हैं। समझने के लिए सूर्य्य पर लक्ष्य कीजिए–सूर्य्य एक प्रकाशी पदार्थ है। ज्योतिःपिण्ड है। इसमें तीनों भाव मौजूद हैं। सूर्य्य का जो बिम्ब है, वह ग्रहीता है एवं सूर्य्य में से चारों ग्रोर निकलने वाली जो रश्मियाँ हैं–वे ही ग्राहक हैं एवं प्रतिफलित घटपटादिस्वरूप में परिणत सूर्य्य-रश्मियाँ ही ग्राह्य हैं–ग्रर्थात् सत्ता हैं। संसार में जितने भी पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, उसमें प्रधानकारण 'रूप' ही है। वस्तु के काले-पीले-नीले रूप का ही प्रत्यक्ष हुग्रा करता है। रूप सूर्य्य की किरणें हैं। सूर्य्य ही प्रतिफलित होकर जब हमारी ग्राँख पर ग्राता है तो तद्गतस्थ काले-पीले-नीले रूप का प्रत्यक्ष होता है। इसी रूप को देखकर–**घटमहं जानामि, पटमहं जानामि**–इत्यादि व्यवहार होता है। तात्पर्य्य कहने का यही है

१ शत० ब्रा० १०।५।२।१६। २ तै० ब्रा० ३।६।१५।१-२।

३ द्रष्टव्य-ओझा जी कृत संशयतदुच्छेदवाद।

कि प्रतिफलित सूर्य्य की रश्मियाँ हीं घट-पट बनी हुई हैं। कदाचित् कहो कि यदि घटपटादि सूर्य्यकिरणों से विजातीय पदार्थ नहीं हैं तो फिर यह बोझा किसका प्रतीत होता है ? हमारा इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि वैज्ञानिकपरिभाषा में बोझा कोई चीज नहीं है। पृथिवी के आकर्षणमात्र को 'बोझा' कहते हैं। बोझा घट की वस्तु नहीं है। अस्तु, इस विषय का अधिक विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है। कहना सिर्फ यही है कि ज्योतिष्मान् पदार्थ ग्राहक और ग्राह्य-दो स्वरूपों में परिणत होकर ही रहता है। इसी अभिप्राय से शब्दब्रह्मवेत्ता भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

"ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते [2]पृथगवस्थिते" ॥[1]

दीपक पर दृष्टि डालिए। जो दीपकपिण्ड है-वही ग्रहीता है। दीपकपिण्ड (लो) में से चारों ओर वितत उसकी किरणें ग्राहक हैं एवं उस प्रकाश में प्रतिभासित होने वाले घटपटादि ग्राह्य हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि ज्योतिष्मान्-ज्योतिष्मान् जितने भी पदार्थ हैं, वे सारे के सारे त्रिवृत्सम्पत्तियुक्त रहते हैं। चूंकि ज्ञान भी अर्थात् आभु भी एक ज्योतिष्मान् पदार्थ है-ज्योतिष्मान् ही नहीं-ज्योतिष्मानों को भी प्रकाशित करने वाला है, अतएव उसमें भी अवश्य ही तीन संस्थाएँ होनी चाहिएँ। बस, इस ज्ञानघनज्योतिःपिण्ड की जो तीन संस्थाएँ हैं, उन्हीं का नाम आनन्द-चेतना एवं सत्ता है। यही आभु का स्वरूप है। एक ही ज्ञानघन आभु अवस्थाविशेष के कारण तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। इस महाविश्व के केन्द्र में जो इसका सञ्चालन करने वाला है-वह रहता है-उसी का नाम प्रविष्टब्रह्म है। यह प्रविष्टब्रह्म इस महाब्रह्माण्ड के मध्य में रहता है। इसीलिए-**बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः**[3]-यह कहा जाता है। यही प्रविष्टब्रह्म उस सारे विश्व की अपेक्षा से प्रजापति भी कहलाता है। इसी केन्द्र प्रजापति की पकड़ में सारा विश्व स्थिर है। केन्द्र ही को पाश्चात्य वैज्ञानिक 'सेन्टर' कहा करते हैं। प्रत्येक वस्तु की सत्ता उसके सेन्टर के आधार पर रहती है। केन्द्र को विचलित करने से वह सारा पदार्थ विचलित हो जाता है। इसी सेन्टरविद्या को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" ॥[4]

बस, यह केन्द्रप्रजापति ही जो कि सूर्य्य बिम्बवत् विश्व के केन्द्र में स्थित है एवं जो कि ज्ञानघन है, उसे ही हम 'आनन्द' कहने के लिए तय्यार हैं। बस, उस ज्ञानस्वरूप आभु का पहला यही स्वरूप है, जिसे कि केन्द्र में रहकर उत्तरोत्तर आगे बढने के कारण 'आनन्द' कहने के लिए तय्यार हैं।

---

१ वाक्यपदीप १।५५।
२ 'पृथगिवेति' पाठान्तर।
३ ऋग्वेद मं० ८।१०१।१४।
४ यजुर्वेद ३१।१९।

तदनन्तर उस केन्द्रीयज्ञानघन से चारों ओर दीपरश्मिवत्–किंवा सूर्य्यरश्मिवत् वितत होने वाली जो रश्मियाँ हैं–उनकी समष्टि ही चेतना कहलाती है। उसी में से निकलने वाली–विषयग्रहण करने वाली ज्ञानरश्मियाँ चितिरूप में (चिनाव रूप में) परिणत होने के कारण चेतना कहलाती है एवं वही ज्ञान मन-प्राण-वाक् की समष्टि में जब परिणत हो जाता है तो सत्ता कहलाने लगता है। इसी सत्ता को अन्तर्जगत् कहते हैं। इस सत्ता में ६ पदार्थ हैं–मन, प्राण, वाक्, नाम, रूप, कर्म्म। जिस आभु आत्मा का हमने जिक्र किया है, उसको वैज्ञानिकपरिभाषा में हम **षोडशीपुरुष** कहेंगे। आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्–एतत्पञ्चकलोपेत अव्यय, ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम–एतत्पञ्चकलोपेत अक्षर, प्राण-आपः-वाक्-अन्नाद-अन्न–एतत्पञ्चकलोपेत क्षर एवं १६ वाँ परात्पर–बस, इन १६ की समष्टि का नाम ही आत्मा है। इसी का नाम सच्चिदानन्द है। आत्मा ही को सच्चिदानन्द कहते हैं। इनमें से जो अव्यय है, उसका नाम मन है। अक्षर प्राण से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु है एवं क्षर वाक् से सम्बन्ध रखने वाली है। इसी मन-प्राण-वाक्–तीनों की समष्टि को सत्ता कहते हैं। सत्ता का अर्थ है–'अस्ति (है)–इस अस्तिव्यवहार में कारण–यह मन-प्राण-वाक् ही है। वाक् उस तत्त्व का नाम है–जो धामच्छद हो अर्थात् जगह रोके। जो शरीर के अन्दर एक चेष्टा हुआ करती है–जिसे आन्तर व्यापार कहते हैं उसी का नाम प्राण है एवं मन इच्छा का सीगा है। सर्वप्रथम चूंकि मन हीं ज्ञान का उत्पादक है, अतएव ज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा होते ही प्राण, व्यापार होता है जिसे कि यत्न कहते हैं। तदनन्तर वाग्-व्यापार होता है। अर्थात्–जिस समय हम घट बनाना चाहते हैं तो सर्वप्रथम इच्छा होती है कि–घट बने। बस, इच्छा के होते ही तदनुकूल प्राण-व्यापार होने लगता है। प्राण-व्यापार के अनन्तर उसी के अनुसार मिट्टी (वाक्) पर हस्तादि का व्यापार होता है। हस्तादि भी वाक् ही है। बस, इस मन-प्राणमिश्रित हस्तस्वरूप वाक् का जब मिट्टीवाक् पर बलप्रयोग होता है तो मन-प्राण-वाक्–इन तीनों के मिश्रण से–नामरूपकर्म्मात्मक घट का उदय हो जाता है। बस, तभी **घटोऽस्ति**–यह अस्तिव्यवहार हो जाता है। विना मन-प्राण-वाक् के 'अस्ति' व्यवहार सर्वथा अनुपपन्न है। यदि इच्छा नहीं तो प्राणव्यापार नहीं। प्राणव्यापार नहीं तो वाग्व्यापार नहीं। वाग्व्यापार नहीं तो नामरूप-कर्म्मात्मक घट की सृष्टि नहीं। 'अस्ति' की सृष्टि–मन-प्राण-वाक् पर ही अवलम्बित है, अतएव हम सत्ता को मनः-प्राणवाङ्मय बतलाने के लिए तय्यार हैं। मन अव्यय का हिस्सा है। प्राण अक्षर का हिस्सा है एवं वाक् क्षर का हिस्सा है एवं मन-प्राण-वाक् को ही कहते हैं–आत्मा। मन-प्राण-वाक् कहो–चाहे अव्ययाक्षरक्षर कहो–एक ही बात है। यही मन-वाण-वाक् **घटोऽस्ति** सत्ता के जनक हैं। अर्थात् आत्मा ही सत्तारूप से परिणत होती है। केन्द्रस्थ ज्ञानघन से निकलने वाली ज्ञानरश्मियाँ ही 'सत्ता' की जननी हैं। वे ही ज्ञानरश्मियाँ प्रतिफलित होकर सत्ता का निर्म्माण करती हैं, अतएव हम कह सकते हैं कि यह सत्ता उसी 'आभु' का तीसरा रूप है। यह 'आभु' अर्थात् यह आत्मा जिसे कि 'षोडशीपुरुष' कहेंगे–समष्टि-व्यष्टिरूपेण दो प्रकार का हो जाता है। समष्टि को ईश्वर कहते हैं एवं उसी की किरण के प्रतिबिम्बभूत जो प्राणी हैं–वे जीव कहलाते हैं। जीव भी वही है–सच्चिदानन्द-स्वरूप ही है। इसलिए इन तीनों स्वरूपों को ईश्वरवत् जीव में भी उसी प्रकार समझने चाहिएँ। फ़र्क केवल इतना है कि ईश्वर के ज्ञान से बनी हुई जो सत्ता है अर्थात्–मनः-प्राणवाङ्मय जगत् है, उसे

हमारी अपेक्षा से 'बहिर्जगत्' कहते हैं एवं हम अपने सत्तात्मक जगत् को 'अन्तर्जगत्' शब्द से व्यवहृत करते हैं । अन्तर्जगत् क्या है ? बहिर्जगत् क्या है ? इत्यादि विषयों का विशदविवेचन इसी ग्रन्थ के अन्त में किया गया है, अतः प्रकृत में इसके विषय में अधिक कुछ नहीं कहेंगे ।

यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि हम (जीव) ज्ञानस्वरूप हैं । यह ज्ञान जो कि चारों ओर फैल रहा है–जो ज्ञान आँख खोलते ही सारे विश्व के दर्शन करवा देता है–जो ज्ञान अपना बडा भारी मण्डल रखता है–जिसमें कि सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-ग्रह-नदी-पर्वत इत्यादि इत्यादि सारा प्रपञ्च समा रहा है, उसका अवश्य ही कोई न कोई मूल मानना पड़ेगा । बस, इस चारों ओर वितत प्रकाशीज्ञान का जो एक हमारे शरीर के केन्द्र में पुञ्ज है–ज्ञान का कन्दल है, वही 'आनन्द' नाम से प्रख्यात है ।

सूर्य्य के प्रकाशमण्डल का जैसे केन्द्रभूत सूर्य्यबिम्ब माना जाता–तद्वत्–हमारे ज्ञानप्रकाशमण्डल का केन्द्रभूत ज्ञानबिम्ब अवश्य ही मानना पड़ता है । इसी बिम्ब में से तो रश्मिरूप से वह निकलकर सारे जगत् को प्रतिभासित कर रहा है एवं वही ज्ञान जब प्रतिफलित होता है तो मन-प्राण-वाक् स्वरूप सत्ता में परिणत हो जाता है । हम हमारे ज्ञान में जो घट-पटादि देखते हैं–उसी का नाम सत्ता है । यह घटपटादि हमारे ज्ञान से ही बने हुए हैं । बनते हैं–ये घटपटादि हमारे ज्ञान से, परन्तु आलम्बन है इनका ईश्वरीय घटपट । यदि वह न हो तो हमें उनका प्रत्यक्ष ही न हो । परन्तु इतना विश्वास कीजिए–आप जिन पदार्थों को देख रहे हैं–वे आपके ज्ञान से ही बने हुए हैं । ईश्वरीय जगत् सर्वथा परोक्ष है । जैसा कि इस ग्रन्थ के अन्त में बतला दिया जाएगा । इस घटपटात्मकसत्ता में–मन-प्राण-वाक् नाम-रूप-कर्म्म–ये ६ पदार्थ रहते हैं । संसार के यच्चयावत् पदार्थ–जो कि 'है' कहलाने वाले हैं, उनमें अवश्य ही चूँकि ६ पदार्थ रहते हैं, अतएव यच्चयावत् पदार्थ **षाट्कौशिक** कहलाते हैं । हमें कहना यही है कि, मन-प्राण-वाक्–ये तीन तो उसी 'आभु' के अन्तर्गत आ जाते हैं । ये तीनों ही अव्यय-अक्षर-क्षर की अवस्थामात्र हैं, अतएव हम तीनों को 'अमृत' ही कहने के लिए तय्यार हैं । इन्हीं तीनों के आधार पर तो 'नाम-रूप-कर्म्म' की स्थिति होती है । मन से रूप उत्पन्न होता है, प्राण से 'कर्म्म' उत्पन्न होता है एवं 'वाक्' से नाम उत्पन्न होता है । मन-प्राण-वाक्–ये तीन अमृत हैं एवं रूप-कर्म्म-नाम–ये तीनों के तीनों मर्त्यभाग हैं । मन-प्राण-वाक् अर्थात् इच्छा-तप-श्रम–वही रहता है एवं उससे बनने वाले 'नाम-रूप-कर्म्म' प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, अतएव 'नाम-रूप-कर्म्म' को हम 'मर्त्यपदार्थ' कहने के लिए तय्यार हैं । अभी घड़ा है–अभी कपड़ा आ गया–अभी हाथी आ गया । बस, जहाँ रूप बदला, उनका नाम-रूप बदला । घड़े को हम जानते हैं–घड़ा ज्ञान का विषय बनता है, अतएव घट को हम मन कह सकते हैं । यदि घड़े में–मन अर्थात् ज्ञान न होता तो वह कदापि हमारे ज्ञान का विषय न बनता । क्योंकि ज्ञान ज्ञान ही को पकड़ता है । सजातीय पदार्थों में ही परस्पर सम्बन्ध होता है । एवमेव प्राण-प्राण से जा मिलता है, वाक्-वाक् से जा मिलती है । इस प्रकार मन-प्राण-वाक् की घनस्वरूप मन-प्राण-वाक् के साथ तह पर तह जुड़ जाती है तो **घटोऽस्ति**–वह व्यवहार होने लगता है । परन्तु इतना हम फिर कह देते हैं कि इनमें से जो मन-प्राण-वाक् हैं–यह अमृतभाग है एवं नाम-रूप-कर्म्म मर्त्यभाग है । मन-प्राण-वाक् ही का नाम सत्ता है–यही 'आभु' का तीसरा रूप है ।

अब लीजिए–अभ्व अर्थात् बल को। इस सत्ता का अर्थात् घटपटादि का जो नाम है–रूप है एवं कर्म्म है, इन्हीं तीनों को 'अभ्व' नाम से पुकारा करते हैं। चूंकि नाम-रूप-कर्म्म प्रतिक्षण में बदलने वाले हैं, बदलने वाले को कहते हैं–असत्, अतएव इसे हम 'अभ्व' कहने के लिए तय्यार हैं। सबका खुलासा यही हुआ कि—

केन्द्रस्थ ज्ञानघन जो कि सबसे पहले है एवं चेतना का मूल है–वही 'आनन्द' कहलाता है। उसमें से बाहर निकलने वाली ज्ञानरश्मियाँ 'चेतना' शब्द से व्यवहृत होती हैं–यह उस 'आभु' का दूसरा रूप है एवं उसी से निर्म्मित जो मन-प्राणवाङ्मय सत्ता है–वही इस 'आभु' का तीसरा रूप है। सत्ता अनिर्वचनीय पक्ष है। 'है'–यही उसका निर्वचन है। अमृत उस तत्त्व का नाम है जिसका कभी नाश न होता हो। नाम-रूप-कर्म्म बदलते रहते हैं, परन्तु सत्ता का–'अस्तिभाव' का नाश नहीं होता है। घड़ा है, वह फूट गया तो मिट्टी है और यदि दोनों ही नष्ट हुए तो भी दोनों का नहीं 'है' है। अर्थात् जब तक घट था–सत्ता ने घट को पकड़ रक्खा था–जब घट नष्ट हो गया तो घट के अभाव को पकड़ लिया। इसीलिए घड़े के अभाव के लिए 'घड़ा' नहीं है–यह कहा जाता है। नहीं में भी 'है' घुसा हुआ है। अधिक कहना व्यर्थ है। अस्तितत्त्व से कोई भी स्थान खाली नहीं है। यह सर्वथा नित्यतत्त्व है। इसीलिए तो इसे हम 'आभु' का तीसरा रूप बतलाने के लिए तय्यार हैं—

एवं इस सत्ता के आश्रित जो उस वस्तु के–सत्तात्मक वस्तु के नाम-रूप-कर्म्म हैं–इन्हीं तीनों को–'अभ्व' कहते हैं। जो वस्तु अनित्य है–प्रतिक्षण विनश्यदवस्थायुक्त है, वही 'अभ्व' कहलाता है। चूंकि नाम-रूप-कर्म्म ऐसे ही हैं, अतएव इन्हें 'अभ्व' कहा जाता है। इसी अभिप्राय से कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"आनन्द आदावथ चेतनान्या सत्ता तृतीयेति तदाभुरूपम्।
यत्कर्म्म यद्रूपमथास्य नामेत्येतत् त्रयं त्वभ्वमिति ब्रुवन्ति ॥५॥

कितने ही दार्शनिकों का (शंकराचार्यादिकों का) कहना है कि इस आभु और अभ्व में आभू ही ब्रह्म है, अभ्व तो सर्वथा मिथ्या है–असत् है। इस ज्ञानमय ब्रह्म में नामरूपकर्म्मात्मिक जो असत् भी जगत् प्रतिभासित हो रहा है–यह रज्जुसर्पवत् शुक्तिरजतवत् अख्यात्यादि के कारण मिथ्याभ्रान्ति-मात्र हैं। वास्तव में अभ्व कोई चीज नहीं है। अभ्व सर्वथा मिथ्या है–ब्रह्म ही सत्य है। इस प्रकार से–**"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, नेह नानास्ति किञ्चन, यत् किञ्चिद् दृश्यते तत्सर्वं मायिकम्"**–यही वेदान्तियों का घण्टाघोष है। परन्तु हम इसे सिवाय प्रलाप के और कुछ नहीं कह सकते। अभ्व ब्रह्म नहीं है अपि तु, 'आभु' ही ब्रह्म है–यह केवल प्रलापमात्र है। हमने अव्यय की–आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्–ये पाँच कलाएँ बतलाई हैं। इनमें से आनन्द-विज्ञान-मन मुक्तिसाक्षी हैं एवं मन-प्राण-वाक् सृष्टिसाक्षी हैं। आनन्द-विज्ञान-मन आभु हैं, मन-प्राण-वाक् अभ्व हैं। अभ्व तो अव्ययप्रजापति का शरीर ही है। उस अव्ययप्रजापति का आधा शरीर अमृत है–आधा मर्त्य है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्"।[1]

भला, जो प्रजापति का स्वरूप है–उसे मिथ्या कैसे बतलाया जा सकता है? अभ्व और आभु दोनों की समष्टि का नाम ब्रह्म है। **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**[2]–इस श्रुति का तात्पर्य्य केवल भिन्नसत्तावाद को हटाने पर है न कि जगत् को मिथ्या बतलाने पर। यदि जगत् मिथ्या होता–अभ्व तत्त्व भूंठा होता तो श्रुति खुले शब्दों में–**नामरूपे सत्यम्**[3]–न कहती। श्रुति स्पष्ट कहती है कि वही आत्मा जगत् बना हुआ है। ब्रह्म ही संचरक्रम में जगत् बना हुआ है एवं प्रतिसंचरक्रम में वही ब्रह्म बन जाता है। सृष्टि की प्रागवस्था का नाम सत्य है एवं सृष्टयवस्था का नाम विश्व है। मिट्टी से बनने वाला घड़ा क्या भूंठा है?–हर्गिज नहीं। ऐसी हालत में उसी ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है? कहाँ तक कहें? श्रुति कहती है–**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**[4]–इस प्रकार ब्रह्म का लक्षण बतलाकर आगे जाकर कहती है–**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**[5]–इस श्रुति से जगन्मिथ्यात्ववाद एकदम कट जाता है। अपि च–अन्त में सारे जगत् पर लक्ष्य रखती हुई श्रुति कहती है–**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**[6]। यह बात तभी बन सकती है जब कि जगन्मिथ्यात्ववाद को एक कोने में डाल दिया जाए। जिस नामरूपात्मक जगत् को वेदान्तभक्तों ने मिथ्या मान रक्खा है, श्रुति उन्हें चेतावनी देती हुई उनकी मोहनिद्रा को तोड़ती हुई कहती है—

"त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म्म। तदेतत्त्रयं सत्-एकमयमात्मा। आत्मोऽएकः सन्नेतत्त्रयम्। तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नम्। प्राणो वा अमृतम्। नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः"॥[7]

कहाँ तक कहें? जिस अभ्व को–नामरूपात्मक को आप मिथ्या बतला रहे हैं–वह एक तरह से धोखा देना है। जिस अभ्व जगत् का स्वरूप प्रत्यक्ष में दीख रहा है–दीख ही नहीं रहा है, अपि तु, उससे हम काम लेते हैं, भला ऐसा सत्यजगत् कभी मिथ्या नहीं हो सकता है। और तो और जिसे आपने सत्यमान रक्खा है–जिसे आप 'आभु' कहते हैं–उसका ज्ञान भी इसी 'अभ्व' से ही होता है। भला जो जगत् आभु का ज्ञान कराने वाला है–जो सत्य का भी सत्य है–उसे मिथ्या कैसे बतलाया जा सकता है? अस्तु इस विवाद को हम यहाँ उठाना नहीं चाहते। ग्रन्थ के अन्त में इसका निर्णय करेंगे। हमें यहाँ केवल इतना ही कहना है कि जगत्–अर्थात् नामरूपकर्म्मात्मक अभ्व को मिथ्या बतलाना प्रलाप है–श्रुति विरुद्ध है। जिस जगत् को–जिस अभ्व को मिथ्या बतलाया जा रहा है, वही साक्षात् दिखाई दे रहा है। अन्त में यही कहना है कि जगत् में जो कुछ है–बस, वह सब ब्रह्म है।

---

१ शत० ब्रा० १०।१।३।२। २ छान्दोग्योप० ६।४।
३ शत० ब्रा० १४।४।४।३। ४ तैत्ति० उप० २।१।१।
५ नृसिंहउत्तर उप० ७। ६ छान्दोग्योप० ३।१४।२।
७ शत० ब्रा० १४।४।४।१-३।

ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। अभ्व भी है–प्रतिभासित हो रहा है–प्रत्यक्ष सिद्ध है। भला ऐसी अवस्था में अभ्व को ब्रह्मसम्पत्ति से क्योंकर अलग किया जा सकता है? इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"आभ्वेव तु ब्रह्म न चेदमभ्वं ब्रह्मेति केचित् प्रलपन्ति तन्न।
प्रत्यक्षमभ्वं जगतः स्वरूपं ब्रह्मैव तन्नाम यदस्ति किञ्चित्" ॥६॥

आनन्द-चेतना-सत्तानां निरुक्तयः

अथ आनन्दनिरुक्तिः—

हमने बतलाया है कि–आभु के–सत्ता-चेतना-आनन्द–ये तीन पार्ट हैं। एक ही आभु-मायादि-पाप्माओं के कारण आनन्द-चेतना-सत्ता–इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। केन्द्रस्थ ज्ञानकन्दल आनन्द कहलाता है, रश्मिरूप से वितत ज्ञान चेतना शब्द से व्यवहृत होता है एवं मनः-प्राणवाङ्मय जो प्रतिफलित ज्ञान है, वही 'सत्ता' शब्देन व्यवहृत होता है। अब प्रश्न होता है कि इन तीनों के आनन्द, चेतना, सत्ता–ये ही नाम क्यों रक्खें और ही क्यों न रक्खें? बस, इसी का समाधान आगे के प्रकरण से करते हैं। सबसे पहला नम्बर है–आनन्द का–अतएव हम पहले 'आनन्द' शब्द का ही निर्वचन करेंगे–अर्थात् आनन्द शब्द का अर्थ बतलाएँगे।

केन्द्रस्थ जो ज्ञानकन्दल है उसे ही हमने आनन्द कहा है। 'आनन्द' शब्द **टुनदि समृद्धौ**–धातु से बना हुआ है। किसी मनुष्य के पास १०० रुपये हैं। यदि इसके पास १० रुपये और आ जाते हैं और पहले के ज्यों के त्यों बने रहते हैं–बस, इसी को समृद्धि कहते हैं। हमारे घर में १० आदमी भोजन करने वाले हैं। ऐसी अवस्था में यदि हमारे घर में अन्न खानेवालों से अधिक रहता है तो हम समृद्ध कहलाते हैं। परन्तु जितना हम खा सकें, यदि उतना ही प्रतिदिन हमारे पास आता रहता है तो इसे समृद्धि नहीं कहते हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि समृद्धि उसी का नाम है कि पहले की सम्पत्ति नष्ट न हो एवं उसमें और शामिल हो जाए। चूंकि केन्द्रस्थ ज्ञानकन्दल में यही धर्म्म है, अतएव हम उसे 'आनन्द' कहने के लिए तय्यार हैं। यह ज्ञान केन्द्रस्थान को नहीं छोडता है। केन्द्र को पकड़े हुए–केन्द्र में बद्ध–यह ज्ञानरश्मियाँ चारों ओर वितत होती हैं, अतएव **यात्यन्यदेशं त्वजहत् स्वदेशम्**–यह कहा जाता है। यह ज्ञान रश्मिरूप में परिणत हो बडी दूर तक धावा मारता है–परन्तु केन्द्र से नहीं हटता है–केन्द्र को नहीं छोडता है–यही घर में सम्पत्तिकोष बना रहता है एवं साथ ही में इस ज्ञान से नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ज्ञान ही घट-पट-मठ-सूर्य्य-चन्द्र इत्यादि इत्यादि पदार्थों को वियाता है। जैसे लोहे से जंग बनता है, दूध से मलाई बनती है, पानी से झाग उत्पन्न होते हैं, तथैव ज्ञान से अनन्तानन्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनकी कि समष्टि अन्तर्जगत् नाम से व्यवहृत होती है। परन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि लोहे से जंग पैदा होता है, परन्तु एक समय ऐसा आता है कि जिस दिन जंग बनते-बनते सारा लोहा जंग बन जाता है। सारा दूध मलाईस्वरूप में परिणत

हो जाता है । अब यदि लोहे को और दूध को ढूंढना चाहो तो कहीं उसका पता भी नहीं है । बस, ज्ञान से बनने वाले जगत् का और ज्ञान का–ऐसा कार्य्यकारणभाव नहीं है । ज्ञान से चाहे जितने पदार्थ बन जाएँ, तथापि ज्ञान स्वमात्रा से कम नहीं होता । इस प्रकार अक्षित रहता हुआ–अनन्त पदार्थों का निर्म्माण करता हुआ 'स्रष्टा' कहलाता है, एवं यह ज्ञान बडी दूर तक जाता है परन्तु फिर भी सुस्थ है । जिसका केन्द्र विचाली हुआ करता है, वह वस्तु जाती हुई मानी जाती है । परन्तु जिसका केन्द्र स्थिर रहता है–विचाली नहीं होता, वह चलती हुई भी ठहरी ही मानी जाती है । उदाहरणार्थ कुम्हार का चाक । कुम्हार का चाक बडे वेग से चलता है, परन्तु वह अपने केन्द्र को नहीं छोडता । उसका केन्द्र विचाली नहीं है, अतएव चलता हुआ भी वह नहीं चलने के समान ही है । बस, यही दशा इस केन्द्रस्थ ज्ञान की समझनी चाहिए । यह ज्ञान चारों ओर बडी दूर तक जाता है, अतएव यह चलता हुआ भी नहीं चलने के समान है । अपि च–यह ज्ञान अनन्तानन्त पदार्थों को उत्पन्न करके भी स्वस्वरूप से अक्षित रहता है, अतएव हम इसे 'आनन्द' कहने के लिए तय्यार हैं । ज्ञान में–ज्ञान से उत्पन्न होकर नई वस्तुएँ शामिल हो जाती हैं एवं पहले का–वह कारणज्ञान कम होता नहीं । इसी का नाम तो 'समृद्धि' है । समृद्धयर्थक 'टुनदि' से ही तो 'आनन्द' शब्द बनता है । ऐसी अवस्था में हम अवश्य ही केन्द्रस्थ ज्ञानकन्दल को 'आनन्द' कह सकते हैं । इसी अभिप्राय से गुरुवर कहते हैं—

"यात्यन्यदेशं त्वजहत्स्वदेशं विजायते किन्तु न हीयते तत् ।
यदक्षितं स्रष्टृ यदेति सुस्थं तस्मात् तदानन्दपदं बदामः" ।।७।।

यह हुई एक प्रकार से आनन्द शब्द की निरुक्ति–अब दूसरे प्रकार से लीजिए । जिसके पास अनन्त सम्पत्ति होती है–वह मनुष्य समृद्ध कहलाता है । असली समृद्धि वही कहलाती है कि, जिसका अन्त न हो । जिसके पास अटूट सम्पत्ति है–असंख्यात द्रव्य है–वही वास्तविक समृद्धिशाली मनुष्य है । बस, केन्द्रस्थ ज्ञान की कोई सीमा नहीं है–वह अनन्त है, अतएव हम इसे 'आनन्द' कहने के लिए तय्यार हैं ।

आनन्द, विज्ञान, सत्ता–इनमें जो आनन्द है–जिसे कि ज्ञानकन्दल कहा गया है–उसे ही 'आत्मा' कहा जाता है । यह जो आत्मा है–वह मनः-प्राणवाङ्मय है । इसीलिए तो–**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः**[1]–यह कहा जाता है । यह आत्मा वास्तव में आनन्दस्वरूप है । हम उस आनन्द-स्वरूप आत्मा को पहचाने कैसे ? उसके पहचानने की तरकीब बतलाते हैं—

आप अपने शरीर पर लक्ष्य दीजिए । आपको एक चीज ऐसी मालूम होगी जो अपने से दूरस्थित (पुरोऽवस्थित) वस्तु पर आक्रमण करती है–उस पर धावा करती है । तो बस, दूरस्थित वस्तु पर विगाहन करने वाला–उस पर आक्रमण करने वाला इस शरीर में जो तत्त्व है–वही आत्मा कहलाता है एवं इसी को 'आनन्द' कहते हैं ।

---

१ बृहदा० उप० १।५।३ ।

यदि वास्तव में इसका स्वरूप पूछना चाहो तो-मन ही है। आत्मा यद्यपि मन-प्राण-वाक् समष्टि का नाम है, तथापि दूरदेश में गमन मन ही का होता है। तीनों में मन ही प्रधान है, अतः प्रकृत में उसी का नाम ले दिया है। हमारे शरीर में से एक चीज ऐसी निकलती है, जो पुरोऽवस्थित वस्तु पर आक्रमण कर तदाकाराकारित बन उसका ज्ञान करवा देती है। बस, उसी को 'मन' कहते हैं। यह मन अर्थात् आत्मा अतिवेगशील है-ज्योतियों का भी ज्योति है। मनोज्योति से ही सूर्य्य-चन्द्र प्रकाशित होते हैं। बात वास्तव में ठीक है। मन चन्द्रमा से बनता है और उसी में लीन होता है-**मनश्चन्द्रेण लीयते**। चन्द्रमा सोममय है। सोम ही दाह्य पदार्थ है। सूर्य्य वास्तव में काला है। इसमें जो आप प्रकाश देख रहे हैं-वह सोम ही की, जिसे कि हम मन कहेंगे, महिमा है। सोम से जब आग्नेय प्राण का सम्बन्ध होता है तो सोम चमक पड़ता है। उसी का यह प्रकाश दिखलाई पड़ता है। तात्पर्य्य यही है कि यह मन ज्योति का भी ज्योति है एवं बडी दूर तक धावा मारने वाला है। इसी मन का स्वरूप बतलाते हुए वेद भगवान् कहते हैं—

"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।

दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" ॥[1]

बतलाना हमें यही है कि यह मन बाहर के पदार्थों को लेने के लिए धावा करता है। यदि उसे पदार्थ दीख आता है तो वापस लौटकर उसका प्रत्यक्ष कराके फिर वापस चला जाता है। उस समय पुरोऽवस्थित पदार्थ को चाहे वह देखे या न देखे, वह मन बाहर बडी दूर तक जाता ही रहता है, कहीं भी उसका अन्त नहीं होता है। कल्पना कर लीजिए-आपके सामने पुस्तक रक्खी हुई है, अब आपका मन उस पर दौड़ रहा है, पुस्तक को हटा लीजिए, भींत पर दौड़ रहा है, भींत को हटा लीजिए, बाहर के मकानों पर जा रहा है, उन्हें भी हटा लीजिए तो जंगल में चक्कर लगा रहा है। वस्तु को वह मन देखे या न देखे, उसका कभी अन्त नहीं होता। वह अनन्त है। मन यहीं तक जाता है-यह कोई नहीं कह सकता। जो अनन्त है-जिसकी सम्पत्ति का कहीं भी ठिकाना नहीं है, वही 'आनन्द' नाम से व्यवहृत न होगा तो और कौन होगा? तात्पर्य्य यही है कि-आत्मा मनोमय है। इसकी परिधि कोई कायम नहीं कर सकता। यह अनन्त है-असीम है-अपरिच्छिन्न है, अतएव हम इस मनोमय आत्मा को आनन्द कहने के लिए तय्यार हैं, अतएव गुरुवर कहते हैं—

"आत्मायमानन्द इहास्ति देहे दूरस्थितं वस्तु विगाहते सः।

तथैष पश्येच्च न चैष पश्येन् मनो बहिः प्रैति न हीयतेऽन्तः ॥८॥

॥ इत्यानन्दनिरुक्तिः ॥

---

१ यजुर्वेद ३४।१।

अथ चेतना-निरुक्तिः—

आनन्द के अनन्तर नम्बर आता है–चेतना का। आनन्द-चेतना-सत्ता 'आभु' के ये तीन स्वरूप हैं। इन तीनों में केन्द्रस्थ जो ज्ञान का कन्दल है, वही पहला है 'आनन्द'। हमने बतलाया है कि केन्द्रस्थ ज्ञान ही बाहर निकलकर चारों ओर फैलकर–'चेतना' कहलाने लगता है। अब इसमें विचार यही करना चाहिए कि वह ज्ञानकन्दल बाहर किस तरीके से निकलता है। एक दम से सारा ही ज्ञान बाहर निकलकर फैल जाता है–यह बात तो मानी नहीं जा सकती, क्योंकि यदि ज्ञानकन्दल एकान्ततः केन्द्र को छोड दे तो शरीरसत्ता ही न रहे। बस, इसमें एक ही बात उपपन्न हो सकती है–एक ही मार्ग ऐसा है, जिससे ज्ञान का चारों ओर वितत होना बन सकता है। उसी मार्ग का नाम है–चयन। भाषा में जिसे चेजा कहते हैं–चुनाई कहते हैं, उसे ही वैदिक परिभाषा में–चयन कहते हैं। एक के ऊपर एक ईंट का–किंवा पत्थर का, रखना चेजा कहलाता है। चेजा-चयन से अर्थात् ऊपर नीचे ईंट-पत्थर के चिनाव से बनता है। बस, ठीक यही हालत इस चेतना की है। यह चेतना उस केन्द्र के ज्ञान के चिनाव से बनती है। वह आनन्द ही चयनक्रिया द्वारा बाहर तक जाने में समर्थ होता है। आनन्द ही का चिनाव है, अतएव इसे (बाहर निकलते हुए आनन्द को) चेतना कहने के लिए तय्यार हैं। ईंट पर ईंटः ईंट पर ईंट–इस क्रम से ज्ञानघन आनन्द का चेजा होता है। वही चेजास्वरूप आनन्द चूंकि चिनाव द्वारा बाहर फैलता है, अतएव इस बाहर निकलने वाले ज्ञान को 'चेतना' कहते हैं।

इस प्रकार से चिनाव क्रिया द्वारा वह ज्ञान चारों ओर फैलता हुआ जाता है। परन्तु ध्यान रहे–केन्द्र को वह फिर भी नहीं छोडता। उस ज्ञानस्वरूप आनन्द की चेजे द्वारा बडी दूर तक गति अवश्य होती है, परन्तु केन्द्र में वह अब भी बद्ध है। अपने स्थान में स्थित उस आनन्द की गति बडी दूर तक होती है, बाहर तक जाने वाले गतिशील इस आनन्द का नाम ही चेतना है। चूंकि आनन्द के चयन से यह बाहर तक फैला हुआ है, अतएव हम बाहर निकलते हुए इस ज्ञान को 'चेतना' कहने के लिए तय्यार हैं। आनन्द ही का चयन होता है–**चीयते तच्चेतना**–चेतना का यह अर्थ हमने वेदान्तियों के मतानुसार बतलाया है। वास्तव में चेतना भिन्न पदार्थ है–चित् भिन्न पदार्थ है। अव्यय-अक्षर-क्षर-समष्टि को आत्मा बतलाया गया। इनमें से आनन्दभाग अव्यय का है, चेतनाभाग अक्षर का है एवं सत्ताभाग क्षर का है एवं मन अव्यय का हिस्सा है, प्राण अक्षर का हिस्सा है, वाक् क्षर का हिस्सा है। अव्यय सृष्टि में असमवायिकारण है, अक्षर निमित्तकारण है–क्षर समवायिकारण है। अव्यय आलम्बन पर अक्षर-स्वरूप कुम्हार (ज्ञान) बैठकर क्षरस्वरूप मिट्टी से घड़े बनाया करता है। अक्षर ही से अनन्तानन्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं एवं उसी में लीन हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"तदेतत्सत्यम्—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" ॥[1]

---

[1] मुण्डकोप० २।१।१।

अक्षर क्षरभाग से–अव्यय पर चिनाव किया करता है, इसीलिए अव्यय को 'चिदात्मा' कहा जाता है। अक्षर चिनाव करने वाला है इसीलिए इसे चेतना कहते हैं–**चीयते अनया सा चेतना**। एवं जिस पर चिनाव होता है, उसका नाम चित् है। इस प्रकार से चित् और चेतना' दोनों पृथक् पदार्थ हैं। अस्तु, इस प्रपञ्च को हम यहाँ नहीं उठाना चाहते। यहाँ सिर्फ इतना ही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि वह आनन्द ही उत्तरोत्तर चिनाव क्रिया से ऊपर तक-बडी दूर तक–वितत रहता है, अतएव **चीयते तत्**–इस व्युत्पत्ति से बाहर निकलते हुए उस ज्ञान को 'चेतना' शब्द से व्यवहृत किया जाता है–जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"आनन्द एव प्रथमं स्वरूपं तच्चीयते यत् परितस्तदेति ।
स्वस्मिन् स्थितस्यास्ति गतिर्विदूरे सा चेतना तच्चयनं हि तस्य" ॥९॥

इसी चेतना को विज्ञान शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है। 'क्यों इसे विज्ञान कहा जाता है ?' इसका कारण बतलाते हैं—

आनन्द को हमने आत्मा बतलाया है एवं साथ ही में यह भी बतलाया है कि उस **केन्द्रस्थ** आत्मा की जो ज्ञानरश्मियाँ हैं, उन्हीं से घट-पटादि स्वरूपसत्ता का अर्थात् अन्तर्जगत् का निम्मर्णि होता है। आत्मा ही रश्मिरूप से बाहर निकलकर घट-पटादि नाना पदार्थों का निम्मर्णि कर डालता है। रश्मिरूप से चेतना नाम धारण करता हुआ जो आत्मा है, उसी से नानारूप उत्पन्न होते हैं। ज्ञान ही घट-पटादि पदार्थों का निम्मर्णि करता है एवं वही ज्ञानरश्मियाँ अर्थ का निम्मर्णि करके उसको अपने आप ही जानती हैं अर्थात् ज्ञान ही पदार्थों को बनाता है एवं वही अर्थों को जानता है। वही ज्ञान–वही चेतना–वही आत्मा अर्थ को जानता है–बस, इसीलिए–**अर्थः विज्ञायते येन**–इस व्युत्पत्ति से इसी चेतना को विज्ञान कहने लगते हैं। इसी ज्ञान के द्वारा नानारूप उत्पन्न होते हैं एवं इसी से अर्थ जाना जाता है, अतएव इसे विज्ञान कहते हैं। बस, चेतना का–यही विज्ञान दूसरा रूप है। अथवा विज्ञान का दूसरा अर्थ समझना चाहिए। यह ज्ञान जब तक केन्द्र में रहता है, तब तक तो एक ही रहता है, परन्तु बाहर रश्मिरूप में परिणत होता हुआ–घटपटादिनानास्वरूपों में परिणत हो जाता है। अर्थात् एक ही ज्ञान घट-पटादि नानाभावों में परिणत हो जाता है, अतएव–**विविधं ज्ञानं विज्ञानम्**–इस व्युत्पत्ति से इस चेतना को 'विज्ञान' कहते हैं–जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"विजायते रूपमिदं यदस्माद् बहिर्गतादात्मन एव नाना ।
विज्ञायतेऽर्थः स इतीत्थमाहू रूपं हि विज्ञानमिदं द्वितीयम्" ॥१०॥

॥ इति चेतना–निरुक्तिः ॥

अथ सत्ता-निरुक्तिः—

चेतना के अनन्तर नम्बर आता है–सत्ता का। जिसे हमने विज्ञान कहा है–वही घट-पटादि स्वरूप का निम्मर्णि कर ग्राहक और ग्राह्य–इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। ज्ञान का जो अंश

ग्राहकत्वेन स्थित रहता है–वही **विज्ञान** कहलाता है एवं जो अंश ग्राह्यत्वेन परिणत हो गया है–वही **सत्ता** कहलाने लगता है। एक ही विज्ञान ग्राहक और ग्राह्य भेदेन दो खण्डों में परिणत रहता है। ज्ञान ज्योतिष्मान् पदार्थ है। ज्योतिष्मान् पदार्थ स्वभाव से ही अपनी ग्राहक और ग्राह्य-ये दो संस्थाएँ बनाकर रहते हैं। ज्ञान भी ज्योतिष्मान् है अतएव यह भी दृश्य अर्थात् ग्राह्य एवं द्रष्टा अर्थात् ग्राहक भेदेन–दो खण्डों में परिणत रहता है। इस द्रष्टाज्ञान अंश में–इसी ज्ञान से निर्म्मित दृश्यअंश (घट-पटादि) प्रतिभासित होते रहते हैं। जो द्रष्टा है–वही विज्ञान नाम से व्यवहृत होता है एवं इसमें प्रतिभासित होने वाला–जो मनःप्राणवाङ्मयघटपटादिपदार्थसमूह है, उसे ही हम 'सत्ता' नाम से पुकारते हैं। 'अस्ति', 'है'–इसी का नाम है–सत्ता। चूंकि 'है'–इसका अधिकारी–वह दृश्य ही होता है, अतएव हम इस दृश्य को–'सत्ता' कहने के लिए तय्यार हैं–जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते है—

"विज्ञानमेतद् भवति द्विखण्डं यद् द्रष्टृ तस्मिंश्च विभाति दृश्यम्।
यद् द्रष्टृ विज्ञानमदोऽथ तस्मिन् दृश्यं तु सत्तां प्रवदामि नाम्ना" ॥११॥

॥ इति सत्ता–निरुक्तिः ॥

॥ इति आनन्द-चेतना-सत्तानां निरुक्तयः ॥

अथ अभ्वत्रय-निरुक्तिः—

सत्ता, चेतना, आनन्द–ये तीन स्वरूप 'आभु' के बतलाए थे एवं नाम-रूप-कर्म्म–ये तीन स्वरूप अभ्व के बतलाए थे। इनमें से 'आभु' के तीनों स्वरूपों का निर्वचन हो चुका। अब 'अभ्व' का निर्वचन करते हैं। विज्ञान को हमने द्रष्टा और दृश्यभेदेन द्विखण्डात्मक बतलाया है एवं इन दोनों खण्डों में से जो दृश्य है, उसे ही हमने 'सत्ता' बतलाया है। बस, यह जो दृश्य है वह भी दो भागों में विभक्त है। दृश्य में एक विभाग तो ऐसा है जो सर्वथा दिग्देशकाल से अपरिच्छिन्न है एवं उस दृश्य का कुछ हिस्सा ऐसा है जो एकान्ततः दिग्देशकालावच्छिन्न है। इन दोनों में से जो हिस्सा दिग्देशकालानवच्छिन्न है, वह सर्वथा अविकारी है–अमृतस्वरूप है–नित्य है–व्यापक है एवं जो दिग्देशकालावच्छिन्न है, वह मर्त्यस्वरूप है–अनित्य है–व्याप्य है–सक्रिय है। बस, दृश्य के उस अविकारी एवं दिग्देशकालानवच्छिन्न हिस्से को तो हम 'सत्ता' कहते हैं जो हिस्सा-दिग्देशकालावच्छिन्न है, उसे ही 'अभ्व' कहते हैं- जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"द्विधा विभक्तं च तदत्र दृश्यं दिग्देशकालातिगतं च किञ्चित्।
दिग्देशकालाश्रयमन्यदन्यत् तत्राविकारं सविकारमन्यत्" ॥१२॥

संसार के पदार्थों पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो उन सब में 'है' है–एक यह सत्ता-रस अनुस्यूत देखते हैं। घड़ा भी है–पर्वत भी है–वन भी है–सूर्य्य भी है–चाँद भी है–सब 'है' हैं। 'है' से बाहर कोई

रह ही नहीं सकता है। यहाँ तक कि जिसे आप 'अभाव' कहते हैं-नहीं कहते हैं-उस 'अभाव' में भी 'नहीं' में भी-'है' घुसा हुआ है। 'अस्ति' तो साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप है। उससे बाहर कोई क्योंकर-कैसे बच सकता है? इस प्रकार हम जो एक 'है'-इस रसभाग को सर्वत्र अभिन्नतया-अविनाभूततया देखते हैं-इसे ही हम 'सत्ता' कहने के लिए तय्यार हैं। 'सत्ता' आभु का तृतीयस्वरूप है-आभु रस है-व्यापक है। चूंकि 'है' इसको हम एक स्वरूपेण सर्वत्र व्याप्त देखते हैं, अतएव इस 'है' स्वरूप एकरस को हम 'सत्ता' कहने के लिए तय्यार हैं। परन्तु 'है' के एकत्व रहने पर भी हमें पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहे हैं। घड़ा भी है-पर्वत भी है-सूर्य्य भी है-चन्द्रमा भी है-यह 'है' सब में समानरूप से घुसा हुआ है, परन्तु इस अभिन्नता में घटादि की भिन्नता का भी हम अनुभव कर रहे हैं। घड़ा दूसरी चीज है, पर्वत बिल्कुल दूसरी चीज है, सूर्य्य एकान्ततः पृथक् वस्तु है। इस प्रकार 'है' की समानता रहने पर भी-'है' की अभिन्नता के रहने पर भी-अभिन्नता के साथ-साथ ही यह घट है-यह पट है-घड़ा पट से अलग है-पट घड़े से अलग है-इस भिन्नता का भी प्रत्यक्ष हो रहा है। दृश्य दोनों हैं-घड़ा भी दृश्य कोटि में ही है एवं 'है' यह भी दृश्य कोटि में है। 'घड़ा' और 'है'-दोनों के मेल से-दृश्य का स्वरूप बनता है। परन्तु इन दोनों में 'है' सर्वत्र अभिन्न है एवं 'है' के आश्रित अर्थात् सत्ताश्रित घट-पटादि सर्वथा भिन्न हैं। बस, इस अभिन्नता में प्रतीत होने वाले भिन्न रस को ही हम 'अभ्व' कहने के लिए तय्यार हैं। इस सत्ताश्रयविषय का जो नाम है-जो रूप है एवं जो कर्म्म है-ये तीनों इस 'आभु' में अर्थात् 'है'-इस सत्ता में उपपत्ति को प्राप्त होते हैं। अर्थात् नामरूपकर्म्मात्मक अभ्व सत्ता के आधार पर ही अपना स्वरूप कायम करता है। बल सदा अमृत के आधार पर रहता है। इसीलिए तो सर्वथा मरणधर्म्मा भी यह बल अर्थात् नामरूपकर्म्मात्मक अभ्व कभी नहीं मरने पाता। कहने का तात्पर्य्य यही है कि मनप्राणवाक्-नामरूपकर्म्म का नाम सत्ता है। इन ६ओं में से मन-प्राण-वाक् अमृतभाग है, अतएव इसे 'आमु' कहा जाता है एवं मन-प्राण-वाक्-इन तीनों के रूप, कर्म्म, नाम-ये तीन मर्त्यभाग हैं-विनाशी हैं अतएव इन्हें 'अभ्व' कहा जाता है-जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"सत्तेयमत्रैकरसं यदीक्षे यत्त्वीक्ष्यते भिन्नरसं तदभ्वम्।
यत्कर्म्म यन्नाम यदस्य रूपं तदभ्वमाभुन्युपपत्तिमेति" ॥१३॥

॥ इति अभ्वत्रय-निरुक्तिः ॥

अथ अभ्वत्रयाभुत्रयाभ्यामैकभाव्यम्—

'आभु' आनन्द-चेतना-विज्ञान का नाम है एवं नाम-रूप-कर्म्म का नाम 'अभ्व' है। इस प्रकार ६ चीजें हो जाती हैं। परन्तु वास्तव में विचार करके देखा जाए तो ६ ओं एक वस्तु हैं। कहने को ६ हैं, वास्तव में एक ही ब्रह्म है। झावा-मटकी-मालसा-माँगा-झाल कहने को अनन्त पात्र हैं, वास्तव में एक ही पदार्थ है जो कि 'मिट्टी' नाम से व्यवहृत होती है। अँगरखी-कुड़ता-पगड़ी-दुपट्टा-धोती कहने को तो अनेक वस्त्र हैं परन्तु वास्तव में सब सूत ही तो हैं।

हमने बतलाया है कि यह 'आभु' आनन्द-चेतना-सत्ता भेदेन तीन प्रकार का है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाए तो ये तीनों 'आभु'-द्रष्टा कोटि में आ पड़ते हैं। आभु नाम है-द्रष्टा का। उसका केन्द्र आनन्द कहलाने लगता है। परन्तु केन्द्रीय ज्ञान से निकलने वाली ज्ञानरश्मियाँ उस ज्ञान से पृथक् थोड़े ही हैं ? दोनों एक ही चीज हैं। दोनों का तीनों द्रष्टा हैं। आभु का अर्थ ही द्रष्टा है। इस प्रकार तीन को हटाकर एक द्रष्टा पर आ जाइए। अब चलिए-अभ्व की ओर। नाम-रूप-कर्म्म-तीन अभ्व बतलाए थे, परन्तु वास्तव में तीनों एक चीज हैं जिसे कि 'दृश्य' नाम से व्यवहृत करते हैं। दृश्य असत् है-द्रष्टा सत् है। इस प्रकार ६ से हटकर सदसत् पर अर्थात् द्रष्टा-दृश्य पर आईए। अब और भी आगे बढ़ते हैं तो सदसत् दोनों-सत् ही हो जाते हैं। द्रष्टा-दृश्य का भेदव्यवहार भी टूट जाता है। भान को ज्ञान कहते हैं। घड़ा है-इसको दृश्य कहते हैं। आपने इस ज्ञान को अर्थात् भान को एवं घड़े को अर्थात् दृश्य को पृथक् वस्तु समझ रक्खी है-परन्तु यह आपकी समझ है। जिसका भान हो रहा है अर्थात् जिसका ज्ञान हो रहा है-वही तो 'है'-घड़ा है। इसके अलावा ज्ञान बच ही क्या जाता है ? जिस दिन सारे 'है' 'है' को अलग कर देंगे, उस दिन ज्ञान बचता ही क्या है ? घड़ा है-यही तो भान का स्वरूप है। इसीलिए वेद भगवान् कहते हैं-**'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते'**[1]। 'अस्ति' यही तो उपलब्धि अर्थात् ज्ञान है। जो भासित हो रहा है, वही तो 'है' है। अर्थात् अस्ति ही तो भाति है, भाति ही (ज्ञान) तो अस्ति (ज्ञेय) है। एवमेव जो 'है'-उसी का तो भान होता है। जिसका भान होता है, वही 'है' है एवं जो 'है' है उसी का तो भान होता है। **घटोऽस्ति**-यही ज्ञान का स्वरूप है एवं **घटो ज्ञायते** यही सत्ता का स्वरूप है। **अस्ति घटः**-यहाँ पर ज्ञान सत्ता के आश्रित है एवं **ज्ञायते घटः**-यहाँ पर सत्ता ज्ञान के आश्रित है। दोनों (ज्ञाता-ज्ञेय) दोनों ऐसे लाजिम मलजूम हैं-जिन्हें पृथक् करके कभी देखा ही नहीं जा सकता।

बाकी बचा-आनन्द। तो बस, जो है एवं जिसका भान होता है, वही आनन्द है। बस, आनन्द ही तो एक तत्त्व है। कहने का भेद है, वास्तव में एक चीज है। आनन्द ही आनन्द है। आनन्द ही आत्मा है एवं आनन्द ही जगत् है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति-इति"॥[2]

अपि च-गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"यदाभु तद् द्रष्टृ यदभ्वमेतद् दृश्यं तदेतत् सदसत् सदेव।
यद्भाति तद्वास्ति यदस्ति तद् भात्येकोऽयमानन्द इदं जगत्तत्" ॥१४॥

—❀—

१ कठोप० २।६।१२।   २ तैत्ति० उप० ३।६।

मतविभागः

इस प्रकार पहले-पहल यही एकत्वप्रतिपादक मत प्रचलित था। अभ्व-आभु से पृथक् नहीं है, अपि तु, दोनों एक चीज हैं। यही सिद्धान्त पहले प्रचलित था। कालान्तर में इसी आभु-अभ्व के विषय में तीन मत प्रचलित हो गए।

(१)–कई दार्शनिकों का कहना था कि इस अनित्य-असत्-मर्त्य-सक्रिय अभ्व से 'आभु' सर्वथा अलग है एवं नित्य है। हमारे शरीर में जो–'अहम्' है, वही 'आभु' है–ब्रह्म है। जैसा कि श्रुति कहती है–**अहं ब्रह्मास्मि इति।**[1] बस, सच्चा केवल यही है, बाकी अभ्वतत्त्व सर्वथा मिथ्या है। यही शंकराचार्य का अद्वैतवाद है। इसी मत को बतलाते हुए गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

१–"इदं पुरा दर्शनमेकमासीत् मतत्रयं तत्र बभूव काले।
अभ्वादनित्यात् पृथगाभु नित्यं तच्चाहमस्मीति परे न्यषीदन्" ॥१५॥

–यही शंकराचार्य का मत है।

(२)–दूसरा मत था कि आभु भी नित्य है एवं अभ्व भी नित्य है। जो आभु है, उसे ही इस मत के मानने वाले ज्ञान एवं रस शब्द से व्यवहृत करते हैं एवं 'अभ्व' को कर्म्म एवं बल शब्द से पुकारते थे। उनका कहना था कि दोनों नित्य हैं एवं दोनों अविनाभूत हैं। एक के विना दूसरा एक क्षण भी नहीं रह सकता है। परन्तु चूंकि सत्ता दोनों की एक है, अतएव अद्वैततत्त्व में कोई बाधा नहीं आती। बस, यही वैदिक मत है। इसी मत को बतलाते हुए गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

२–"नित्यं तदाभ्वस्ति च नित्यमभ्वं तत्राभु तद् ज्ञानरसं तथाहुः।
अभ्वं तु तत् कर्म्म बलं च केचित् प्राहुर्न चान्येन विनाऽन्यदस्ति" ॥१६॥

(३)–तीसरा मत था कि जो कुछ है, वह सब अभ्व ही अभ्व है। सारा प्रपञ्च अनित्य है। अभ्व से अलग कोई नित्य आभु कुछ नहीं है। सत्ता-विज्ञान-आनन्द सारे पदार्थ अनित्य हैं एवं आत्मा हर्गिज आनन्दस्वरूप नहीं है एवं जिस 'अहं' को अर्थात् आत्मा को तुम नित्य बतलाते हो–वह सर्वथा अनित्य है। इस तीसरे मत को बतलाते हुए गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

३–"सर्वं तदभ्वं सकलं ह्यनित्यं न चाभु किञ्चित् पृथगस्ति नित्यम्।
सत्ता च विज्ञानमिदं ह्यनित्यमानन्द आत्मास्त्यहमस्म्यनित्यम्" ॥१७॥

कई दार्शनिक (बौद्ध-नास्तिक-चार्वाक-श्रमण) यह मानते थे। चूंकि सत्य बात एक हो सकती है, तीन नहीं, बस, इसी झमेले में तीन मत प्रचलित हो गए एवं तीनों में–अनन्तानन्त संशय उत्पन्न हो

१ बृहदा० उप० १।४।१०।

गए। बस, इस ग्रन्थ में पहले उन संशयों का स्वरूप बतलाया जाएगा एवं बाद में उच्छेदवाद कहा जाएगा। यही इस ग्रन्थ का विषय है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"इति न्यषीदंस्तु परे तदेषां मिथो विवादात् त्रिमतं प्रवृत्तम्।
ततः परे संशयवादमाहुः परे तदुच्छेदवचांसि चाहुः ॥१८॥

॥ इति मूलोपनिषत् (प्रथमं पर्वं) ॥

अथ

कृष्णत्रिसत्योपनिषत् चतुःखण्डा (द्वितीयं पर्वं)

तत्रादौ

प्रथमः सच्चिदानन्दखण्डः

१

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ कृष्णत्रिसत्योपनिषत् ॥

१–सच्चिदानन्दखण्डः ।

१–अस्तिभातिरसास्त्रिसत्यम् ।

१–सत्ता चिदानन्द इति त्रिसत्यं, सत्तैव विश्वं नु चिदेव विश्वम् ।
विश्वं तथाऽऽनन्द इतो न किञ्चित् परं त्रयं चैतदभिन्नरूपम् ॥१॥
यदस्ति किञ्चिद् यदि तत्परीक्षे पश्याम्यसंख्यानिह भिन्नभावान् ।
रूढान्निगूढान् पुनरेषु वीक्षे सर्वावलम्बानिव तानिमांस्त्रीन् ॥२॥
भावेऽप्यभावेऽपि यदस्ति नास्तीत्येवं भवत्यव्यभिचारतो धीः ।
यदस्ति यद्भाति रसः स भाव्यस्तेष्वेषु सर्वं प्रतितिष्ठतीदम् ॥३॥

२–सत्ताप्रत्ययसमीक्रियाभिः परीक्षा ।

२–सच्चाप्यसच्चापि यदत्र किञ्चिन्निरुच्यते न व्यतिरिच्य सत्ताम् ।
अस्तीति सर्वत्र समास्ति बुद्धिः सत्ताखिलानां विभुराश्रयस्तत् ॥४॥
सच्चाप्यसच्चापि यदत्र किञ्चिद्भवेन्न तत् प्रत्ययमन्तरेण ।
विज्ञायते तेन तदस्ति सर्वं विभ्वाश्रयो ज्ञानमतोऽखिलानाम् ॥५॥
प्रीणन्ति वा यानि च विद्विषन्ति मिथोऽन्वितैस्तैरखिलार्थसिद्धिः ।
अन्योन्यमेतेषु सदोपकार्य्योपकारकत्वं सततान्वितेषु ॥६॥
उद्रिक्तमग्नेर्बलमूनितं जलादुद्रिक्तमम्भोबलमूनमग्नितः ।
स्थितिं पृथिव्या गतिमेति वायुतो भवेद्विरुद्धद्वियुतेः समीक्रिया ॥७॥
समीक्रिया शान्तिरयं प्रसादः सर्वं हि सर्वेण समत्वमाप्तम् ।
अक्षुब्धरूपं परिपूर्णशान्तं तमेवमानन्दमहं वदामि ॥८॥

३–शक्तिविकाशालम्बनैः परीक्षा ।

३–आनन्द इत्थं परमात्र शान्तिर्ज्ञानं तु योऽयं परमो विकासः ।
अस्त्यस्तिलोकव्यवहारहेतुः सत्तापि साक्षादिव कश्चिदर्थः ॥९॥

अप्यत्र सत्तां विदुरर्थकारितां क्रियैव सत्तापि च शक्तयः क्रियाः ।
बलं हि शक्तिर्बलमेव ताः क्रियाः सत्ता ततः संकलिता हि शक्तयः ॥१०॥
मूलं च तूलं द्विविधा हि शक्तयो मूलं बलं तूलमिमां क्रियां विदुः ।
क्रिया क्षणस्था च विनाशिनी च सा तन्मूलमद्याप्यविनाशि विश्वगम् ॥११॥
ज्ञानं च शक्तिर्न तु सा क्रियात्मिका विकासरूपैव न सार्थकारिणी ।
तस्मान्न सत्ताऽपि तु सा पृथग्विधा सत्ता तदन्तर्निहिता न सा पृथक् ॥१२॥
सत्ताऽपि ताः संकलिता हि शक्तयो यत्राहिता यस्य भवन्ति लक्षणम् ।
आलम्बनं शान्तमनन्तमद्वयं तमाहुरानन्दमयं प्रतीयते ॥१३॥
आनन्द एवास्त्यखिलोऽयमर्थो यमत्र पश्यामि यमत्र वेद्मि ।
तमेकमन्यान्यविधाभिरीक्षे तास्ता विधाः शक्तिसमूहरूपाः ॥१४॥

४–कुर्वद्रूपतोपलब्धिभूमभिः परीक्षा ।

४–अर्थान् प्रकुर्वन्ति बलानि सत्ता, येऽर्थाः प्रकाशा इह सोपलब्धिः ।
भूमा रसः पूर्णमिदं समस्तं यतः स आनन्द इति प्रतीमः ॥१५॥

५–सत्यत्रयान्योन्याविनाभावः ।

५–त्रिष्वेव पर्य्याप्तमिदं समग्रं नातश्चतुर्थं किमपीह लोके ।
प्रत्यर्थमेषामपृथक्त्वमीक्षे नैकं विनाऽन्येन कदापि सिद्ध्येत् ॥१६॥
अस्तीति तद्वेत्त्यथ वेत्त्यतोऽस्ति यो विद्यते वेत्ति च यं रसः सः ।
अर्थः प्रियो नोऽस्ति सदार्थलिप्सा ज्ञानं प्रियं नोऽस्ति सदा बुभुत्सा ॥१७॥
बोध्यं सुखं वस्तु सदस्ति बोध्यं बोध्यं च बोधादपृथक् प्रबुद्धम् ।
ज्ञानं सुखं चास्ति हि वस्तु सत्तत् तस्मात् पृथङ् नातितरामिमानि ॥१८॥

६–सामान्य-विशेषौ ।

६–ज्ञानं द्विधास्तीति च नास्ति चेति ताभ्यां पृथक्त्वव्यवहारसिद्धिः ।
यावन्न नास्तीत्यवयाति तावन्न व्यक्तिता नो पृथगस्तिता धीः ॥१९॥
अत्यन्तसूक्ष्मा पृथगस्तिताधीर्विशेष उक्तः क्रमशस्तु सा धीः ।
प्रवर्द्धते व्यक्तिबहुत्वतस्तां जातिं च सामान्यमिदं वदन्ति ॥२०॥
सामान्यभिन्नाः परमा विशेषाः सामान्यमन्त्यं त्वविशेषमेकम् ।
मध्यास्तु सामान्यविशेषरूपाः सर्वाश्च ताः प्रत्ययरूपसत्ताः ॥२१॥

या चात्र सामान्यविशेषवत्ता सत्तातिरिक्तानतिरिक्तभूता ।
विभाति विज्ञानमिदं समन्तादालेशमापूर्णमनु प्रविष्टम् ।।२२।।

आनन्दनामानमतीव गूढं सत्ता यथालम्बत एवमेतत् ।
ज्ञानं च सामान्यविशेषरूपं प्रलम्बते तं सदसद्विवेकात् ।।२३।।

इत्थं न जानामि कियानिहांशः सत्ता कियज्ज्ञानमथो कियान् वा ।
आनन्द एकं तु विमूढभेदं प्रत्येमि तत्सच्चिदियं स मोदः ।।२४।।

७–त्रयाणामयुतसिद्धिः ।

७–भात्यास्तिरेवं खलु भातिरस्त्या ताभ्यां रसस्ते च रसेन सिद्धे ।
तेषां न पूर्वत्वपरत्वसिद्धिर्गत्यां यथा योगविभागसंस्थाः ।।२५।।

सैवोपलब्धिर्यदिहास्ति, यद्वोपलभ्यते यत् तदिहास्ति सत्ता ।
यद्भातिसिद्धाऽस्तिरथास्तिसिद्धा भाती रसस्तूभयसिद्ध एषः ।।२६।।

न भातिपूर्वास्तिरथास्तिपूर्वा न भातिराभ्यां न विनाकृतो वा ।
रसोऽपि शक्येत मतं तदेकमव्याकृतं व्याक्रियते त्रिधा यत् ।।२७।।

८–त्रयाणामैकात्म्यम् ।

१–स्वस्मिन्न जानाति यदर्थसत्तामज्ञानतो दुःखमुदेति तर्हि ।
तद्वैपरीत्यादिह वेत्ति यावत् तावत् सुखी तत्सुखमर्थबोधः ।।२८।।

प्रत्येति शून्यां तु यदात्मशक्तिं दुःखं तु दारिद्रचमिदं तदाह ।
अशून्यता ज्ञानमिहात्मशक्तेः सुखाय तस्मात् सुखमर्थसत्ता ।।२९।।

समुच्चिताः शक्तय एव सत्ता सा ज्ञायमाना हि सुखाय यस्मात् ।
त एव तस्मात् त्रय एष आत्मा जगच्च तस्मात् त्रयमेतदस्ति ।।३०।।

ज्ञानं पृथग् ज्ञानकुलात् तयोर्वा सत्ता पृथक् पश्यति यावदित्थम् ।
तावज्जगद् यत्र तु सच्चितोः स्यादेकत्वमानन्दगतं स आत्मा ।।३१।।

सत्तां विदन्नात्मनि याति हर्षं तत्रास्तिता संविदि सोऽपि हर्षे ।
एकत्वमागत्य भवत्यपीता रूपत्रयी सा जगतोऽयमात्मा ।।३२।।

द्विधाऽयमानन्द इहास्ति पाप्माऽप्रसङ्गतो या परमास्ति शान्तिः ।
स एव मुख्योऽथ रसप्रवेशान्मृत्यावुदेति क्षणिकः प्रसादः ।।३३।।

आनन्द एवामृतमस्ति यस्मात् संसृज्य तस्माद् रसमेष मृत्युः ।
यावन्तमात्मानमुपैति तावानानन्द आत्मा विभवेषु तेषु ।।३४।।

शरीरमादौ वनिता तनूजः क्षेत्रं हिरण्यं पशवो गृहाणि ।
अन्नानि दासा महिमात्मनोऽयं यत्रैष आत्मा विभवेद् विजानन् ॥३५॥
यावद् विजानाति ममेदमेवं वित्तं स तावानहमस्मि चेति ।
सा तावती तृप्तिरमुष्य तस्माद् विज्ञानमानन्द इति प्रसिद्धिः ॥३६॥
विज्ञानमानन्दमितीष्यते वा विज्ञानमानन्द इतीष्यते वा ।
न संशयोऽत्र क्रियतामयं यत् क्षरेऽक्षरे चापि परं निगूढम् ॥३७॥
विज्ञानमानन्दमितीष्यतेऽवरं विज्ञानमानन्द इतीष्यते परम् ।
ज्योतिस्तु विज्ञानमिदं परं ध्रुवं रसेन भूम्ना न विभिद्यते क्वचित् ॥३८॥

९–दुःखानुभवहेतुः ।

२–यतः स आत्मा विभवत्यमीभिर्देहप्रजास्त्रीपशुमेदिनीभिः ।
संपद्यते तेन महानयं यत् स्वं वैभवं तन्महिमा च संपत् ॥३९॥
यतो ममत्वं क्रमते तदेषु तेनात्मनोऽहंकृतिरेषु दृष्टा ।
तेषां तदेकस्य च हानितोऽयमात्माऽल्पवद् भाति तदस्य दुःखम् ॥४०॥
तस्मात् तदेकैककलाविनाशक्रमेण यावत् क्रमते विनाशः ।
आत्मार्तिमायाति सतान्तरेणोदरे विभूत्याः स्वमहिम्नि तावत् ॥४१॥
सार्तिः परा या मृतिरस्य जन्तोस्ततोऽन्यथाऽऽनन्दकलासमृद्धिः ।
मृत्युर्न चेत् तर्हि मताऽस्य सत्ता सत्तैव साऽऽनन्द इतीष्यते तत् ॥४२॥

१०–एकत्वे भिन्नप्रतिपत्तिहेतुः ।

३–आनन्दविज्ञानरसप्रतिष्ठास्वेकत्वमित्थं यदुदाहरन्ति ।
तच्चाविनाभाववशेन बोध्यं न चान्यदन्येन विना कृतं स्यात् ॥४३॥
ज्योतिः प्रतिष्ठा विधृतिश्च भिन्नाः शक्यं न वक्तुं न विचिन्तितुं वा ।
किं स्यादभातं कथमप्रतिष्ठं भायान्न भायादधृतं न च स्यात् ॥४४॥
४–एकैव सत्ता प्रथते यदेषां तस्मात् त्रयं तत् पुनरेकमिष्टम् ।
विज्ञानमेषां त्रिविधं पृथक् स्यात् तस्मात् त्रिधा व्याक्रियते तदेकम् ॥४५॥
सत्ता प्रभिन्ना प्रतिपत्तिभेदतः सत्ताप्रभेदादपि धीः प्रभिद्यते ।
रसस्तु भिद्येत तयोः प्रभेदतस्तथा च सामान्यविशेषसंभवः ॥४६॥
रसे प्रतिष्ठावशतः पृथक्त्वं क्वचित्तु विज्ञानवशात् पृथक्त्वम् ।
क्वचित्पुनः स्यादुभयोः पृथक्त्वाद् रसे पृथक्त्वं तदिदं निरूह्यम् ॥४७॥

उष्णीषवासोवरतन्तुतूलमृद्विज्ञानभेदेऽपि न सत्तया पृथक् ।
सत्तास्वनन्तास्वपि गौरितीष्यते यदेकमेतत् प्रतिपत्त्यपेक्षया ॥४८॥

११–सत्ताचेतनानन्दानां भेदाभेदसिद्धान्तः ।

५–तेनात्र धर्म्मा अमृता इमे त्रयो भिन्ना अभिन्नाश्च परस्पराश्रयाः ।
रूपं यदेकं परमुच्यतेऽमृतं तत्रैष मृत्युर्बहुधैत्य नृत्यति ॥४९॥

१२–त्रयाणां वैरूप्यम् ।

यद्यप्यमीषामिदमित्थमैक्यं प्रतीयते किन्तु तथापि तानि ।
भिन्नानि रूपाणि यतः स्वरूपं तेषां पृथक्त्वेन मिथो विभाति ॥५०॥

भात्यैव सिद्धानि बहूनि विद्यो दिक्कालसंख्यानुविधानि नास्त्या ।
अस्त्यैव सिद्धानि बहूनि लोके न भान्तिभिन्नाण्डविधानि यानि ॥५१॥

यत्रास्तिरत्रापि रसोऽथ भातिर्यत्रास्ति तत्रापि रसोस्ति तस्मात् ।
ताभ्यां तृतीयोस्ति रसः पृथग्वन्न सर्वथैषां तत ऐक्यमाहुः ॥५२॥

तथापि यत्रैक्यमिवास्फुटानामुन्मुग्धरूपत्ववशादमीषाम् ।
आत्मा स उक्तोऽथ परिस्फुटत्वे तान्येव सर्वाणि जगन्ति सन्ति ॥५३॥

१३–सच्चिदानन्दस्यात्मत्वजगत्त्वे ।

सन्नभ्य पिण्डोऽस्य करप्रसारः साहस्र आनन्द उतैष एव ।
अन्यात्मघातेन विवर्तमानश्चिदित्थमेतत्त्रिवृदेव सर्वम् ॥५४॥

अर्चिर्वदात्मा परितोऽस्य रश्मिस्त्वानन्द आहन्यत एष यस्मिन् ।
ततः परावर्तितदीधितिश्चित् तत्सद् यदाहन्ति स चान्य आत्मा ॥५५॥

आनन्द उक्तोंऽशुरयं प्रसारणाद् बहिःसतोऽर्थांश्चिनुते स आत्मनि ।
तस्मात्परावर्तित एष चिद्भवेत् सन्नन्य आत्माखिलशक्तिसंचयः ॥५६॥

आनन्द आत्मा, परितोंऽशवश्चिच्चिदेव संस्पृश्य परं तथावत् ।
रूपं दधातीति सदाहुरेतत् तदाहुरन्तर्जगदात्मनोऽस्य ॥५७॥

इत्थं मतानि त्रिविधानि सन्तु त्रेधापि तादात्म्यवशादमीषाम् ।
भेदोऽप्यभेदोपि न बाध्यतेऽर्थः क्लृप्ता ह्यखण्डात्मनि सन्ति खण्डाः ॥५८॥

एकैक इत्थं त्रिवृदेष आत्मा सोऽणुर्महत्स्थः स पुनर्महत्स्थः ।
आत्माऽऽत्मनीत्येवमशेष एषोस्त्यात्मैव नान्यज्जगदस्ति किञ्चित् ॥५९॥

आनन्दविज्ञानयुगं सतोऽस्यात्मनोऽन्तरङ्गं न विना ततः सन् ।
अथास्य साहस्रमताः समस्ता अङ्गानि बाह्यानि भवन्ति सन्तः ॥६०॥
आत्मा द्विधाऽङ्गोपहितोस्ति योऽङ्गी योऽङ्गी च सर्वाङ्गविशिष्टरूपः ।
इत्थं द्विधा लौकिकदृष्टिभेदाद्विश्वं स आत्मैव तदात्मजं वा ॥६१॥
स सच्चिदानन्दमयोऽयमात्मा तत्सच्चिदानन्दमयं जगद्वा ।
आत्मैव विश्वं जगदेव वात्मा नानात्मभेदा अथवैक आत्मा ॥६२॥

१४—कर्मणः सत्तायामन्तर्भावः ।

सत्तापृथक्त्वेन पृथक् स बोधो बोधस्तथानन्दपृथक्त्वहेतुः ।
पूर्णा तु सत्ता यदि चैकरूपाऽस्त्यानन्दपूर्णः स हि बोधपूर्णः ॥६३॥
क्षोभात्मकं कर्म ततो विशेषा एकं त्वनेकं प्रतिभाति तेभ्यः ।
कर्माणि यत्रैतदकर्म चात्मा स्वेनाविशिष्टस्तत एष पूर्णः ॥६४॥
बलं यदुन्मुग्धमिहैकरूपं मूलं तदात्मा तत एव सर्वम् ।
जगद्बभूव क्रमशस्त्रयाणां तेषां पृथक् स्फोटनकर्मणैव ॥६५॥
यत्कर्मरूपं तु विदुश्चतुर्थं बलानि तूलानि तु शक्तयस्ताः ।
समुच्चिताः शक्तय एव सत्ता तस्मान्न तत्कर्म पृथक् पदार्थः ॥६६॥
एकं यदानन्दमयं स्वरूपं नानेति कृत्वा प्रतिभाति तत्र ।
अन्तर्व्यवच्छेदकरी तु शक्तिर्विशेषमाकारमिहादधाति ॥६७॥

१५—आनन्दविज्ञानसत्तानां कृष्णशुक्लद्वैविध्यम् ।

विज्ञानमानन्द इयं च सत्ता प्रत्येकमेतद् द्विविधं निरुक्तम् ।
पश्यन्ति लोका यदिदं तु शुक्लं निण्यं* न पश्यन्ति तदस्ति कृष्णम् ॥६८॥
आनन्द एष द्विविधोस्ति तावच्छान्तः समृद्धश्च, रसो य एकः ।
शान्तः स, यो भिन्नरसो विभिन्नैरर्थैः कृतात्मा स मितः समृद्धः ॥६९॥
स्यान्निर्विकल्पं सविकल्पमित्थं द्विधैव विज्ञानमिदं यदर्थैः ।
आकारितं तत् सविकल्पमाहुः स्यान्निर्विकल्पं विषयागृहीतम् ॥७०॥
सत्ता तु सामान्यमियं द्विधा स्याद् या निर्विशेषा सविशेषका या ।
प्रत्यर्थभिन्ना सविशेषका स्यात् सामान्यमन्त्यं त्विह निर्विशेषम् ॥७१॥
समृद्धमेते सविकल्पमेते पश्यन्ति लोकाः सविशेषमेते ।
तान्येव रूपाण्यभिमन्य, लोकातीतानि नान्यानि विमर्शयन्ति ॥७२॥

* निण्यमिति वैदिकभाषाशब्दोऽन्तर्हितार्थः ॥

विज्ञास्तु लोकाभिमतानि तानि ब्रुवन्ति तात्कालिकयोगजानि ।
वैकारिकत्वाच्च विनश्वरत्वान्नात्मस्वरूपाणि भवन्ति तानि ॥७३॥
रसस्य किञ्चिद्विषयावगाहिज्ञानस्य योगो ध्रियतेऽत्र यावत् ।
तावत् स आनन्द उदेति, पश्चाद् योगे विनष्टे स विनाशमेति ॥७४॥
द्रष्टा हि दृश्येन समेत्य सद्यो दृश्याकृतिं यात्यनुरज्यमानाम् ।
तदस्ति विज्ञानमथो वियुक्ते दृश्येपि सांस्कारिकमस्ति भानम् ॥७५॥
सत्तापि सामान्यमनेकशक्तिप्रपञ्चरूपं बहुनिष्ठमेकम् ।
योगं बहूनामनपेक्ष्य नूनं नोदेति सामान्यमिति प्रपद्ये ॥७६॥
यं कामिनीं काञ्चनमाप्य लोका आनन्दमत्रानुभवन्ति सोऽयम् ।
आनन्दमात्रानुभवोस्ति, न त्वानन्दोस्ति, सोऽन्योऽनुभवात् पदार्थः ॥७७॥
विज्ञानमेतद् विषयानुरक्तं विज्ञायते नो विषयातिरिक्तम् ।
स्वरूपतो ज्ञानमिदं न वीक्षे ज्ञाने गृहीतान् विषयान् समीक्षे ॥७८॥
अस्तीति बुद्धिर्नतु बुद्धिरस्तिः सत्ताश्रयोऽर्थो न स एव सत्ता ।
तस्मादिमे केवलतर्कगम्यास्त्रयोऽपि लोकातिगताः पदार्थाः ॥७९॥
पश्यन्ति लोका इतरे यथार्थानुपेक्षयन्ते तु मनस्विनस्तान् ।
यथा तु पश्यन्ति मनीषिणोऽर्थास्ते प्राकृतानां न दृशं गताः स्युः ॥८०॥

१६–भूमाणिमानौ ।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तदात्मरूपाण्यनु चार्थमर्थं भूम्नाप्यणिम्नापि च वृत्तिमागुः ॥८१॥
सन्तीह भौमास्तदिहास्ति भूमिर्ये तैजसाः सन्ति तदस्ति तेजः ।
भूम्यस्ति तेजोस्ति तदस्ति भूतं भूतानि देवाश्च जगत् तदस्ति ॥८२॥
जगन्ति सन्तीह बहूनि भिन्नान्येकोयमात्मा स परात्परोऽस्ति ।
सैकैव सत्ता स तथैक आत्मा तस्मादभिन्नं द्वयमेतदाहुः ॥८३॥
सामान्यमेकं बहुभिर्विशेषैः प्रतीयते तत् क्रमवर्द्धितं स्यात् ।
अन्त्यं तु सामान्यमवैमि सत्तां तज्ज्ञानमेवं विभु सोऽयमात्मा ॥८४॥
आनन्द एवास्ति बलस्य योनिरानन्दतः कर्म तु चेष्टितं यत् ।
यावद्भयं यावदिहास्ति शोकस्तावद्बलं नश्यति नूनमस्मिन् ॥८५॥
दुःखप्रतीतेः परमा तु काष्ठा मृत्युस्ततो जीवनमस्ति सौख्यम् ।
सानन्दमात्रा कृमिकीटपक्ष्यादिष्वेधते शक्तिमनु प्रवृद्धाम् ॥८६॥

नृभ्यो नृपाणां नृपतः स्वराजां तेभ्योपि विद्वत्तमयोगिनां च।
तेभ्यः सुराणां क्रमशः प्रवृद्धा याऽनन्दसत्ता परमेश्वरः सः ॥८७॥
भूमाऽणिमा स्यादणिमा च भूमा पृथग्बलोऽयं बलमस्ति यस्मिन् ।
स एक एवास्त्यणिमा स भूमा रसः स आनन्द इति प्रतीयात् ॥८८॥

१७–आनन्दस्योत्पत्तिस्थितिहेतुत्वम् ।

स्त्रीपुंसयोर्यत्र न हर्षसंभवस्तदा न गर्भस्थितिरिष्यते क्वचित् ।
गर्भच्युतिः स्याच्च विषादसंस्रवादानन्दतः सर्वमिदं प्रजायते ॥८९॥
न जीवने यस्य तु हर्षसंभवश्चिरं न जीवेत् स इहार्तिसंप्लुतः ।
प्रतिक्षणं जीवति हर्षमात्रया स सर्वतोऽन्नादिह तृप्तिमश्नुते ॥९०॥
यदोषधीर्वारि यदग्निवायू वाचं बलं ज्ञानमिहान्नमत्ति ।
स सर्वतस्तृप्तिमुपेत्य शश्वद्धर्षं स गृह्णाति स हर्ष आत्मा ॥९१॥
एतेषु वा सप्तविधेषु भोग्येष्वन्नेषु नानन्दरसो यदि स्यात् ।
आनन्द आत्मा विभवेन्न तेषु महांश्च न स्यान्न च तृप्तिमेयात् ॥९२॥
प्राण्यादिहान्यादपि कः क्षणं वा नानन्दमाकाशमिदं यदि स्यात् ।
शृणोति यत् पश्यति वेत्ति यद्वा धृतिं तदाप्नोति सुखं तदिष्टम् ॥९३॥
आहारतो वाथ विहारतो वा सा निर्वृतिर्यत्र रमेत लोके ।
सर्वत्र लोके रमते हि लोकस्तस्मात् स आनन्द इहास्ति भूमा ॥९४॥

१८–आनन्दविज्ञानसत्तानां समष्टेरव्याकृतरूपत्वम् ।

आनन्द इत्थं परमोऽथ सत्ता परा, परं ज्ञानमिति त्रयाणाम् ।
यत्रैक्यमायाति न तत्र सत्ता ज्ञानं स आनन्द इति प्रभेदः ॥९५॥
ज्ञानानि यावन्ति सुखानि यावन्त्येवं नु यावत्य इहार्थसत्ताः ।
एषां समष्टिध्रुवमस्ति काचित् स एष आत्माऽत्र न तद्विभेदः ॥९६॥

॥ इति प्रथमः सच्चिदानन्दखण्डः सम्पूर्णः ॥

ग्रथ कृष्णत्रिसत्योपनिषत्

तत्र

१–प्रथमः सच्चिदानन्दखण्डः

१–ग्रस्तिभातिरसास्त्रिसत्यम् ।

अस्ति (सत्ता), भाति (चेतना), रस (ग्रानन्द)–इन तीनों का सत्यत्वस्थापन—

[हिन्दीविज्ञानभाष्य]–ग्राभु ओर ग्रभ्व–ये ही दो इस सम्पूर्ण विश्व के मूल हैं। इन्हीं को द्रष्टा एवं दृश्य भी कहा जाता है, इन्हीं को ज्ञान एवं कर्म्म भी कहा जाता है। ये ही दोनों ग्रमृत-मृत्यु नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इन दोनों में से ग्रानन्द-विज्ञान-सत्ता-ये तीन स्वरूप ग्राभु के हैं एवं नाम, रूप, कर्म्म–ये तीन स्वरूप ग्रभ्व के हैं। इस ग्राभु-अभ्व के विषय में तीन मत प्रचलित हैं—

(१)–'ग्राभु' ही केवल सत्य है–'ग्रभ्व' सर्वथा मिथ्या है–ग्रभ्व कोई वस्तु नहीं है–यही पहला मत है। (२)–दूसरा मत है कि ग्राभु ग्रौर ग्रभ्व–दोनों ही चूंकि नित्य हैं, ग्रतएव दोनों ही सत्य हैं। (३)–तीसरा मत है कि अभ्व ही ग्रसली चीज है। आभुवाभू सारा प्रपञ्च झूंठा है–कपोलकल्पित है–पोपलीलामात्र है। बस, इन तीनों मतों के उपबृंहणस्वरूप ही ग्रन्य-ग्रन्य दर्शनों का स्वरूप निर्मित हो रहा है। इन मतों का इसी ग्रन्थ में आगे के प्रकरणों में उल्लेख ग्राएगा, अतः यहाँ इनके विषय में हम कुछ नहीं कहेंगे। 'ग्राभु' के विषय में दार्शनिक क्या-क्या मानते हैं? ग्रानन्द-सत्ता-चेतना तीनों एक हैं, ग्रतएव तीनों सर्वथा स्वतन्त्र हैं एवं तीनों ही सत्य हैं–इसी प्रकरण का प्रारम्भ किया जाता है।

आभु ग्रौर अभ्व–ये वैदिक पदार्थ हैं, ग्रतएव इनके दर्शन को हम वैदिकदर्शन कहेंगे। वेद की कुल ११३१ शाखाएं हैं। १००० (एक हजार) शाखाएँ सामवेद की हैं, १०१ (एक सौ एक) शाखा यजुर्वेद की हैं, ९ (नो)–अथर्वणवेद की हैं एवं २१ (इक्कीस) शाखाएँ ऋग्वेद की हैं। इनमें जो यजुर्वेद है, वह शुक्ल-कृष्णभेदेन दो भागों में विभक्त है। बस, जो कृष्ण यजुर्वेदी हैं–प्रथम हम उन्हीं के मत का प्रतिपादन करेंगे।

ग्रानन्दविज्ञानसत्तात्मक ग्राभु के विषय में–कृष्ण यजुर्वेदियों का क्या मत है? इसी प्रकरण का प्रारम्भ किया जाता है। कृष्ण यजुर्वेदी ग्रानन्द, विज्ञान, सत्ता–इन तीनों को सत्य मानते हैं, ग्रतएव इस प्रकरण का नाम '**कृष्णत्रिसत्योपनित्**' रक्खा गया है।

उन लोगों का कहना है कि जिस ग्राभु को सत्ताचेतनाआनन्दस्वरूप बतलाया जाता है, वह ग्राभु वास्तव में ग्रानन्द-सत्ता एवं चेतनात्मक ही है। तीनों पदार्थ सच्चे हैं। ग्रानन्द भी सत्य पदार्थ है–विज्ञान भी सत्य पदार्थ है एवं सत्ता भी सत्य पदार्थ है। जगत् की ग्रोर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो

हमें इन तीनों भावों के अविनाभूततया साक्षात्दर्शन होते हैं। सामने यदि पुस्तक रक्खी रहती है तो हम उसी समय कह उठते हैं कि देखो !–'वह पुस्तक है'। 'वह पुस्तक है'–'मैं इसे जानता हूँ'–इस वाक्य में अस्ति, भाति और रस अर्थात्–सत्ता-ज्ञान और आनन्द-तीनों भाव बैठे हुए हैं। पुस्तक है–यही अस्ति का अर्थात् सत्ता का प्रत्यक्ष हो रहा है एवं इसका मुझे भान हो रहा है, मैं इसे जान रहा हूँ, यही ज्ञान का स्वरूप है एवं जो है, एवं जिसे मैं जान रहा हूँ, वह अवश्य ज्ञान और सत्ता से पृथक् तीसरी वस्तु होनी चाहिए-बस, उसी का नाम है-रस। यदि हम किसी से कहते हैं कि देखो "यहाँ पर है"–उसी समय हम से प्रश्न होता है कि–क्या है? एवमेव यदि हम किसी से कहते हैं कि हम जानते हैं, उसी समय प्रश्न होता है-क्या जानते हैं? कहने का तात्पर्य्य यही है कि जिसको हम जानते हैं–जिसका हमें ज्ञान होता है एवं जो है, वही, ज्ञान और सत्ता से पृथक् जो तीसरा पदार्थ है–बस, उसे ही हम 'रस' कहते हैं एवं रस ही को आनन्द कहते हैं। आनन्द-स्वरूप यह रस ही है। इसी की प्राप्ति से एक प्रकार का आनन्द आता है, अतएव इस रस को हम आनन्द कहने के लिए तय्यार हैं। इसीलिए कहा जाता है—

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"।[1]

बनावटी बात नहीं है-बात वास्तव में सच है। जिस चीज के जानने की हमें उत्कण्ठा होती है–यदि उसका ज्ञान हो जाता है तो हमारी वह उत्कण्ठा शान्त हो जाती है। बस, इस शान्ति को ही तो आनन्द कहते हैं। शान्ति आनन्द का लक्षण है, अशान्ति दुःख का लक्षण है। यदि हमारी इच्छा जयपुर के रामनिवास बाग में जाने की है और इच्छानुसार यदि हमें रामनिवासबागस्वरूप रस की उपलब्धि हो जाती है तो शरीर में एक प्रकार का जो उफान उठ रहा था-वह शान्त हो जाता है। इसी का नाम आनन्द है। इसी आनन्द से मनुष्य की जिन्दगी रहती है। जिस समय आनन्द की मात्रा अल्प हो जाती है–समझ लो–यह जल्दी ही संसार से विदा होने वाला है। इसीलिए कहा जाता है—

"को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्"।[2]

"मैं घड़े को जानता हूँ"–'इसमें जानता हूँ'–यह ज्ञान का पार्ट है। 'घड़ा है'–यह 'है'–सता का सीगा है एवं 'जिसे जानता हूँ एवं जो है'-वह घट ही रसस्वरूप है। सारा विश्व इन्हीं तीनों भावों से आक्रान्त है। सच्चिदानन्दस्वरूप आभु से विनिर्मित यह विश्व भी सत्ता ही है। 'अस्ति'–यही तो विश्व का स्वरूप है। घड़ा है–पर्वत है–वन है–सूर्य्य है–चन्द्रमा है–यह परमाकाश है–इस 'है' 'है' के सिवाय और है भी क्या? सत्ता ही तो विश्व का साक्षात्स्वरूप है। एवमेव चित् ही तो विश्व का स्वरूप है। मैं इसे जानता हूँ–यह सारा विश्व ज्ञानमय है-ज्ञान से अलावा कोई चीज नहीं है। सारा विश्व चूँकि ईश्वर के ज्ञान से बना हुआ है, अतएव हम कह सकते हैं कि यह विश्व वास्तव में ज्ञानस्वरूप ही है एवं घट, पट, वस्त्र, अन्न, फल–इत्यादि से हमें आनन्द आया करता है–एवं इन्हीं की समष्टि का (घटपटादि की समष्टि का) नाम है-आनन्द। अतएव इस विश्व को हम आनन्दवत् कहने के लिए

१ तैत्तिरीयोप० २।७।　　२ तैत्तिरीयोप० २।७।

तय्यार हैं। अधिक कहना व्यर्थ है-इस सत्ता, चेतना, आनन्द के अलावा अस्ति, भाति, रस-इन तीनों से अलावा कोई चौथी चीज है ही नहीं। तीनों ही तत्त्व हैं, अतएव हम तीनों को ही सत्यस्वरूप कहने के लिए तय्यार हैं। परन्तु इतना हम फिर कह देते हैं कि अस्ति, भाति, रस-ये तीन पदार्थ अवश्य हैं, परन्तु तीनों सर्वथा अविनाभूततया रहते हैं। तीनों तीन होकर भी सर्वथा अभिन्नस्वरूप धारण करके ही अपनी स्थिति स्थापित करते हैं। जहाँ है, यह सत्ता है-वहाँ ज्ञान और रस भी मौजूद हैं। जहाँ रस है वहाँ अस्ति और भाति मौजूद हैं एवं जहाँ भाति है-वहाँ अस्ति और रस मौजूद हैं। अस्ति, भाति, रस-ये तीनों तीन होकर भी एक हैं। इलायची पर दृष्टि डालिए। इलायची एक है, परन्तु उसके पुड़त तीन हैं। तीनों पुड़त मिथ्या नहीं हैं। तीनों पुड़त वास्तव में सच्चे हैं। परन्तु तीनों अविनाभूत हैं। इलायची तीनों पुड़तों की समष्टि का नाम है। एवमेव आनन्द, सत्ता, चेतना-यह त्रित्व मिथ्या नहीं है। तीनों का हम साक्षात्दर्शन करते हैं। परन्तु तीनों अलग न रहकर एकत्र अभिन्नतया रहते हैं। तीनों को मिलाकर 'आभु' एक है। आभु ही ब्रह्म है। इस ब्रह्म के तीन अवयव हैं। जैसे हमारे शरीर से हाथ पैर अलग नहीं रहते-हाथ-पैर आदि अवयवसमष्टि से ही, शरीर, का स्वरूप बना हुआ है-तद्वत् आनन्द, सत्ता, चेतना-ये ब्रह्म के अवयव हैं। अवयवों से अवयवी का स्वरूप बनता है। अवयव अवयवी से अभिन्न है। सत्ता, चेतना, आनन्द-ये तीनों अभिन्न हैं। अस्ति, भाति, रस-ये तीनों सत्य हैं-तीनों अभिन्न हैं। इन तीनों से आलावा कुछ भी नहीं है। बात वास्तव में सच है। जो 'है'-जो जानना है एवं जिसको जानते हैं-अर्थात् जो 'है' है-वह पदार्थ है-इन तीनों से अलावा विश्व और बचता ही क्या है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

> "सत्ता चिदानन्द इति त्रिसत्यं, सत्तैव विश्वं नु चिदेव विश्वम्।
> विश्वं तथाऽऽनन्द इतो न किञ्चित् परं त्रयं चैतदभिन्नरूपम्" ॥१॥

सत्ता, चेतना और आनन्द-ये तीनों सामान्यविशेषभेद से दो प्रकार के हैं। सत्ता को छोटी करते चले जाइए। इससे छोटी यह-इससे छोटी यह-इससे छोटी यह-बस, जिससे छोटी कोई वस्तु न हो-वही सत्ता विशेषसत्ता कहलाती है। अणु से अणु की जो सत्ता है, वह परमविशेष सत्ता है। एवमेव उत्तरोत्तर सत्ता को बढाते चले जाइए। अक्षरों की सत्ता से बडी सत्ता कागज की है। कागज से पुस्तक की (सत्ता) बडी है। पुस्तक से टेबिल की सत्ता बडी है। टेबिल से कमरे की सत्ता बडी है। कमरे से मकान की सत्ता बडी है। मकान से रास्ते की सत्ता बडी है। रास्ते से बाजार की सत्ता बडी है। गरज यह है-उत्तरोत्तर बढाते चले जाइए-आखिर कहीं न कहीं इस सत्ता का विश्राम मानना ही पड़ेगा। बस, उसी को परमसामान्य कहते हैं। एक परमसामान्य है-महतोमहीयान् है-एवमेव एक परमविशेष है-अणोरणीयान् है। दोनों नियत हैं। परमसामान्य सामान्य ही है, परमविशेष विशेष ही है, एवं इन दोनों के बीच की जो सत्ताएँ हैं, वे सब अपेक्षया सामान्या एवं विशेषरूपा हैं। बीच के सब सामान्य हैं-सब विशेष हैं। इसी प्रकार का सामान्य-विशेषभाव ज्ञान और रस में समझना चाहिए।

यदि संसार के पदार्थों पर हम लक्ष्य देते हैं-यदि संसार के पदार्थों की सूक्ष्मदृष्टि से परीक्षा करते हैं तो हमें अनन्तानन्त भिन्न-भिन्न पदार्थों के दर्शन होते हैं। वृक्ष एक समझ रहे हैं, परन्तु परीक्षा

करने पर विज्ञानधिया देखने पर मालूम होता है कि वृक्ष में अनन्त पत्ते हैं। पत्तों में अनन्त सफेद धारिएँ हैं। प्रत्येक धारी अनन्तपरमाणुओं की समष्टि है। सब एक से एक भिन्न हैं। एक वृक्ष में हजारों शाखाएँ ऊपर दिखलाई दे रही हैं–उतनी ही पृथिवी के भीतर समा रही हैं। अनन्तानन्तभावों की समष्टि का नाम 'वृक्ष' है। वे अनन्तानन्तभाव परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। एक पत्ता दूसरे से पृथक् स्वरूप रखता है। पत्ते में रहने वाली धाराएँ–अपनी अपनी स्थिति भिन्न प्रकार से रखती हैं। 'वृक्ष' इस एकत्व के साम्राज्य में अनेकत्वनृत्य कर रहा है। इस प्रकार भीतर से भीतर–अन्तःप्रविष्ट होकर जब आप पदार्थों पर दृष्टि डालेंगे तो अनन्तानन्तभावों के दर्शन होंगे। कहना इससे यही है कि यदि पदार्थों पर दृष्टि डालते हैं तो उनमें रूढ अनन्तभावों के दर्शन होते हैं एवं यदि और भी गहरे पहुँचते हैं तो उन रूढों में भी निगूढभावों को देखते हैं। चाहे रूढ हों चाहे रूढों में निगूढ हों–इन सबका आलम्बनभूत यही त्रिसत्य है। एक अणु से अणु में भी अस्ति, भाति, रस–ये तीन पदार्थ मौजूद हैं। महान् से महान् में भी–ये तीनों मौजूद हैं। यच्चयावत् प्रपञ्चमात्र के आलम्बन ये ही तीनों हैं। कहने से–यह भाव समझ में नहीं आता। यह तो अनुभवैकगम्य है। अनुभवरसिक ही को इनका पता लग सकता है। आप संसार पर–संसार के पदार्थों पर लक्ष्य दीजिए। उन्हें परीक्षा की कसौटी पर कसिए। इन तीनों से अलावा और कोई चौथी चीज मिल ही नहीं सकती। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"यदस्ति किञ्चिद् यदि तत्परीक्षे पश्याम्यसंख्यानिह भिन्नभावान्।
रूढान्निगूढान् पुनरेषु वीक्षे सर्वावलम्बानिव तानिमांस्त्रीन्" ॥२॥

एक सत्तारस ही की व्यापकता समझ लेने से ज्ञान और आनन्द की व्यापकता प्रत्यक्ष हो जाती है। 'है' इसी को सत्ता कहते हैं। बस, हम आपको दावे के साथ कह सकते हैं कि यह–'है' सर्वत्र एक रूप से विद्यमान है। घड़ा भी है–पुस्तक भी है–कुर्सी भी है–मेज भी है–सूर्य भी है–सब 'है' हैं। यह–'है' रस–सारे भावों में–सारे पदार्थों में–अनुस्यूत है। भाव में ही नहीं–अभाव में भी 'है'–घुसा हुआ है। जैसे **घटोऽस्ति** में अस्ति, घुसा हुआ है–तद्वत् **घटो नास्ति** में भी अस्ति बैठा हुआ है। जैसे वह 'है' में है तद्वत्–नहीं में भी 'है' है। 'घड़ा नहीं है'–इस अभाव में भी नहीं के आगे–'है'–बैठा हुआ है। भाव किंवा अभाव सर्वत्र अस्ति व्यापकरूपेण बैठा हुआ है। भाव में अस्ति बैठा हुआ है, अभाव में नास्ति बैठा हुआ है। अभाव में केवल न मात्र विशेष है–'अस्ति' दोनों जगह समान है। इस प्रकार सर्वत्र-अस्ति यह बुद्धि-अव्यभिचारेण हो रही है। कहीं भी इस अस्ति का बाध नहीं है, अतएव इसे (अस्ति को) हम व्यापक कहने के लिए तय्यार हैं। चूंकि 'अस्ति' त्रिकालाबाधित है–व्यापक है–नित्य है, इसीलिए तो हम इसे 'ब्रह्म' कहते हैं। बस, जहाँ 'अस्ति' पकड़ में आया कि 'भाति और रस' पकड़ में आए। तीनों एक डोर में बँधे हुए हैं। जिसे आप 'है'–'है' कहते हैं, उसे ही तो जानते हैं। 'है' यही तो भान का अर्थात् ज्ञान का स्वरूप है। **घटोऽस्ति** यही तो ज्ञान का आकार है। यदि 'अस्ति' को अलगकर दिया जाए तो ज्ञान कोई चीज ही न बचे। इसीलिए तो–यह कहा जाता है—

"अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते"।[1]

'है'–यही तो उपलब्धि है। घड़ा है–इसलिए जानता हूँ–नहीं है–इसलिए नहीं जानता हूँ–यह सर्वलोकव्यवहार है–इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि–'है'–यह ज्ञान का स्वरूप है। अस्ति ही भाति है। यदि नास्ति तो न भाति। 'है' और भान दोनों कहने को दो हैं परन्तु दोनों अविनाभूत हैं एवं जो है एवं जिसका भान होता है–वह भाव्य ही रस है। रस भी 'है' अर्थात् सत्तास्वरूप है एवं रस का भी अनुभव होता है–मजा आता है–अनुभव ही को तो ज्ञान कहते हैं। तो रस का अनुभव होता है–इसका यही अर्थ है कि रस भी ज्ञानस्वरूप है। एवमेव ज्ञान और सत्ता भी एक पदार्थ हैं। पदार्थ ही को तो रस कहते हैं, अतएव ज्ञान और सत्ता भी रस स्वरूप ही है। कहाँ तक कहें ? सत्ता, ज्ञान, आनन्द–तीनों ऐसे मिले हुए हैं कि जिनका पृथक्करण किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता। इन तीनों में ही अस्ति, भाति, रस–इन तीन सत्यों में ही यह सारा प्रपञ्च प्रतिष्ठित है। इन तीनों से अतिरिक्त चौथी चीज है ही नहीं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते है—

"भावेऽप्यभावेऽपि यदस्ति नास्तीत्येवं भवत्यव्यभिचारतो धीः।
यदस्ति यद्भाति रसः स भाव्यस्तेष्वेषु सर्वं प्रतितिष्ठतीदम्" ॥३॥

—❀—

२–सत्ताप्रत्ययसमीक्रियाभिः परीक्षा।

सत्ता-प्रत्यय-समीक्रिया से (आभु की) परीक्षा—

सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीनों के अलावा जगत् में और कोई चौथी चीज है ही नहीं। तीन ही तत्त्व सत्य हैं एवं तीनों तीन होकर भी अभिन्नस्वरूप हैं। उस एक व्यापक आभु के अस्ति, भाति, रस–ये तीन सीगे हैं। तीनों ही सीगे चूंकि व्यापक हैं–नित्य हैं–अविनाशी हैं, अतः अवश्य ही हम इन्हें 'आभु' कहने के लिए तय्यार हैं। सत्ता भी व्यापक तत्त्व है, आनन्द भी व्यापक तत्त्व है एवं चेतना भी व्यापक तत्त्व है। व्यापक चूंकि एक ही वस्तु हो सकती है न कि तीन, इसीलिए तो हमने तीनों का स्वरूप अभिन्न बतलाया है। सच्चिदानन्द ही 'आभु' का स्वरूप है। सत्ता का नम्बर पहले है, अतः उस आभु तत्त्व के व्यापकता की परीक्षा हम पहले सत्ता से ही करते हैं।

जो वस्तु मौजूद रहती है–जिसका अस्तित्व रहता है, उसे 'सत्' शब्द से कहा जाता है एवं जिस वस्तु का अभाव रहता है, उस अभाव को 'असत्' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। सत् का अर्थ है मौजूदगी, असत् का अर्थ है–ना मौजूदगी। सत् और असत्–जगत् के ये दो ही मूल हैं। 'सत्' को कहते हैं–'आभु', असत् को कहते हैं–'अभ्व'। घट सत् है, घटाभाव असत् है। इस सत् का और असत् का

१ कठोप० २।६।१२।

ही यह सारा प्रपञ्च है। सारा प्रपञ्च सदसदात्मक ही है। कहना हमें यहाँ यही है कि चाहे आप 'सत्' का निर्वचन करें—चाहे असत् का अर्थात् अभाव का-जो कुछ भी आप मुँह से कहेंगे एवं जिसके लिए कहेंगे, उसमें सत्ता अवश्य ही रहती है। 'अस्ति' यह तत्त्व भावाभाव उभयत्र समानरूपेण सर्वत्र अनुस्यूत है। घड़ा सामने रक्खा है-उसके लिए भी आपको 'घड़ा है'-यही कहना पड़ेगा। यदि घटाभाव है—तब भी 'घड़ा नहीं है—यही कहना पड़ेगा। उभयत्र सत्ता का आश्रय अवश्य ही लेना पड़ेगा। संसार में मनुष्य—भावाभाव जिस किसी का भी निर्वचन करता है, सत्ता को छोड़कर वह हर्गिज निर्वचन नहीं कर सकता है। सत्ता एक ऐसा तत्त्व है-जो घट में भी अनुस्यूत रहता है तो घटाभाव में भी अनुस्यूत रहता है। इसीलिए घड़ा है तो वहाँ भी 'है' मौजूद है एवं घड़ा नहीं है तो—इस नहीं में भी (अभाव में भी) 'है' मौजूद है।

घड़ा, पर्वत, मनुष्य, पुस्तक, दवात, कलम, ड्राइङ्गपेपर, स्याही, कागज, पेंसिल—इत्यादि इत्यादि पदार्थ परस्पर सर्वथा भिन्न हैं—परन्तु सर्वथा भिन्न प्रकृतिक इन पदार्थों में 'अस्ति' यह बुद्धि समानरूप से मौजूद है। घड़ा भिन्न है—पर्वत भिन्न है, सूर्य्य भिन्न है—सारे पदार्थ भिन्न हैं। परन्तु भिन्न है-भिन्न है—के आगे रहने वाला 'है' सर्वत्र अभिन्न है। 'अस्ति' का उदर इतना बडा है कि उसमें सारा प्रपञ्च समा रहा है। 'है' का पर्दा सर्वत्र बिछा हुआ है। एक टेबिल पर हाथ रखिए। हाथ को आगे बढाते चलिए। अस्ति-अस्ति की प्रतीति होती रहेगी। जहाँ हाथ जाके रुक जाएगा, वहीं 'नास्ति' की प्रतीति हो जाएगी। परन्तु टेबिल की नास्ति है—न कि अस्ति की। टेबिल नहीं है तो टेबिल के बाद आकाश का अस्तित्व है। एक काली चद्दर पर जैसे हजारों सफेद तारे चमकते रहते हैं—तद्वत्—उस एक सत्ता के आधार पर संसार के नाना भावाभाव नृत्य करते रहते हैं। संसार के यच्चयावत् पदार्थों की यह सत्ता व्यापक आश्रय है। इस 'है' के पर्दे पर सारे सदसत् नाचा करते हैं। चूंकि सत्ता व्यापक है एवं यह आभु का स्वरूप है, अतएव सत्ता की अपेक्षा से सत्ता द्वारा परीक्षा करने से अवश्य ही हम इस 'आभु' को व्यापक कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"सच्चाप्यसच्चापि यदत्र किञ्चिन्निरुच्यते न व्यतिरिच्य सत्ताम्।
अस्तीति सर्वत्र समास्ति बुद्धिः सत्ताखिलानां विभुराश्रयस्तत्" ॥४॥

सत्ता द्वारा आभु के व्यापकत्व की परीक्षा हो चुकी। अब प्रत्यय द्वारा आभु के व्यापकत्व की परीक्षा करते हैं—

यहाँ पर यह पुस्तक मौजूद है, यहाँ पर यह मनुष्य खड़ा हुआ है, हमारी आलमारी में १० पुस्तकें उपनिषदों की रक्खी हुई हैं एवं यहाँ पर घड़ा नहीं है, रामलाल यहाँ मौजूद नहीं है, पुस्तक का इस स्थान पर सर्वथा अभाव है। बस, इन्हीं दोनों व्यवहारों को सदसत् नाम से पुकारा करते हैं। ये दोनों ही व्यवहार विना प्रत्यय के अर्थात् ज्ञान के कोई भी चीज नहीं है। हम जानते हैं—इसीलिए तो यह है और यह नहीं है—यह कहने को समर्थ होते हैं। घड़े को हम जानते हैं—इसीलिए तो घड़ा है एवं हम घटसत्तावत् घटाभाव को भी जानते हैं—तभी तो घटाभाव है। ज्ञान ही तो अस्ति-नास्ति

का-सदसत् का प्रवर्त्तक है। हमारे चौक में माटी के अन्दर द्रव्य गडा हुआ रक्खा है। परन्तु चूंकि हमें उसका ज्ञान नहीं-हमें मालूम नहीं कि हमारे चौक में सम्पत्ति रक्खी है, अतएव निःसन्दिग्ध होकर हम कह देते हैं कि सम्पत्ति नहीं है। ज्ञान ही तो अस्ति का परिचायक है। भींत के उस पार हजारों वस्तुएँ रक्खी हुई हैं, परन्तु आपको यदि मालूम नहीं है और आपसे कोई अनजान आदमी पूछता है तो आप कह देते हैं-मालूम नहीं। वहाँ तो कुछ भी नहीं है। मालूम है वहाँ-'उस वस्तु की सत्ता है'-यह तभी कह सकते हो-जबकि उसका ज्ञान हो-प्रत्यय हो। प्रत्यय के विना चाहे सत् पदार्थ हो-चाहे असत्-उनकी प्रतीति हो ही नहीं सकती। जो नेत्र से अन्धा है-उसे क्या मालूम? यह वस्तु है-यह नहीं है? ज्ञान ही-अस्ति-नास्ति का-सदसत् का साधक है।

कल्पना कर लीजिए-प्रातःकाल ७ बजे किसी सेठ ने आपके नाम से १० हजार रुपये का दान कर दिया। दैवयोग से आपको मालूम नहीं हुआ कि इस तरह मुझे रुपये मिले हैं। बस, आप अपनी पूर्ववत् अवस्था में ही रहते हैं। आपको अपने रुपयों के अस्तित्व का पता ही नहीं है। पता हो कैसे? पता तो ज्ञान में है। रुपये का अस्तित्व तो उनके मिलने का ज्ञान हो जाने पर ही उद्‌बुद्ध होता है। यदि प्रत्यय नहीं तो कुछ नहीं। वह घटपटादि जाने जाते हैं, इसीलिए हम उन्हें 'है'-यह कहने के लिए तय्यार हैं। कदाचित् कहो कि हम नहीं जानते हैं तो क्या हुआ-दूसरे तो जानते हैं कि यहाँ घड़ा है। इस प्रश्न के उत्तर में अधिक न कहकर केवल इतना ही कहना है कि भाई! हमारे ज्ञान से उसका अस्तित्व न सही दूसरे के ज्ञान से तो है। दूसरे के ज्ञान ही से तो उसका अस्तित्व है। ज्ञान के विना अस्ति कोई चीज नहीं-मात्र यह कहना है न कि इसमें हमारे तुम्हारे का सम्बन्ध होना है। यदि संसार का कोई भी मनुष्य उसका ज्ञान नहीं रखता है तो सिद्धान्त समझ लो-वह है ही नहीं। नहीं-यह भी ज्ञान की ही कृपा का फल है। है-यह भी ज्ञान ही की कृपा का फल है। घटपटादि जाने जाते हैं, अतएव वे हैं। बस, इसीलिए हम दावे के साथ कह सकते हैं कि संसार के यच्चयावत् पदार्थों का आश्रय-यह व्यापक ज्ञान ही है। ज्ञान ही (प्रत्यय ही) संसार के यच्चयावत् पदार्थों का आधार है। ज्ञान व्यापक है, अतएव हम इस ज्ञानापेक्षया अवश्य ही उस आभुतत्त्व को विश्व का आधार मानने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"सच्चाप्यसच्चापि यदत्र किञ्चिद्भवेन्न तत् प्रत्ययमन्तरेण।
विज्ञायते तेन तदस्ति सर्वं विश्वाश्रयो ज्ञानमतोऽखिलानाम्" ॥५॥

ज्ञान द्वारा भी आभुतत्त्व की परीक्षा हो चुकी। अब आनन्द द्वारा-समीक्रिया द्वारा आभु की परीक्षा करते हैं। समीक्रिया ही आनन्द का असली स्वरूप है-यह बतलाया जाता है—

संसार में अनन्त पदार्थ तो ऐसे हैं-जिनसे मनुष्य प्रेम करते हैं। उन्हें लेने की हरवक्त इच्छा किया करते हैं एवं कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जिन्हें वह सर्पवत् दूरतः त्याज्य समझते हैं। आम, नारङ्गी, जामून, दूध, मावा, मलाई, शर्बत-इत्यादि इत्यादि अनन्त पदार्थ तो ऐसे हैं-जिनको लेने के लिए मनुष्य हरवक्त लालायित रहता है एवं संखिया-बिच्छू इत्यादि इत्यादि अनन्तानन्त वस्तुएँ ऐसी हैं,

जिनसे मनुष्य कोसों दूर भागते हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि कितने ही पदार्थों की मनुष्य चाह किया करता है–कितनों ही को शत्रु समझता है–उनके साथ द्वेष करता है। कितने ही पदार्थ हेय हैं, कितने ही उपादेय हैं। बस, इन हेयोपादेय पदार्थों के परस्पर के योग से ही संसार के यच्चयावत् व्यवहारों की सिद्धि होती है। यदि मनुष्य सबसे प्रेम ही प्रेम करने लगे तब भी काम नहीं चल सकता एवं सबसे द्वेष ही द्वेष करने लगे तब भी काम नहीं चल सकता। दोनों के मेल से ही संसार के व्यवहार चलते हैं। व्यवहार ही नहीं चलते–शरीरस्थिति भी दोनों से ही होती है। बात वास्तव में ठीक है। संसार में मनुष्य सत्त्व-रज-तम भेदेन तीन सीगों में विभक्त हैं। कितने ही मनुष्यों का स्वभाव सात्त्विक है, कितनों ही का राजस है एवं कितनों ही का तामस है। एवमेव किसी का शरीर वातप्रधान है, किसी का कफप्रधान है एवं किसी का पित्तप्रधान है। भला, ऐसी अवस्था में सारे पदार्थ सबके लिए एकान्ततः हितकर ही अथवा अहितकर ही क्योंकर हो सकते हैं? किसी के लिए दूध अतिगुणदायक है, दूसरे के लिए वही विष का काम कर जाता है। कोई मनुष्य एक सेरभर घी पी जाए–तब भी उसका कुछ नहीं बिगड़ता है एवं कितनों ही के पावभर घी में सतंगे ढीले हो जाते हैं। किसी के लिए कोई विष है तो किसी के लिए कोई अमृत है। प्रकृति के अनुसार सारे पदार्थ हितकर एवं अहितकर–इन दो भागों में विभक्त हैं। इन दोनों के मेल से ही संसार का स्वरूप बन रहा है।

यह तो हुई–मनुष्यभेद की कथा। अब लीजिए–एक ही मनुष्य में। एक ही मनुष्य में भी जब तक हितकर एवं अहितकर का सम्मेलन होता रहता है–तभी तक उसकी जिन्दगी रहती है। बात जरा टेढी है, परन्तु थोड़ा सा विचार करने से सारा रहस्य मालूम हो जाता है। जो अन्न मनुष्य का जीवनाधार समझा जाता है–वही अन्न सन्निपातावस्था में अहितकर समझा जाता है एवं जो संखिया विष समझा जाता है, वही बीमारी के समय में अमृत का काम करता है। अहितकर-हितकर–दोनों के मेल से ही शरीर की स्थिति रहती है एवं दोनों के मेल से ही संसार का लोकव्यवहार चलता है। अधिक कहना व्यर्थ है। संसार के अखिल अर्थों की सिद्धि–हेय और उपादेय दोनों के मेल से ही होती है। जिस विष्ठा को आपामर आविद्वत् कुल त्याज्य समझते हैं–हेय समझते हैं, उदर में अधिक देर रह जाने के कारण–उदर पीड़ा द्वारा–जो यमराज बन जाती है, वह भी संसार के उपयोग में आती है। अनाज में-मूली में- गाजर में उसी का खाद दिया जाता है। इतना ही नहीं, अपि तु, जिस खेत में विष्ठा का खाद लगता है, उस क्षेत्र की वस्तु सामान्य क्षेत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक बलप्रद एवं स्वादिष्ट होती है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि त्याज्य-ग्राह्य दोनों के मेल से संसार के पदार्थों की स्थिति रहती है। अनवरत साथ रहने वाले इनमें–परस्पर में सदा उपकार्योपकारकत्वभाव बना रहता है। किसी समय में कोई उपकार्य्य बन जाता है तो कोई उपकारक बन जाता है, कोई उपकारक बन जाता है तो कोई उपकार्य्य बन जाता है। यह धाराक्रम अनवरत चलता रहता है। जैसा कि श्री गुरुवर ओझा जी कहते हैं—

"प्रीणन्ति वा यानि च विद्विषन्ति मिथोऽन्वितैस्तैरखिलार्थसिद्धिः।
अन्योन्यमेतेषु सदोपकार्य्योपकारकत्त्वं सततान्वितेषु" ॥६॥

समीक्रिया को ही शान्ति कहते हैं एवं विषमता को ही अशान्ति कहते हैं । शान्ति नाम सुख का है, अशान्ति नाम दुःख का है । इसीलिए तो हमने आनन्द का स्वरूप समीक्रिया ही बतलाया है । इस समीक्रिया के अनन्त उदाहरण हैं, जिनसे समीक्रियाजन्यशान्तितत्त्व सम्यक्तया समझ में आ जाता है । प्रकृत में हम इसी समीक्रिया के-एक दो दृष्टान्त बतलाएँगे ।

कल्पना कीजिए-आपके सामने पानी से भरे हुए दो पात्र रक्खे हैं । एक पात्र चूल्हे पर चढा हुआ है दूसरा बर्फ के ढेर ऊपर रक्खा हुआ है । दोनों ही पात्र छूए नहीं जाते हैं । बर्फ पर रक्खा हुआ पानी इतना ठंडा है कि उसका स्पर्श करते ही हाथ सुन्न हो जाता है एवमेव अग्नि पर रक्खा हुआ पानी इतना गरम है कि उसमें हाथ देते ही हाथ पर फफोले उपड़ आते हैं । बडी ही विकट परिस्थिति है । दोनों ही असह्य हैं । इस पात्र का पानी भी काटने को दौड़ता है-उसका भी काटने को दौड़ता है । दोनों ही अशान्तिप्रधान हैं-दोनों ही से पीड़ा होती है । कारण इसका यही विषमता है । पानी को जिस स्वरूप में रहना चाहिए था-अग्नि के कारण वह अपनी समीक्रिया से उबल रहा है । उसका धरातल सम नहीं है, अपि तु, विषम है । अग्नि की ज्वाला के प्रबलवेग के कारण वह ऊपर तक उबल कर विषमता को प्रकट कर रहा है । एवमेव पानी में जितना स्वाभाविक ठंडापना रहना चाहिए, उससे अधिक शैत्य का प्रवेश पानी में हो गया है । यही विषमता है । यही अशान्ति का-दुःख का कारण है । यदि आप किसी उपाय से इस विषमता को हटा सकते हैं तो हटाइए-देखिए अभी इस पानी में शान्तिधर्म्म का प्रवेश हो जाता है या नहीं । एक खाली तीसरा पात्र लीजिए । जिसमें पूर्व के दोनों पात्रों का पानी आ जाए । बस, दोनों पात्रों का पानी उस तीसरे पात्र में डाल दीजिए । बस, उस तप्तातितप्त पानी में जो अग्नि का बल था, वह उस ठंडे पानी की शीतता से उस तप्त पानी से अलग होकर-कम हो जाता है । अर्थात् जल के (ठंडे जल के) कारण अग्नि का बल अग्नि से अलग होकर कमजोर हो जाता है । गरम पानी में प्रविष्ट अग्निपरमाणु ठंडे जल के कारण शान्त हो जाते हैं-यही तात्पर्य्य है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"उद्रिक्तमग्नेर्बलमूनितं जलात् । अग्नेर्बलम्-उद्रिक्तं सत् जलादूनितम्" ।।

अग्नि का बल-जो कि जल की महिमा से अलग हो गया था-कम कर दिया गया-शान्त कर दिया गया । एवमेव उस ठंडे पानी का जो शीततम बल था, वह अग्नि द्वारा कम हो गया । बस, उस गर्म पानी की गर्मी ठंडे पानी से शान्त हो गई एवं ठंडे पानी का ठंडापना उस गरम पानी से शान्त हो गया । बस, इसकी अधिकता उसमें जा घुसी, उसकी अधिकता इसमें आ घुसी । इसी का तो नाम समीक्रिया है । खुलासा यही है कि जो ठंडा पानी हाथ लगाते ही काटने को दौड़ता था एवं जो गर्म पानी जरा भी नहीं सुहाता था-वही समीक्रिया के कारण सुहाने लग गया है । अब यदि हम उसमें हाथ डालते हैं तो बजाय अशान्ति के शान्ति का अनुभव होता है । अशान्त मनुष्य को दुःख हुआ करता है, परन्तु जो शान्ति के साम्राज्य में बैठा हुआ है-उससे दुःख का क्या सम्बन्ध ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"उद्रिक्तमग्नेर्बलमूनितं जलादुद्रिक्तमम्भोबलमूनमग्नितः ।
स्थितिं पृथिव्या गतिमेति वायुतो भवेद्विरुद्धद्वियुतेः समीक्रिया" ॥७॥

बस, इस समीक्रिया को ही 'शान्ति' कहते हैं। आप १०० (एक सौ) ब्राह्मणों को अपने घर भोजन करने के लिए बुलाइए। यदि आपने पंक्ति में भेद कर डाला तो समझ लीजिए-वहाँ अशान्ति का राज्य हो गया। जामाता के लिए आपने अच्छे-अच्छे पकवान बना लिए एवं और आगन्तुक निमन्त्रित ब्राह्मणों के लिए मामूली तय्यारी बनाली तो समझ लीजिए-सारे ब्राह्मणों का हृदय मारे अशान्ति के खौल उठेगा। कहने की बात नहीं है-प्रत्यक्ष करके देख लीजिए। विषमता हर समय दुःख उत्पन्न करने वाली अशान्ति का राज्य फैलाने वाली है।

पिता दायविभाग करते समय यदि किसी बात में विषमता कर डालता है तो वह विषमता दायादों में घोर अशान्ति उत्पन्न कर देती है। परन्तु यदि सबका हिस्सा समान हो जाता है तो फिर अशान्ति का नामनिशान भी नहीं रहता। बात वास्तव में ठीक है। समान विभाग होता है-यदि विभाग में समता रहती है तो मन की वृत्ति भी शान्त रहती है। उसमें उछाल नहीं होती-उसमें क्षोभ नहीं होता। परन्तु विभाग में गड़बड़ कर दी जाती है तो मन दौड़कर उस अधिक भाग पर आक्रमण करता है। बस, इस मन की गति का-आक्रमण का नाम ही अशान्ति है-इसी का नाम दुःख है।

समीक्रिया ही शान्ति का स्वरूप है। यही प्रसाद है अर्थात् प्रसन्नता है। शान्ति ही प्रसन्नता का स्वरूप है। यदि आपको अपने पुत्र सदा प्रसन्नरूप से रखने हैं तो उनमें भेदभाव कभी मत कीजिए। यदि निमन्त्रित ब्राह्मणों को भोजन कराके प्रसन्न करना है तो पङ्क्तिभेद हर्गिज-हर्गिज मत कीजिए। क्योंकि ऐसा करने से अशान्ति होती है एवं अशान्ति का नाम ही दुःख है। अशान्ति दुःखस्वरूपिणी है-शान्ति प्रसाद है-प्रसन्नता है।

व्यापक दृष्टि से यदि आप संसार पर नजर डालेंगे तो आपको सारा प्रपञ्च परस्पर समत्व को प्राप्त करता हुआ मिलेगा। व्यापक बुद्धि से देखने पर आपको मालूम होगा कि सब सबसे समत्व को प्राप्त हो रहा है। सारा विश्व समीक्रिया से ओतप्रोत है। व्यक्ति पर ध्यान देने से आपको अशान्ति नजर आवेगी, परन्तु व्यापक पर ध्यान देने से आपको सारा संसार सर्वथा अक्षुब्ध-परिपूर्ण-शान्त ही दिखलाई पड़ेगा। सारा संसार शान्तस्वरूप है। बस, इस शान्तत्व को ही हम 'आनन्द' कहने के लिए तय्यार हैं। समीक्रिया का नाम ही शान्ति है एवं शान्ति का नाम ही 'आनन्द' है।

जैसे 'अस्ति' यह सत्तारस सर्वत्र अभिव्याप्त है एवं जैसे **ज्ञायते** यह ज्ञानरस सर्वत्र अभिव्याप्त है। बस, ठीक इसी प्रकार से यह व्यापक शान्ति जिसे कि हम आनन्द कहेंगे-सर्वत्र व्याप्त हो रही है। जैसे एक 'है' के पेट में घटपटादि नानाभाव नृत्य कर रहे हैं एवं जैसे 'ज्ञायते' इस ज्ञान में घटपटादि-विविध ज्ञान नृत्य कर रहे हैं तद्वत् इस एक व्यापक शान्ति के पेट में-आनन्द के पेट में-अशान्तियाँ नृत्य कर रही हैं। आनन्द पूर्ण है। इसी अभिप्राय से वेद भगवान् कहते हैं—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य' पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' ।।[1]

बस, इस समीक्रिया द्वारा भी हम आभु को व्यापक, नित्य, पूर्ण एवं आनन्दस्वरूप कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"समीक्रिया शान्तिरयं प्रसादः सर्वं हि सर्वेण समत्वमाप्तम् ।
अक्षुब्धरूपं परिपूर्णशान्तं तमेवमानन्दमहं वदामि" ।।८।।

——❀——

३–शक्तिविकाशालम्बनैः परीक्षा।

शक्ति, विकाश, आलम्बन से (सच्चिदानन्दात्मक आभु की) परीक्षा—

हमने जिस आभु को सत्ता-चेतना एवं आनन्दस्वरूप बतलाया है–उससे परमानन्द-परमज्ञान एवं परमसत्ता ही अभिप्रेत है। सत्ता, ज्ञान, आनन्द–तीनों सामान्य-विशेष भेदेन दो-दो प्रकार के बतलाए हैं। इनमें से जो परमसत्ता है–परम आनन्द है एवं परम विज्ञान है, जिनसे कि बडी न कोई सत्ता है–न कोई ज्ञान है एवं न कोई शान्ति है अर्थात् आनन्द है–बस, वही ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप है। संसार में अनुभूत जो शान्ति है जो कि सर्वलोकसिद्ध है–उसे बडी करते जाइए। बडी करते-करते जहाँ आप उसका अन्तिम सीमान्त पावें–उसी का नाम परमशान्ति है। बस, उसे ही हम आनन्द करने के लिए तय्यार हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि शान्ति सर्वलोकसिद्धतत्त्व है। आपामर आविद्वज्जन इसके स्वरूप को पहचानते हैं। इसी का नाम 'आनन्द' है–यही 'आभु' है। आभु अमृत है। अमृत इन्द्रियागोचर है। स्वानुभवैकगम्य है, अतएव शान्ति का आप अनुभवमात्र कर सकते हैं। शान्ति काली है–पीली है या नीली है–इस प्रकार से उसका निर्वचन नहीं कर सकते। इस प्रकार आनन्द के साक्षात् दर्शन आपको हो गए। अब चलिए ज्ञान पर। सत्तानन्दज्ञान में-उस ज्ञान का ग्रहण है जो कि परम-शान्तिवत् परमविकाशस्वरूप है। सबसे पहले हमें अपने शारीरज्ञान का अनुभव करना चाहिए। स्वज्ञान पर जब हम लक्ष्य देते हैं तो वह हमें प्रकाशस्वरूप दिखलाई पड़ता है। आँख खोलते ही–उसी ज्ञान ज्योति से सारा विश्व चमक पड़ता है। आँख को भी मत खोलिए–बन्द रखिए–इस अवस्था में भी ज्ञानप्रकाश करता ही रहता है। इस अवस्था में भी खयाली जगत् उस ज्ञान से प्रकाशित हो रहा है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि ज्ञान विकाशस्वरूप है। जैसे शान्ति की मात्रा बढाई गई थी तद्वत् आप इस ज्ञान की मात्रा को बढाते जाइए। बढाते-बढाते वहाँ तक पहुँच जाइए जिससे कि बडा कोई ज्ञान नहीं है। बस, वह व्यापक ज्ञान ही जिसके अंशस्वरूप हम (जीव) हैं–वही 'आभु' का

१ ईशोप० मंगलपाठ।

साक्षात्स्वरूप है। जो परमविकाश है। जिसके कि विकाश से सूर्य्य-चन्द्रमा तक प्रकाशित हो रहे हैं–उसे ही हम 'आभु वाला ज्ञान' कहेंगे। जैसे शान्ति के प्रत्यक्षदर्शन आपने किए थे–कहिए–ज्ञान के भी दर्शन हुए या नहीं? सिवाय 'हाँ' के और दूसरा उत्तर आप दे ही क्या सकते हैं? तीसरा स्वरूप है–सत्ता। इसके विषय में तो हमें कुछ कहना ही नहीं। संसार में प्रत्येक मनुष्य की जबान पर लोकव्यवहार शिरोमणि–जो 'अस्ति'–'अस्ति' है–उसे कौन नहीं जानता है? एक पाँच वर्ष का बालक भी–यह आम है–यह नारङ्गी है–यह लड्डू है–इस प्रकार 'है' का दर्शन कर रहा है। 'है' ही का नाम तो सत्ता है। 'है'–इसी से तो सारे विश्व का लोकव्यवहार चलता है। इस प्रकार आनन्द-ज्ञानवत् सत्ता भी अवश्य ही साक्षात् तत्त्व है जिसके कि हम २४सों घण्टे दर्शन करते रहते हैं। सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य्य यही है कि उस सच्चिदानन्द भगवान् के जिसे कि 'आभु' बतलाया है–हम साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं —

"आनन्द इत्थं परमात्र शान्तिर्ज्ञानं तु योऽयं परमो विकासः।
अस्त्यस्तिलोकव्यवहारहेतुः सत्तापि साक्षादिव कश्चिदर्थः" ॥६॥

'है' इस अस्तित्व का नाम ही सत्ता है। इस अस्तित्व का 'है' का भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न लक्षण किया है। कोई **उपलब्धिः सत्**–सत्ता का यह लक्षण करते हैं, कई (बौद्ध) **अर्थक्रिया-कारित्वं सत्**-यह लक्षण करते हैं एवं कई (जैनाचार्य) **उत्पादव्ययध्रौव्यं सत्**-यह लक्षण करते हैं। इन तीनों लक्षणों में से एक को भी गलत नहीं बतलाया जा सकता। अपने अपने दृष्टिकोणों के हिसाब से तीनों लक्षण ठीक हैं। संसार का सारा प्रपञ्च मन-प्राण-वाङ्मय है। यदि सच पूछा जाए तो हम मन-प्राण-वाक् के समूह को ही 'सत्ता' कहने के लिए तय्यार हैं। कारण इसका यही है कि 'है'–इसी का नाम है सत्ता। यह 'है' व्यवहार मन-प्राण-वाक् से ही सम्बन्ध रखता है। मन ज्ञान का जनक है–प्राण क्रिया का जनक है एवं वाक् अर्थ की (पदार्थ की) जननी है। ज्ञानक्रियाअर्थ की समष्टि का नाम ही तो घट है। अर्थ और वाक्–दोनों एक सीगे की चीज हैं। प्राण और क्रिया–दोनों समान जातीय हैं एवं मन और ज्ञान–दोनों एक वस्तु हैं। अतएव हम–**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** वत् **'स वा एष आत्मा अर्थमयः क्रियामयो ज्ञानमयः'**–यह भी कह सकते हैं। आप 'घट' पर दृष्टि डालिए, आपको इन ज्ञानक्रियाअर्थों का स्फीत प्रत्यक्ष हो जाएगा। अर्थ उस वस्तु का नाम है–जो धामच्छद हो अर्थात् स्थान रोकने वाली है। चूंकि घड़े ने जमीन का कितना ही हिस्सा रोक रक्खा है, अतएव इस घट को हम 'अर्थ' अर्थात् वाक् कहने के लिए तय्यार हैं। एवमेव घड़े में हरवक्त कुछ न कुछ आदानविसर्गात्मक क्रिया होती रहती है। इसीलिए तो घड़े के स्वरूप में परिवर्त्तन होता रहता है। जो घड़ा नूतनावस्था में एकदम मजबूत रहता है–वही इस प्रतिक्षण में होने वाली क्रिया की महिमा से कालान्तर में जाकर जीर्ण हो जाता है। यही हालत वस्त्र-कपाट-मनुष्यादि की अवस्थाओं में समझनी चाहिए। कहने का तात्पर्य्य यही है कि घड़ा कुर्वद्रूप भी है एवं वह घड़ा ज्ञानस्वरूप भी है। इसमें अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। हम घड़े को जानते हैं, हमारे ज्ञान में घड़ा आ जाता है–यही घट की ज्ञानस्वरूपता में प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि घड़े में ज्ञान न होता–ज्ञानस्वरूप न होता

तो हम 'ज्ञायते'–यह कभी नहीं कह सकते हैं। कारण इसका यही है कि सजातीयपदार्थों का ही परस्पर सम्बन्ध हुआ करता है न कि विजातीयों का। हम (जीव) ज्ञानक्रिया अर्थमय हैं। इनमें से ज्ञान अर्थात् मन 'मन' पर दौड़ता है, क्रिया का सम्बन्ध क्रिया से होता है–अर्थ का सम्बन्ध अर्थ से होता है। जब तीनों की तीनों से कड़ी मिल जाती है तो तदनन्तर **घटमहं जानामि**–यह प्रत्यय होता है। यदि घट में ज्ञान न होता तो हमारा ज्ञान कभी उसकी ओर नहीं दौड़ सकता था। परन्तु दौड़ता है, अतः मानना पड़ता है कि अहंवत्-घटपटादि यच्चयावत् पदार्थ ज्ञानक्रियाअर्थमय ही हैं। ज्ञानमय घट है–इसलिए तो वह 'ज्ञायते' का अधिकारी होता है। क्रियामय है–इसीलिए कुर्वद्रूप है। अर्थमय है–इसीलिए धामच्छद है अर्थात् स्थानावरोधी है।

कहना हमें यही है कि चूंकि घटपटादि यच्चयावत् पदार्थ मन-प्राण-वाङ्मय हैं अर्थात् ज्ञानक्रियार्थमय हैं। मन-प्राण-वाक् समष्टि ही 'है'–इस व्यवहार में कारण है। यदि तीनों नहीं हैं तो घड़ा भी नहीं है, अतएव हम मन-प्राण-वाक् समष्टि को सत्ता 'है' कहने के लिए तय्यार हैं। जब घटादि ज्ञान-क्रिया-अर्थमय हैं तो अवश्य ही सत्ता के पूर्वोक्त तीनों लक्षण हो सकते हैं। **घटोऽस्ति**–इस 'अस्ति' में अर्थात् सत्ता में ज्ञान भी है, अतः इस ज्ञान की अपेक्षा से **उपलब्धिः सत्**–यह भी कहा जा सकता है एवं चूंकि **घटोऽस्ति**–सत्ता में क्रिया भी है, अतः क्रिया की अपेक्षा से **अर्थक्रियाकारित्वं सत्**–यह भी कहा जा सकता है एवं 'वाक्' (धामच्छद) की अपेक्षा **उत्पादव्ययध्रौव्यं सत्**–यह भी कहा जा सकता है। घड़ा उत्पन्न हुआ है–अभी वर्त्तमान है-नष्ट होगा। उत्पत्ति, स्थिति, नाश–ये तीनों धर्म्म वाक् के प्रातिस्विक धर्म्म हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि तीनों लक्षण ठीक हैं। तीनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। प्रकृत में तीनों में से एक लक्षण का विचार किया गया है। बौद्ध दार्शनिक **अर्थक्रियाकारित्वं सत्**–सत्ता का यह लक्षण मानते हैं। वे सत्ता को अर्थकारिता मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे अनन्तानन्त वृक्ष-समष्टि से 'वन' का स्वरूप बन जाता है। हाथ, पैर, नाक, मुंह, कान–इत्यादि इत्यादि से 'शरीर' का स्वरूप बन जाता है, तद्वत् क्रिया की समष्टि से ही 'है'–यह स्वरूप बन जाता है। आप एक-एक वृक्ष को काटते चले जाइए। काटते-काटते सारे वृक्षों को काट दीजिए। बस, वन का स्वरूप अपने आप नष्ट हो जाएगा। क्योंकि वन की सत्ता वृक्षसमष्टि पर ही तो अवलम्बित है। एवमेव अनन्त सिपाही समूह के लिए 'सेना है'–यह कहा जाता है। यह सेना है–यह 'है' भी अर्थात् 'सत्ता' भी सिवाय सिपाही समूह के और कोई वस्तु नहीं है। यदि एक-एक करके सारे सिपाही मार दिए जाएँ तो 'सेना' के अस्तित्व का स्वरूप ही नष्ट हो जाए। पत्ते-शाखा-टहनियाँ-टहणें-जड़–इत्यादि इत्यादि समष्टि के लिए ही **वृक्षोऽस्ति**–कहा जाता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि समष्टि से ही 'अस्ति' का स्वरूप बनता है। क्रिया की समष्टि ही 'है' कहलाने लगती है। यदि एक-एक करके सारी क्रिया घट में से निकाल ली जाएगी तो फिर 'अस्ति' कोई चीज ही नहीं रहेगी। बस, **अर्थक्रियाकारित्वं सत्**–इस लक्षण का यही तात्पर्य्य है।

क्रिया ही–अर्थात् क्रिया की समष्टि ही सत्ता है। हम नहीं समझे–'क्रिया' किस चिड़िया का नाम है? जब तक क्रिया का स्वरूप न समझें, तब तक तत्समष्टिस्वरूप-सत्ता का स्वरूप क्योंकर समझ में आ सकता है? बस, उस क्रिया का ही स्वरूप बतलाते हैं।

लोक में जिसे 'शक्ति' शब्द से–ताकत शब्द से–बल शब्द से व्यवहृत किया जाता है–बस, उसी का नाम क्रिया है। क्रिया का नाम शक्ति है। हमने 'ग्राभु' ग्रौर 'ग्रभ्व'–ये दो तत्त्व बतलाए हैं। ग्राभु को 'रस' कहा जाता है एवं अभ्व को 'बल' कहा जाता है। सारा प्रपञ्च रसबलमय ही तो है। रस को 'ब्रह्म' कहा जाता है–बल को 'कर्म्म' कहा जाता है। ब्रह्मकर्म्म के ग्रलावा ग्रौर है ही क्या ? बल सर्वथा सक्रिय है, रस सर्वथा निष्क्रिय है। रस शान्त है–बल ग्रशान्त है। उस शान्तरस में ग्रशान्त क्रियास्वरूप बल नाचा करता है। बस, इस बल ही को तो 'शक्ति' कहते हैं एवं बल ही को क्रिया कहते हैं एवं क्रिया ही को शक्ति कहते हैं एवं संकलित शक्ति का नाम ही 'सत्ता' है। सत्ता ग्रौर शक्ति में यही फर्क है। बलसमुच्चय सत्ता है, प्रत्येक बल शक्ति है। प्रत्येक पदार्थ में ग्रनन्त शक्तियाँ रहती हैं एवं सत्ता एक रहती है। उदाहरणार्थ पानी को ले लीजिए। पानी में द्रवीभूत करने की शक्ति है–ताप को शान्त करने की शक्ति है–प्यास को बुझाने की शक्ति है–इत्यादि इत्यादि ग्रनेक शक्तियाँ हैं। परन्तु पानी है–यह सत्ता एक है। तात्पर्य्य यही है कि बलों की उन्मुग्धावस्था का नाम सत्ता है एवं उद्‌बुद्धावस्था का नाम शक्ति है। प्रत्येक पदार्थ में ग्रनन्त बल होते हैं। कई बल ग्रागन्तुक होते हैं, कई बल उस पदार्थ का ग्रात्मा बन जाते हैं। जिस दिन ग्रात्मबल निकल जाता है–उस दिन वह पदार्थ ही नहीं रहता है। परन्तु कई बल ऐसे होते हैं जो ग्राते रहते हैं एवं निकलते रहते हैं तथा कई बल ऐसे हैं–जो वस्तु के साथ बद्ध न होकर भी वस्तु के साथ अविनाभूततया लागू रहते हैं। दिक्, देश, काल, परत्व, ग्रपरत्व–इत्यादि बल इसी कोटि में हैं। कहाँ तक कहें ? बल ग्रनन्त हैं–उनके कार्य्य भी ग्रनन्त हैं। बल तारतम्य को पहचानना बडा ही दुष्कर है। बल का मार्ग बडा ही दुस्तर है। बल को ही कर्म्म कहते हैं। इस कर्म्म प्रपञ्च को विरला ही पहचानता है। इस कर्म्म के लिए भगवान् कहते हैं—

"कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
ग्रकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्म्मणो गतिः" ॥[1]

प्रकृत में हमें यही कहना है कि क्रिया नाम बल का है। बल ही को 'शक्ति' कहते हैं एवं शक्ति-समूह को 'सत्ता' कहते हैं। प्रत्येक बल 'शक्ति' नाम से व्यवहृत होता है एवं बलसमुच्चय ग्रर्थात् संकलितशक्तियाँ 'सत्ता' नाम से व्यवहृत होती हैं।

सबका खुलासा यही हुग्रा कि ग्रर्थक्रियाकारित्व ही सत्ता का असली स्वरूप है। क्रिया का नाम ही सत्ता है। शक्ति को ही क्रिया कहते हैं एवं बल को ही शक्ति कहते हैं। बलों को ही क्रिया कहते हैं एवं संकलितशक्तियों का नाम ही 'सत्ता' है। जैसा कि गुरुवर श्री ग्रोझा जी कहते हैं—

"ग्रप्यत्र सत्तां विदुरर्थकारितां क्रियैव सत्तापि च शक्तयः क्रियाः।
बलं हि शक्तिर्बलमेव ताः क्रियाः सत्ता ततः संकलिता हि शक्तयः" ॥१०॥

१ गीता ४।१७।

शक्ति को ही हमने 'बल' कहा है। यह शक्ति अर्थात् बल 'मूल और तूल' भेदेन दो प्रकार की हैं। मूल 'कारण' को कहते हैं-तूल 'कार्य्य' को कहते हैं। कपास का वृक्ष मूल है-रूई तूल है। मिट्टी मूल है-घट तूल है। पिता मूल है-पुत्र तूल है। कारण-कार्य्य को ही क्रमशः मूल एवं तूल कहा जाता है। जिसे हमने शक्ति अर्थात् बल कहा है-वह भी मूल और तूल भेदेन दो प्रकार का समझना चाहिए। जो शक्ति मूलस्वरूपिणी है-उसे हम 'बल' नाम से व्यवहृत करेंगे एवं जो शक्ति तूलस्वरूपिणी है-उसे हम 'क्रिया' नाम से व्यवहृत करेंगे। बस, इस प्रकार मूल-तूल भेदेन वह शक्ति-'क्रिया और बल'-इन दो भागों में विभक्त हो जाती है।

हमने **मूलोपनिषत्** में कहा था कि सर्वबलविशिष्ट जो रस है अर्थात् प्रसुप्त बलयुक्त जो रस है, सबसे प्रथम उसमें एक अनिर्वचनीय मायाबल का उदय होता है। उस मायाबल के पेट में फिर अनन्तानन्त बलों का प्रादुर्भाव होता है। बस, मायाबल के कारण प्रसुप्त बल जाग उठता है एवं उसी से सारी सृष्टियों का निर्म्माण होता है। परन्तु बल का कुछ हिस्सा ही सृष्टि के काम में आता है। अनन्त बल अब भी ज्यों का त्यों ही बना रहता है। जैसे एक ही रस सृष्ट, सृष्टानुप्रविष्ट एवं प्रविविक्त भेदेन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। पदार्थस्वरूप में जो रस बद्ध हो जाता है-वह 'सृष्टब्रह्म' कहलाता है एवं पदार्थ में आत्मा रूप से बैठा हुआ रस 'प्रविष्टब्रह्म' कहलाता है। प्रविष्टब्रह्म के लिए ही-**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**[1]-कहा जाता है। जो बाकी बचा हुआ रस है-वही 'प्रविविक्त' कहलाता है। बस, इसी प्रकार जो बल-बल का जितना अंश सृष्टिस्वरूप में-कार्य्यरूप में-तूलरूप में परिणत हो गया है-वह 'क्रिया' नाम से व्यवहृत होने लगता है। होना भी चाहिए ही। जबकि सृष्टि में परिणत हो गया तो फिर क्रियाधर्म्म अलग हो ही क्योंकर सकता है? कहने का तात्पर्य्य यही है कि 'बल का थोड़ा सा अंश जो कि सृष्टिस्वरूप में परिणत हो गया है-वही 'क्रिया' नाम से व्यवहृत होता है एवं जो अवशिष्ट मूलभूत-अतिमात्रा में बची हुई शक्ति 'बल' ही कहलाती है। बल ही तूलक्रिया का मूल है। बलांश ही तो क्रियारूप में परिणत हो रहा है। जो बल सृष्टिस्वरूप में परिणत होकर क्रियास्वरूप में परिणत हो गया है-वह बल अर्थात् क्रिया क्षणस्था है एवं विनाशिनी है। उत्पत्ति-स्थिति-लय-बस, वह क्रिया इसी चक्र में फँसी रहती है। क्षणिकं क्षणिकं-यही इस क्रिया का साक्षात्स्वरूप है। परन्तु याद रखिए-इस क्रिया का मूलभूत जो संसारनिर्म्माणक्रिया से पृथग्भूत अवशिष्टबल है-वह आज भी अविनाशीस्वरूप से इस विश्व के जर्रे-जर्रे में व्याप्त हो रहा है।

प्रविविक्तब्रह्म सृष्टि से अलग है-इसका तात्पर्य्य यह थोड़े ही है कि वह सृष्टि के बाहर ही रहता है। हमारे से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। नहीं नहीं-वह सृष्टि में परिणत नहीं होकर असंगतया सर्वत्र व्याप्त रहता है-यही 'प्रविविक्त' का तात्पर्य्य है। वह रहता हुआ भी नहीं रहता-प्रविविक्त का यही अर्थ समझना चाहिए। बस, इसी प्रकार बल का जितना अंश क्रियारूप में परिणत हो विश्व का स्वरूप बन गया है-उससे अलग 'बल' नाम से व्यवहृत होने वाला-इस क्रिया का जो मूल विश्व के बाहर

१. तैत्ति० उप० २।६।

है-इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि यहाँ उसकी सत्ता ही नहीं है। नहीं नहीं-रसवत्-प्रविविक्तब्रह्मवत्-इस प्रविविक्तबल की सत्ता भी अवश्य है। फ़र्क दोनों में (बल-क्रिया में) इतना है कि क्रिया क्षणस्था है-विनाशिनी है एवं क्रिया का मूलभूत बल आज भी अविनाशीस्वरूपेण से विश्व में व्याप्त हो रहा है। उसी मूल पर तो तूलक्रिया शयन कर रही है।

तात्पर्य्य यही हुआ कि वह शक्ति मूल-तूल भेदेन दो प्रकार की है। मूल को बल कहते हैं-तूल को क्रिया कहते हैं। क्रिया क्षणस्था है-विनाशिनी है। उस क्रिया का मूल आज भी नित्यतया विश्व के जर्रे-जर्रे में घुसा हुआ है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"मूलं च तूलं द्विविधा हि शक्तयो मूलं बलं तूलमिमां क्रियां विदुः।
क्रिया क्षणस्था च विनाशिनी च सा तन्मूलमद्याप्यविनाशि विश्वगम्" ॥११॥

जिस वस्तु का कभी नाश नहीं होता-जो अविनाशी है-उसे हम 'अमृत' कहने के लिए तय्यार है। मरणधर्म्मा को 'मर्त्य' कहा जाता है एवं नित्यतत्त्व को 'अमृत' कहा जाता है। अमृत ही को 'आभु' कहा जाता है। यह 'आभु' ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानकन्दल आनन्द कहलाता है-उसकी रश्मियाँ 'ज्ञान' नाम से व्यवहृत होती हैं एवं प्रतिफलित रश्मियाँ सत्ता नाम से व्यवहृत होती हैं। एक ही ज्ञान तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। ज्ञान, आभु, अमृत-तीनों पर्य्याय हैं। हमने बतलाया है कि शक्ति मूल-तूल भेदेन दो प्रकार की है। संसारस्वरूप में परिणत शक्ति का नाम तूल है एवं अवशिष्ट विश्वातीत, परन्तु विश्व में व्याप्त उस दूसरी शक्ति का नाम मूल है। मूल को बल कहते हैं, तूल को क्रिया कहते हैं। मूल नित्य पदार्थ है, तूल अर्थात् क्रिया नाशवान् है-क्षणस्था है। इन दोनों शक्तियों में से जो बलस्वरूपिणी शक्ति है-जिसे कि हमने 'मूल' कहा है-वह नित्य होने के कारण एक प्रकार से ज्ञानस्वरूपिणी ही है। नित्यत्वात्-उस मूलशक्ति को हम 'ज्ञान' नाम से अवश्य ही व्यवहृत कर सकते हैं। मूलशक्ति ज्ञानात्मिका है-न कि क्रियात्मिका। मूलशक्ति का स्वरूप ज्ञान पर अवलम्बित है। उसका आत्मा आभु है। वह बल आभु में (रस में) ही ओतप्रोत रहता है, अतएव इसे हम ज्ञानात्मक कहने के लिए तय्यार हैं।

ज्ञान का काम है-विकास करना। अपनी शक्ति द्वारा संसार के पदार्थों का स्वरूप दिखलाना-स्वप्रकाश से सबको प्रकाशित करना। बल का यही काम है। यह मूलशक्ति विकासरूपा ही है। इससे सारे विश्व का विकाश होता है। यही आदिशक्ति महामाया संसार को उत्पन्न करती है। उत्पन्न संसार इसी मूलशक्ति पर प्रतिष्ठित रहता है एवं अन्त में इसी में लीन हो जाता है। क्रियात्मक जगत् की यही मूलशक्ति प्रभव है-यही प्रतिष्ठा है-यही परायण है। यह स्वयं ज्ञानस्वरूपा है-ज्ञानात्मिका है, अतएव विकाशस्वरूपा है। क्रियामय विश्व इसी पर नाचा करता है। यह मूलशक्ति घटपटादि अर्थों का निर्म्माण करने वाली नहीं है। यह तो क्रिया की जननी है। क्रिया से घटपटादि अर्थों का निर्म्माण होता है। क्रिया सत्ता की जननी है। यह मूलशक्ति तो-इन अर्थों की मातामही है। इनकी माता क्रिया है। क्रिया की भी माता-क्रिया का भी मूल-यह बल है। जबकि यह मूलशक्ति विकासरूपा है एवं अर्थ

के स्वरूप से इसका कोई सम्बन्ध नहीं–तो ऐसी हालत में इस मूलशक्ति को हम 'सत्ता' भी नहीं कह सकते । **अर्थक्रियाकारित्वं सत्**–सत्ता का तो यह लक्षण है । यह लक्षण क्रियाप्रपञ्च पर लागू होता है, अतः क्रियासमष्टि को–जो कि तूलनाम से व्यवहृत होती है–उसे हम 'सत्ता' कह सकते हैं । जबकि इस क्रिया का मूलभूत बल–क्रियातिग है तो फिर क्योंकर उसे 'सत्ता' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है । यह मूलशक्ति इस सत्ता से बिल्कुल जुदी वस्तु है । परन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि सत्ता उसी में अन्तर्निहित है । सत्ता उस अपने मूल से पृथक् नहीं है । इसीलिए तो अद्वैतवाद सुरक्षित रहता है । प्रविविक्तब्रह्म अवश्य ही सृष्टानुप्रविष्ट से पृथक् है, परन्तु सृष्ट और प्रविष्ट उससे (प्रविविक्त से) अलग थोड़े ही रह सकते हैं । एक पत्र पर एक अक्षर बैठा हुआ है । अक्षर पत्र से अलग थोड़े ही है । पत्र अवश्य ही अक्षर के विना भी बडी दूर तक फैला हुआ है । इसी प्रकार वह शक्ति अवश्य उससे पृथक् है, परन्तु उससे उत्पन्न होने वाली संकलित क्रियास्वरूपिणी सत्ता उससे पृथक् थोड़े ही रह सकती है ? वह तो उसी पर स्थित है । उस सत्ता का आधार तो वही मूलबल है । तात्पर्य्य यही है कि जिसको मूलशक्ति कहा है–वह नित्यत्वात् ज्ञानात्मिका है–न कि क्रियात्मिका । वह तो विकासरूपा है न कि अर्थकारिणी । मूलशक्ति चूंकि अर्थकारिणी नहीं है, अतएव वह सत्ता भी नहीं है, अपि तु, सत्ता से पृथक् है । परन्तु सत्ता उसी में अन्तर्निहित रहती है । सत्ता उससे पृथक्-पृथक् हर्गिज नहीं रह सकती । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"ज्ञानं च शक्तिर्न तु सा क्रियात्मिका विकासरूपैव न सार्थकारिणी ।
तस्मान्न सत्ताऽपि तु सा पृथग्विधा सत्ता तदन्तर्निहिता न सा पृथक्" ।।१२।।

जिसको हमने तूलशक्ति कहा है–जिसका कि दूसरा नाम 'क्रिया' है, उनकी संकलित (मिलित) अवस्था का नाम ही 'सत्ता' है । बस, संकलित शक्तियां जहाँ पर इकट्ठी होती हैं एवं इकट्ठी होकर जिसका लक्षण बनती हैं–वही उस क्रियासमष्टि का अर्थात् सत्ता का आलम्बन है ।

क्रिया प्रतिक्षण विनाशिनी है । जो वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होने वाली होती है–वह लाख प्रयत्न करने पर भी 'है' नाम धारण नहीं कर सकती । 'है' के लिए किसी निष्क्रिय आलम्बन को अवश्य ही मानना पड़ता है । क्रिया की समष्टि का नाम ही 'है' नहीं पड़ सकता । क्रिया हरवक्त नष्ट होती रहती है । उसकी समष्टि तब तक नहीं बन सकती, जब तक कि उसका आलम्बन कोई निष्क्रिय न मान लिया जाए । बस, उसी आलम्बन का निर्वचन करने वाली वह सत्ता है । घट ही 'अस्ति' का आलम्बन है । यदि घट नहीं तो 'अस्ति' कोई चीज नहीं । घट एक अनिर्वचनीय पदार्थ है–जिसे जानकर तद्विषयिणी हमारी इच्छा शान्त होती है । बडी देर से आत्मा घड़े को जानने के लिए व्याकुल हो रहा था । बस, जहाँ घटज्ञान हुआ कि आत्मा की अशान्ति मिटी । घड़े को पहचानते ही–उसी समय तद्विषयक जिज्ञासा शान्त हो जाती है । शान्ति को ही 'आनन्द' कहते हैं । घट यही 'अस्ति' का आलम्बन है । इसी से शान्ति मिलती है, अतएव हम इस आलम्बनस्वरूप घट को 'आनन्द' कहने के लिए तय्यार हैं ।

क्रिया की उपपत्ति तभी हो सकती है जबकि उसका कोई निष्क्रिय आलम्बन माना जाए। रंग चढ़ रहा है-किस पर ? वस्त्र पर। कपड़ा टँका हुआ है-किस पर ? खूँटी पर। चावल पक रहे हैं-पाकक्रिया हो रही है-किस पर ? स्थाली पर। भोजनक्रिया हो रही है-किससे ? हाथ से, मुँह से। यदि कपड़ा नहीं है तो रंगक्रिया किस पर हो ? खूँटी नहीं है-तो वस्त्र किस पर टाँका जाए ? स्थाली नहीं हो तो पाकक्रिया किस पर हो ? मुँह-हाथ वगैरह न हों तो भोजनक्रिया कैसे उपपन्न हो ? गरज यह है कि क्रिया के लिए कोई न कोई आधार अवश्य ही मानना पड़ता है। वह आधार क्रियास्वरूप तो हो नहीं सकता, क्योंकि क्रिया कैसे क्रिया का आधार बन सकती है ? जबकि वह स्वयं आधार की अपेक्षा रखती है, अतः इस शान्त-अनेकरूपा-क्रिया का कोई शान्त-निष्क्रिय-अद्वय आधार अवश्य ही मानना पड़ता है। उसी के आधार पर सारी शक्तियाँ संकलित होकर उसका लक्षण बनती हुई 'सत्ता' 'है'-नाम धारण करती है। घट-पट यही रस है। घटत्व में घट-यह अनिर्वचनीय अस्ति का आलम्बन बैठा रहता है। यही शान्ति को दूर करने वाला है। संकलित शक्तियाँ आहित होकर 'अस्ति' नाम धारण करती हुई 'घट' का लक्षण बनती हैं। उस अस्ति से ही-घट का निर्वचन किया जाता है। बस, अस्ति के आलम्बनभूत उस निष्क्रियत्व को ही हम आनन्द-शान्त एवं अद्वयस्वरूप कहने के लिए तय्यार हैं। विज्ञलोग उसे ही आनन्दादिशब्दों से व्यवहृत करते हैं। उनका यह व्यवहार मिथ्या नहीं है। वास्तव में वह आनन्दरूप से ही प्रतीत होता है। एक खिलौने को देखकर बच्चे तक को उससे आनन्द आने लगता है। वह पदार्थ वास्तव में आनन्दस्वरूप है।

तात्पर्य्य यही है कि संकलित शक्तियाँ ही सत्ता कहलाती हैं। ये शक्तियाँ जहाँ आहित होती हैं एवं जिसका लक्षण बनती हैं अर्थात् इनके द्वारा जिसका निर्वचन होता है-वही इन क्षणिक क्रियाओं का आलम्बन है। उसे ही शान्त-आनन्द-अद्वय शब्द से कहा करते हैं एवं उसी को 'आनन्द-आनन्द' कहकर पुकारा करते हैं। चूँकि वास्तव में वह आनन्दस्वरूप ही प्रतीत होता है, अतएव उसे आनन्द कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"सत्ताऽपि ताः संकलिता हि शक्तयो यत्राहिता यस्य भवन्ति लक्षणम्।
आलम्बनं[1] शान्तमनन्तमद्वयं तमाहुरानन्दमयं प्रतीयते" ॥१३॥

घट-पट-पर्वत-नदी-तालाब-चाँद-सूर्य्य-ग्रह-नक्षत्र-वन-उपवन-शहर-राष्ट्र-महाराष्ट्र- इत्यादि इत्यादि पदार्थसमष्टि का नाम ही तो 'विश्व' है। इनसे अलावा और विश्व है ही क्या ? वह अर्थ पूर्वोक्त प्रपञ्चानुसार आनन्दस्वरूप मानने पड़ते हैं। 'अस्ति' का आलम्बन घट है। घट ही क्यों ? संसार के यच्चयावत् पदार्थ 'अस्ति' के ही तो आलम्बन हैं। अस्ति से घट-पट-पर्वतादि पदार्थों का ही तो निर्वचन किया जाता है। अस्ति की सत्ता उन अनिर्वचनीय पदार्थों के आलम्बन पर ही तो अवलम्बित है।

१ इस आलम्बन का विस्तृत विवेचन- गुरुवर श्री मधुसूदन जी ओझा प्रणीत 'संशयतदुच्छेवाद' के पूर्णद्विसत्योपनिषत् के अन्तर्गत **ब्रह्मकर्म्मस्थां सृष्टिक्रमाधिकारः** के **'कर्म्मस्थब्रह्मपरिचय:'**-नाम के १३वें सूत्र में (४९ पृष्ठ) देखना चाहिए।

उस आलम्बन को ही हमने अर्थ कहा है। चूंकि अर्थ (घट-पटादि पदार्थ) अस्ति का आलम्बन है। आलम्बन ही आनन्द कहलाता है। सारा विश्व आलम्बनभूत इन पदार्थों से ही युक्त है, अतएव हम कह सकते हैं कि संसार का सारा अर्थप्रपञ्च आनन्दस्वरूप ही है। घटपटादि अर्थ के अलावा विश्व में चूंकि और कुछ नहीं है, घटपटादि अर्थ ही आलम्बन हैं, आलम्बन ही आनन्द कहलाता है, ऐसी हालत में सिवाय आनन्द के और अन्य वस्तु है ही क्या ?

अपि च–जिसे मैं देखता हूँ–उसे ही जानता हूँ। कहने का तात्पर्य्य यही है कि आनन्द के साथ ही ज्ञान भी मौजूद है एवं सत्ता तो है ही है। सत्ता शक्तिसमूह का नाम है, ज्ञान विकास का नाम है एवं आनन्द आलम्बन का नाम है। वही जगत् का आलम्बन है। अर्थात् वही आनन्द है एवं उसी का ज्ञान होता है अर्थात् वही ज्ञानस्वरूप है एवं वही 'है' अर्थात् वही सत्तास्वरूप है। शक्ति-विकाश-आलम्बनत्वेन ही हम जगत् में उस आभुब्रह्म के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। उस एक ही को अन्यान्य प्रकारों से हम देख रहे हैं–उसे ही शक्तिरूप से देख रहे हैं–उसे ही सत्तारूप से देख रहे हैं एवं उसे ही आलम्बनरूप से देख रहे हैं। जिन-जिन प्रकारों से–विधाओं से हम उसे देख रहे हैं–वे विधाएँ शक्ति-समूहरूप ही तो हैं अर्थात् बल ही तो उस सच्चिदानन्द का लक्षण है। बल ही के द्वारा तो रस पहचाना जाता है। परन्तु एक बल से नहीं, अपि तु, बलसमूह से–शक्तिसमूह से वह पहचाना जाता है। क्रिया-स्वरूप बल ही तो उस आलम्बन का आनन्दस्वरूप-विज्ञानस्वरूप-सत्तास्वरूप ब्रह्म का लक्षण है। उसका निर्वचन शक्तिसमूहस्वरूप से ही तो किया जाता है।

तात्पर्य्य यही है कि संसार में जितने भी अर्थ हैं–वे सब सत्ता के आलम्बन हैं, अतएव आनन्द-स्वरूप हैं एवं जिसको हम देखते हैं–उसी का ज्ञान होता है अर्थात् वह विज्ञानस्वरूप भी है। इस प्रकार उस एक ही को हम शक्ति-विकाश एवं आलम्बनस्वरूप में परिणत देखते हैं। जिन उपायों से–जिन विधाओं से उसे हम देखते हैं–वे विधाएँ शक्तिसमूहस्वरूपा ही हैं। बल द्वारा ही उसे पहचाना जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"आनन्द एवास्त्यखिलोऽयमर्थो यमत्र पश्यामि यमत्र वेद्मि।
तमेकमन्यान्यविधाभिरीक्षे तास्ता विधाः शक्तिसमूहरूपाः ॥१४॥

४–कुर्वद्रूपतोपलब्धिभूमभिः परीक्षा।

कुर्वदरूपता-उपलब्धि-भूमा से (आभु की) परीक्षा—

उस एक ही आभु को हम अनन्त प्रकार से देख रहे हैं। उस एक ही ब्रह्म के अनेक प्रकार से दर्शन कर रहे हैं। जैसे शक्ति-विकाश-आलम्बन द्वारा हमें उसके दर्शन हो रहे हैं–तद्वत् कुर्वद्रूपता-उपलब्धि एवं भूमा द्वारा भी हम उसके दर्शन कर रहे हैं।

हमने सत्ता का लक्षण बतलाया है-**अर्थक्रियाकारित्वं सत्** (सत्ता)। घट-पट-इत्यादि जितने भी पदार्थ हैं-क्रिया की समष्टि ही तो है। संसार के जितने भी पदार्थ हैं-वे हरक्षण कुर्वद्रूपता से आक्रान्त हैं। प्रतिक्षण उनमें परिवर्त्तन हो रहा है। प्रति वस्तु हरवख्त बदल रही है। जहर का अच्छापना इसी में है कि वह गन्धमात्र में मृत्यु प्रविष्ट कर दे। तद्वत् परिवर्त्तन की श्रेष्ठता इसी में है कि वह कभी किसी भी क्षण में अपनी ड्यूटी से च्युत न हो। सदा सरण करता ही रहे। बस, इसी श्रेष्ठता को बतलाने के अभिप्राय से इस विश्व को **सम्यक् सरति**०-इस व्युत्पत्ति से संसार कहा जाता है। परन्तु इस परिवर्त्तन के बीच में 'घट है'-यह सत्ताभाव अचलरूप से विद्यमान है। घड़े में प्रतिक्षण परिवर्त्तन हो रहा है, परन्तु 'घड़ा है'-यह व्यवहार कभी नष्ट नहीं होता। यदि घड़ा नहीं है-तो भी 'है' व्यवहार तो रहता ही है। तात्पर्य्य यही है कि क्रिया को ही बल कहते हैं। यह बल कुर्वद्रूप है-क्रियाशील है-परिवर्त्तनशील है। यह बलसंघात ही अर्थात् संकलितशक्तियाँ ही अर्थों का (घटपटादिपदार्थों का) स्वरूप बनाती हैं। इन्हीं अर्थों को-क्रियासमष्टि को ही सत्ता कहते हैं। तात्पर्य्य यही है कि जितने भी पदार्थ दिखलाई पड़ रहे हैं-वे सब चूंकि बलों की समष्टि हैं, अतएव सारे पदार्थ कुर्वद्रूप हैं। इसी बलसमष्टि से 'घड़ा है-कपड़ा है'-इस सत्ता का स्वरूप बना हुआ है-जो कि सत्ता कुर्वद्रूपता से आक्रान्त है। बस, जो अर्थ हैं-सत्तास्वरूप घटपटादिपदार्थ हैं-वे ही इस विश्व को प्रकाशित करने वाले प्रकाश हैं। सारा विश्व इन पदार्थों से ही तो प्रकाशित हो रहा है। वन वृक्षों से ही तो अपनी स्थिति रखने में समर्थ होता है। सेना का स्वरूप अनन्त सिपाहियों के आधार पर ही तो अवलम्बित है। सैकड़ों घट-पटादि पदर्थों से ही तो 'शहर' का स्वरूप बना हुआ है। इसी प्रकार अनन्तानन्त कुर्वद्रूपाक्रान्त सत्तास्वरूप इन अर्थों से ही तो विश्व का स्वरूप बना हुआ है। चूंकि विश्व इन पदार्थों से प्रकाशित हो रहा है, अतएव हम इन अर्थों को अवश्य ही प्रकाशस्वरूप बतला सकते हैं।

बस, इन पदार्थों की जो अस्ति है-वही तो उपलब्धि है। घड़ा है-यही तो घड़े की उपलब्धि अर्थात् घड़े का ज्ञान है। घड़े को जानता है-इसमें 'घड़ा है'-यह कहना ही तो प्रमाण है। यदि कोई मनुष्य कहता है कि-'यह घड़ा है-यह पुस्तक है'-तो दूसरा आदमी समझ जाता है कि देखो! इसको घड़े का ज्ञान है। छोटे बच्चे की मास्टर लोग जब परीक्षा लेते हैं तो पुस्तक सामने रख देते हैं और अंगुलीनिर्देश करके कहते हैं कि बतलाओ-यह क्या है? बच्चा उत्तर देता है-यह 'क' है, यह 'ख' है, यह राम है, यह मोहनलाल है, यह सांठे का पेड है। पास में बैठा हुआ निरीक्षक बच्चे के इन वाक्यों को सुनकर समझ लेता है कि हाँ बच्चे को अवश्य इन अक्षरों का ज्ञान है। बतलाना इससे हमें यही है कि 'है'-यही तो बच्चे ने कहा है। इस 'है' से जब निरीक्षक 'बच्चे को ज्ञान हो गया'-यह समझ जाता है तो हम कह सकते हैं कि जो अस्ति है-वह उपलब्धि है अर्थात् ज्ञान है। सारा विश्व सत्तामय है। सत्ता अर्थ का नाम है। उन्हीं की अर्थात् सत्ता की ही उपलब्धि होती है। सत्ता की उपलब्धि नहीं होती, सत्ता ही-अस्ति ही उपलब्धि है एवं जिसकी यह सत्ता है एवं जिसका ज्ञान है-जो कि इस सत्ता का और ज्ञान का आलम्बन है-वही भूमा है-वही रस है। सारा विश्व अर्थमय है-अर्थ ही उपलब्धि है। इस अर्थ से शून्य कोई स्थान खाली नहीं है। सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। बस, इस व्यापक-भाव को-भूमा को-जो कि है एवं जिसका कि ज्ञान होता है-वही रस है-यही आनन्द है। सत्ता का

ज्ञान होता है–ज्ञान से आनन्द होता है, अतः सत्ता और ज्ञान का आलम्बनभूत जो तत्त्व है–उसे आनन्दसाधनत्वात् हम अवश्य ही 'आनन्द' कहने के लिए तय्यार हैं। चूंकि उस आलम्बन से आनन्द आता है, अतएव उस पूर्णव्यापक आनन्दस्वरूप तत्त्व को भूमारस कहने के लिए तय्यार हैं। रस ही का नाम आनन्द है। रस ही उस आभु का साक्षात् स्वरूप है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" ॥[1]

अपि च–चूंकि सत्ताज्ञानालम्बन पूर्ण है–भूमास्वरूप है, इसलिए भी हम इसे **आनन्दस्वरूप** कहने के लिए तय्यार हैं। इसीलिए श्रुति कहती है- **यो वै भूमा तद्वै सुखम्। यदल्पं तद् दुःखम्।**[2]–प्रमाण की आवश्यकता नहीं है–प्रत्यक्षसिद्ध है। आप अपनी सम्पत्ति को अधिकाधिक बढाते चले जाइए, अवश्य ही आनन्द मिलेगा। दुःख कमी में है–अधिकता में नहीं। भूमा ब्रह्म का स्वरूप है, अतः मनुष्य को धनधान्य-सम्पत्ति–इत्यादि से सदा बढते रहने की कोशिश करते रहना चाहिए। इसीलिए सन्तोष का एकान्ततः खण्डन करते हुए वेदमहर्षि कहते हैं–**अजितं जेतुमनुचिन्तयेत् न क्वचिदप्यलं बुद्धिमादध्यात्–इति।**

कहने का तात्पर्य्य यही है कि बल अर्थों के स्वरूप को बनाते हैं। इन अर्थों को ही 'सत्ता' कहते हैं। जो अर्थ हैं–वे चूंकि विश्व के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं, अतएव वे प्रकाशस्वरूप हैं एवं अर्थ-स्वरूप जो अस्ति है–वही उपलब्धि है अर्थात् ज्ञान है एवं इनका जो आलम्बनतत्त्व है–वह भूमारस है। चूंकि उसकी (आलम्बन की) प्रतीति आनन्दत्वेन होती है, अतएव उसे हम 'भूमारस' कहने के लिए तय्यार हैं। वह 'भूमारस' सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। हम उस ब्रह्म के कुर्वद्रूपतया और उपलब्धितया भूमा द्वारा साक्षात् दर्शन कर रहे हैं–यही तात्पर्य्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"अर्थान् प्रकुर्वन्ति बलानि सत्ता, येऽर्थाः प्रकाशा इह सोपलब्धिः।
भूमा रसः पूर्णमिदं समस्तं यतः स आनन्द इति प्रतीमः" ॥१५॥

५–सत्यत्रयान्योऽन्याविनाभावः।

सत्ता-चेतना-आनन्द 'आभु' के ये तीन स्वरूप हैं। इन तीनों के हम अनन्त प्रकार से दर्शन कर रहे हैं। पूर्वोक्त प्रपञ्च से यह सिद्ध हो जाता है कि यह सारा विश्व 'सत्ता', चेतना, आनन्द–इन तीनों से ही पर्य्याप्त है–अर्थात् पूर्ण है। इन तीनों से अलावा इस विश्व में कोई चौथी चीज है ही नहीं। जिस तरह से–जिस दृष्टि से जब देखोगे- इन्हीं तीन स्वरूपों का साक्षात्कार होगा–'है'–'जानते हैं'–जिसे जानते हैं एवं जो है–वह पदार्थ। बस, इस 'है'–'जानते हैं'–'पदार्थ' के अलावा और चौथी चीज है ही नहीं एवं

१ तैत्ति० उप० २।७।   २ छान्दोग्योप० ७।२२।१।

साथ ही में एक चमत्कार और भी है-वह चमत्कार यही है कि सत्ता-चेतना-आनन्द-इन तीनों का प्रतिपदार्थ में हम अपृथक्त्व-अन्योन्याविनाभूतत्व ही देखते हैं। प्रत्येक पदार्थ में सच्चिदानन्द भगवान् मौजूद हैं। मौजूद ही नहीं हैं-अपि तु, पदार्थ ही सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। सारे पदार्थ त्रित्वभावाक्रान्त हैं। परन्तु मजा यह है-तीनों अविनाभूत भी हैं। यदि आपने 'है' कह दिया तो 'आनन्द-विज्ञान' मौजूद हैं। यदि आपने 'ज्ञायते' कह दिया तो 'सत्ता-आनन्द' दोनों मौजूद हैं। यदि आपने 'आनन्द' आता है, मजा आ रहा है-यह कह दिया तो 'सत्ता-ज्ञान' दोनों मौजूद हैं। सत्ता-ज्ञानानन्द-इन तीनों की कड़ी ऐसी जुड़ रही है अर्थात् तीनों ऐसे मित्र हैं कि जिनका कभी बिछोह ही नहीं होता है-सदा साथ रहते हैं। तात्पर्य्य यही है कि सम्पूर्ण विश्व में ये ही तीनों व्याप्त हो रहे हैं-इन तीनों से अतिरिक्त कोई चौथी वस्तु है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ में हम इन तीनों का अपृथक्त्व ही देखते हैं। एक के विना दूसरा कभी नहीं रहेगा-यह सिद्धान्त समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"त्रिष्वेव पर्याप्तमिदं समग्रं नातश्चतुर्थं किमपीह लोके।
प्रत्यर्थमेषामपृथक्त्वमीक्षे नैकं विनाऽन्येन कदापि सिद्ध्येत् ॥१६॥

सम्पूर्ण विश्व में सत्ता, चेतना, आनन्द-ये तीन ही तत्त्व व्याप्त हो रहे हैं। एक छोटे से छोटे पदार्थ में भी सच्चिदानन्द भगवान् मौजूद हैं एवं बडे से बडे पदार्थ में भी सच्चिदानन्द मौजूद हैं। परन्तु तीनों सर्वथा अविनाभूत हैं-अभिन्नस्वरूप हैं। अस्ति-भाति-रस-इन तीनों को किसी भी हालत में पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। सामने भगवान् की मूर्त्ति रक्खी हुई है। आप कह रहे हैं-अहा! कैसी सुन्दर मूर्त्ति है। बस, जहाँ आप अपने मुँह से 'है' बोले कि उपलब्धि की पकड़ में आए। 'है'-यही तो आपका ज्ञान है। यहाँ पर यह वस्तु है, इसलिए' 'मैं इसे जानता हूँ, यदि यहाँ यह वस्तु न होती तो मैं इसे कभी न जानता"-यह लोकसिद्ध व्यवहार है। इस व्यवहार से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जो है-वही जानता है। 'घड़ा है'-यही तो भान अर्थात् ज्ञान का स्वरूप है। 'अस्ति अतो ज्ञायते' अर्थात् है-इसलिए जानता है। 'नहीं नहीं' ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। **अस्तीति ज्ञायते** 'है'-यही जानता हूँ। 'है' ही ज्ञान का स्वरूप है-यही कहना चाहिए। इसीलिए-**अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते**[1]-यह कहा जाता है। 'है'-इसी को तो जानता है-अर्थात् 'है'-यह सत्ताज्ञान से अभिन्न है। 'है'-इस सत्ता से ज्ञान कभी अलग नहीं हो सकता है। 'है' के साथ ज्ञान झट कूद पड़ता है। कूद क्या पड़ता है-'है' यही ज्ञान का स्वरूप है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"अस्तीति तद् वेत्ति"।

अपि च-जानता है-वही तो 'है' है। जिसे जानता है-वही तो पदार्थ है। जानता है-इसलिए उस पदार्थ की सत्ता है। **घटमहं जानामि**-यह ज्ञान ही तो उस घटसत्ता का स्वरूप है। मैं घड़े को जानता

१ कठोप० २।६।१२।

हूँ–इसलिए 'घड़ा है'–यह कहने का दावा करता हूँ। यदि मैं नहीं जानता मुझे घड़े का ज्ञान न होता तो हर्गिज 'घड़ा है'–यह नहीं कह सकता था। 'अस्ति' (है) का आधार (आलम्बन) मेरा ज्ञान ही तो है। भींत के उस पार अनेक वस्तुएँ हैं। परन्तु चूँकि मैं उन्हें नहीं जानता, अतः उन वस्तुओं की सत्ता-अस्तित्व हर्गिज नहीं बतला सकता। मैं जिसे जानता हूँ–उसी की सत्ता स्वीकार करने के लिए तय्यार हूँ। यदि नहीं जानता तो उसकी सत्ता भी स्वीकार नहीं करता। ज्ञायते, अतः अस्ति- ये सब लोकव्यवहार है। 'जानता हूँ'–इसलिए 'घड़ा है'–यह सामान्य व्यवहार है। आपामर-आविद्वज्जन इस बात को मानते हैं। किसी का इस अनुभव में विरोध नहीं है। जानता है–इसलिए है–इससे यही सिद्ध होता है कि सत्ता ज्ञानाविनाभूत है। विना ज्ञान के सत्ता (अस्तित्व) रह ही नहीं सकती। **ज्ञायते घटः**–यही तो उस अस्ति का स्वरूप है। ज्ञायते–यही तो अस्ति है। तात्पर्य्य यही है कि सत्ता जैसे ज्ञान का आधार है–ज्ञान विना सत्ता नहीं रह सकता-तद्वत् सत्ता विना ज्ञान के नहीं रह सकती। सत्ता, ज्ञान–दोनों अविनाभूत हैं। **अस्ति अतो वेत्ति, वेत्ति अतोऽस्ति**–यह साधारण व्यवहार है। दोनों को कभी अलग किया ही नहीं जा सकता। दोनों सदा साथ-साथ रहते हैं एवं जो मौजूद है–अर्थात् जिसका निर्वचन 'अस्ति' के द्वारा होता है–वह एवं जिसे जानता है वह रसपदार्थ है। 'है'–उसी समय सवाल होता है–क्या है ? जानते हैं- उसी समय सवाल होता है–क्या जानते हो ? इस आकांक्षा को पूरी करने के लिए कहा जाता है–घड़ा है–घड़े को जानते हैं। कहना इससे हमें यही है कि रस (पदार्थ) उस ज्ञान और अस्ति से पृथक् वस्तु है। जो है एवं जिसका ज्ञान होता है–वही रस है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"अस्तीति तद्वेत्त्यथ वेत्त्यतोऽस्ति यो विद्यते वेत्ति च यं रसः सः।

पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि यह ज्ञान और सत्ता–दोनों अविनाभूत हैं। ज्ञान विना सत्ता के नहीं रहता, सत्ता विना ज्ञान के नहीं रहती एवं जिसका ज्ञान होता है एवं जो है–वही रस एक तीसरा पदार्थ है। इस रस को ही आनन्द कहते हैं। यह आनन्द भी ज्ञान और सत्ता से पृथक् प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में पृथक् नहीं है–यह बतलाया जाता है—

संसार के जो घटपटादि पदार्थ हैं–उन्हीं को हम 'सत्ता' शब्द से व्यवहृत करते हैं। 'है' की उपाधि रखने वाले (सत्तानामधारी) घटपटादि ही हैं। ये घटपटादि अर्थ जिन्हें कि हम 'सत्ता' नाम से व्यवहृत करेंगे–वास्तव में देखा जाए तो आनन्दस्वरूप ही हैं। संसार के पदार्थ आनन्द देने वाले हैं–आनन्दस्वरूप हैं। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मैं सदा अर्थ को लेने की इच्छा किया करता हूँ। मेरे पास यह मकान भी आ जाए, यह द्रव्य भी आ जाए, मेरे कब्जे में सारा राज्य आ जाए, मैं पृथिवी-मण्डल का अधिपति बन जाऊँ–यह अर्थलिप्सा सदा बनी रहती है। जो योगेश्वर हैं–मुक्ति की लिप्सा तो उन्हें भी बनी रहती है। हमारा आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। सजातीय पदार्थों का ही परस्पर सम्बन्ध होता है–यह बात हम पूर्व के प्रकरण में बतला आए हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि पदार्थ अर्थात् सत्ता वास्तव में सुखस्वरूप है–रसरूप है–आनन्दस्वरूप है। तभी तो हमारा आत्मानन्द उन पर कूदता रहता है–उसे हरवख्त लेने की इच्छा किया करता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि सत्ता

(संसार के पदार्थ) की हमें इच्छा बनी रहती है। सारे अर्थ हमें अच्छे लगा करते हैं-इसीलिए तो सदा अर्थलिप्सा बनी रहती है, अतएव हम कह सकते हैं कि सत्ता रस से अर्थात् आनन्द से अविनाभूत है।

अब चलिए-ज्ञान की ओर। जैसे अर्थ हमें अच्छा मालूम होता है-तद्वत् ज्ञान भी हमें बहुत ही प्यारा लगा करता है। हरवक्त हम कुछ न कुछ जानने की चेष्टा किया ही करते हैं। जानना-यह आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है। ज्ञानपिपासा बनी ही रहती है। चाहे वह पिपासा-अधमा है-उत्तमा है या मध्यमा है। ज्ञानपिपासा सदा बनी रहती है। चूंकि ज्ञान की सदा बुभुत्सा बनी रहती है एवं वह सदा हमें प्रिय लगा करता है, अतएव हम कह सकते हैं कि अर्थवत् अर्थात् सत्तावत् यह ज्ञान भी रस से अविनाभूत ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"अर्थः प्रियो नोऽस्ति सदार्थलिप्सा ज्ञानं प्रियं नोऽस्ति सदा बुभुत्सा" ॥१७॥

पहले हम आपका ध्यान बोध्य की ओर दिलाते हैं। घट-पट-मठ-सूर्य्य-चन्द्र-इत्यादि इत्यादि जो पदार्थ हैं-उन्हें ही 'बोध्य' शब्द से कहा जाता है। घटपटादि ही तो बोध्य हैं अर्थात् ज्ञेय हैं-(जानने की चीज हैं)। जबकि इन अर्थों से-बोध्य घटपटादि पदार्थों से आनन्द आता है तो हम कह सकते हैं कि ये पदार्थ (बोध्य) रस से अविनाभूत हैं-अर्थात् सुखस्वरूप हैं। बोध्य सुखाविनाभूत हैं अर्थात् रसाविनाभूत हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"बोध्यं सुखम्"।

एवं बोध्य भी सत् वस्तु है, अर्थात् कोई चीज है। अर्थात् वस्तु ही को तो 'रस' कहते हैं। 'बोध्य' अर्थात् 'अस्ति' जब यह भी एक पदार्थ है तो फिर इसे रस से खारिज क्योंकर किया जा सकता है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"वस्तु सदस्ति बोध्यम्"।

एवं जो बोध्य हैं अर्थात् घटपटादि हैं-वे बोध से अपृथक् ही जाने जाते हैं। बोध्य सदा बोध से अपृथक् रहता है। अस्ति सदा 'ज्ञायते' के पेट में रहती है। अस्ति और ज्ञायते-दोनों परस्पर सर्वथा अभिन्न हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"बोध्यं च बोधादपृथक् प्रबुद्धम्"।

अब लीजिए-बोध की (ज्ञान की) कथा। ज्ञान की सदा पिपासा रहती है। ज्ञान हमें प्रिय लगा करता है, अतएव हम ज्ञान को सुखाविनाभूत (रसाविनाभूत) कह सकते हैं एवं ज्ञान भी 'है' ज्ञान नहीं है-यह बात नहीं है। ज्ञान अवश्य ही है-अर्थात् ज्ञान जैसे रस से अविनाभूत है-तद्वत् 'है' इस

सत्ता से भी अविनाभूत है । बस, इस प्रकार तीनों में ऐसा अविनाभाव बना हुआ है कि जिससे तीनों एक से ही मालूम होते हैं । परस्पर तीनों ही सर्वथा अव्यभिचरित हैं । तीनों को कभी भी अलग नहीं किया जा सकता । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"बोध्यं सुखं वस्तु सदस्ति बोध्यं बोध्यं च बोधादपृथक् प्रबुद्धम् ।
ज्ञानं सुखं चास्ति हि वस्तु सत्तत् तस्मात् पृथङ् नातितरामिमानि" ।।१८।।

६–सामान्य-विशेषौ ।

सामान्य विशेष—

सत्ता, चेतना, आनन्द–ये तीन आभु के स्वरूप हैं एवं तीनों ही अन्योन्याविनाभूत हैं–अव्यभिचरित हैं । सत्ता, चेतना, आनन्द–ये तीनों सामान्य-विशेष भेदेन दो-दो प्रकार के हैं । इन तीनों में से हम सर्वप्रथम ज्ञानद्वैविध्य का ही विवेचन करते हैं ।

यह ज्ञान 'अस्ति-नास्ति'–भेदेन दो प्रकार का है । ज्ञान नास्ति और अस्ति–इन दो सीगों में बँटा हुआ है । चूँकि ज्ञान अस्तिनास्ति–इन दो भागों में विभक्त है, अतएव इन्हीं दोनों से–यह घड़ा है–घड़े से भिन्न यह वस्त्र है–वस्त्र से भिन्न यह घर है–घर से भिन्न यह मार्ग है–इत्यादिस्वरूपयुक्त पृथक्त्वव्यवहार की सिद्धि होती है । यदि ज्ञान केवल अस्त्यात्मक ही होता तो हर्गिज-हर्गिज यह घड़ा है–यह वस्त्र है–यह घर है–इत्यादि व्यवहार न होता । अस्ति, नास्ति के सम्बन्ध होने पर ही घट-पटादि पदार्थों में भिन्नता प्रतीत होती है । कहने का तात्पर्य्य यही है कि **घटोऽस्ति** (घड़ा है)–इस घट के अस्तित्व की स्थापना करने वाला–'नास्ति' यही ज्ञान है । अभाव ही से भाव की सत्ता मालूम होती है । 'नहीं' ही 'है' को बतलाने वाला है । आपके सामने एक मेज रक्खी हुई है, एक कुर्सी रक्खी हुई है, एक पुस्तक रक्खी है । एक कपड़ा खूँटी पर टँगा हुआ है । इसी प्रकार और भी अन्यान्य वस्तुएँ रक्खी हुई हैं । उन्हें आप बिल्कुल पृथक्-पृथक् समझ रहे हैं । कुर्सी टेबिल से भिन्न है–दूसरी वस्तु है । टेबिल कुर्सी से अलग दूसरी चीज है–यह ज्ञान आपको निश्चयरूपेण हो रहा है । बस, कुर्सी मेज-टेबिल आदि का जो अस्तित्वज्ञान है–वह 'नास्ति' द्वारा बना हुआ है । आप टेबिल पर हाथ लगाके उसे चारों ओर घुमाइए । टेबिल के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण–चारों दिशाओं की ओर हाथ खिसकाते चले जाइए, अस्ति-अस्ति का भान होता जाएगा । कोई सीमा ऐसी आएगी–उस समय 'अस्ति' का भाव खतम हो जाएगा एवं 'नास्ति' कूद पड़ेगी । वह सीमा वहीं आएगी–जहाँ पर कि टेबिल की अवधि समाप्त हो जाएगी । बस, इसी प्रकार चारों ओर नापते चले जाइए–जहाँ चारों स्थानों पर अस्ति-अस्ति की समाप्ति हो जाए एवं नास्ति का राज्य हो जाए तो समझ लो–टेबिल यही है । चारों ओर के नास्ति-भाव ने ही टेबिल के अस्ति का ज्ञान करवाया है । आप अस्ति-अस्ति करते चले जाइए, यदि 'नास्ति'

न आएगी तो टेबिल का स्वरूप ही न बनेगा। जब नास्ति आएगी तभी उसी 'नास्ति' के आधार पर उसके (वस्तु के) अस्तित्व की कल्पना की जाएगी। यदि यह नास्ति न होती तो घटपटादि के भिन्नत्व का व्यवहार ही जगत् से उठ जाता। परन्तु चूंकि ज्ञान अस्ति-नास्ति भेदेन दो प्रकार का है, अतएव संसार में पृथक्त्वव्यवहार की सिद्धि होती है। जब तक अस्ति भाव में 'नास्ति' का प्रवेश नहीं होता है, तब तक 'व्यक्तिता' ही उत्पन्न नहीं होती है। परिच्छिन्न अस्ति ही व्यक्ति का स्वरूप बनाती है। अस्ति में यह परिच्छिन्नता नास्ति की महिमा से ही होती है। यदि नास्ति नहीं होती है तो व्यक्ति उत्पन्न नहीं होता है एवं जब तक व्यक्तित्व नहीं होता है तब तक-घड़ा है, वस्त्र है-इत्यादिस्वरूपयुक्ता पृथक्त्वबुद्धि ही उत्पन्न नहीं हो सकती है। पृथक्त्व व्यक्ति पर निर्भर है। व्यक्तित्व नास्ति-अस्ति की समष्टि पर है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि ज्ञान दो प्रकार का है-(१) अस्तिस्वरूप, (२) नास्ति-स्वरूप। इन दोनों के मेल से ही घटपटादियुक्त पृथक्त्व व्यवहार की सिद्धि होती है। जब तक 'अस्ति' में नास्ति का समावेश नहीं होता है, तब तक व्यक्तिता नहीं होती एवं जब तक व्यक्तिता नहीं होती, तब तक पृथक्त्वबुद्धि नहीं होती, अतः 'अस्ति'-'नास्ति' भेदेन ज्ञान अवश्य ही दो प्रकार का माना जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"ज्ञानं द्विधास्तीति च नास्ति चेति ताभ्यां[1] पृथक्त्वव्यवहारसिद्धिः।
यावन्न नास्तीत्यवयाति तावन्न व्यक्तिता नो पृथगस्तिता धीः ॥१६॥

हमने बतलाया है कि यह ज्ञान सामान्य-विशेष भेदेन दो प्रकार का है-अस्ति और नास्ति-यह उभयात्मक ज्ञान ही पृथगस्तित्व का-व्यक्ति का कारण है। यह जो पृथगस्तिताबुद्धि है-उसे छोटी करते चले जाइए। घर से छोटी पृथगस्तिताबुद्धि कमरे की है, कमरे से छोटी बुद्धि मेज की है, मेज से छोटी बुद्धि मेज पर रक्खी हुई पुस्तक की है, पुस्तक से छोटी पृथगस्तिताबुद्धि कागज की है, कागज से छोटी पृथगस्तिताबुद्धि अक्षर की है। गरज यह है कि क्रमशः अस्तित्वज्ञान को छोटा करते जाइए। छोटा करते करते उस छोटे ज्ञान पर पहुँच जाइए-जिससे छोटा और कोई नहीं हो। बस, अत्यन्तसूक्ष्मा जो पृथगस्तिता धी है-अर्थात् परमातिपरमतम जो सूक्ष्म ज्ञान है-वही ज्ञान **विशेषज्ञान** नाम से व्यवहृत होता है।

चूंकि घट-पट-पर्वत-पृथिवी-जल-सूर्य्य-परमेष्ठी-इत्यादि इत्यादि भेदेन व्यक्तियां (पदार्थ) अनन्तानन्त हैं-असंख्य हैं, अतएव यह पृथगस्तिताबुद्धि जैसे सबसे छोटी हो गई थी-वही उत्तरोत्तर बढने लगती है। उससे घट अनन्त हैं, पट भी अनन्त हैं, पर्वत भी अनन्त हैं। इन व्यक्तियों की समष्टि का नाम ही जाति और सामान्य रक्खा जाता है। घड़ा विशेष है एवं घटत्व सामान्य है-जाति है। कारण इसका यही है कि घट की अपेक्षा घटत्व की अस्तिबुद्धि बहुत बडी है। घटत्व के पेट में लाखों घट समा रहे हैं। इसी प्रकार घटत्व को भी छोडिए-मृत्तिका पर चलिए। मृत्तिकात्व घटत्व की

१ स्व० शास्त्री जी ने 'द्वाभ्यां' पाठ किया है।

अपेक्षा सामान्यधर्म्म है। घटत्व मृत्तिकात्व की अपेक्षा विशेषधर्म्म है, क्योंकि घटत्व केवल घटों में ही रहता है, परन्तु मृत्तिकात्व घटवत् मालसा-सराई-झावा-झाल–इत्यादि यच्चयावत् मिट्टी के बने पात्रों में रहता है। और आगे बढिए–मृत्तिकात्व द्रव्यत्व की अपेक्षा विशेषधर्म्म है एवं द्रव्यत्व मृत्तिकात्व की अपेक्षा सामान्यधर्म्म है। मृत्तिकात्व मिट्टी में ही रहता है, परन्तु द्रव्यत्व पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाशादि ९ओं में रहता है। निदर्शनमात्र है–उत्तरोत्तर बढाते चले जाइए–आखिर एक सामान्यज्ञान ऐसा मानना पड़ेगा जिससे कि आगे कोई बडा सामान्यज्ञान न होगा। इसी परमसामान्य-ज्ञान को पाश्चात्य जगत् **युनिवर्सल नॉलेज** शब्द से व्यवहृत किया करता है। जैसे एक विशेषज्ञान विशेष ही है–वह सामान्य नहीं हो सकता। सामान्य तभी तो हो न, जबकि उससे भी कोई छोटा हो। बस, ऐसे ही एक सामान्य होता है जिससे बडा कोई सामान्य नहीं है एवं जो सामान्य-सामान्य है–यदि उससे बडा कोई और सामान्य होता तभी तो न–वह सामान्य उस बडे की अपेक्षा विशेष बनता। तात्पर्य्य यही है कि अत्यन्त सूक्ष्मा जो पृथगस्तिताबुद्धि है–उसे ही विशेष कहते हैं एवं व्यक्तिभेद से वह विशेष धी क्रमशः उत्तरोत्तर बढती जाती है। बस, इस उत्तरोत्तर बढते हुए को ही विज्ञलोग जाति एवं सामान्य शब्द से व्यवहृत किया करते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"अत्यन्तसूक्ष्मा पृथगस्तिताधीर्विशेष उक्तः क्रमशस्तु सा धीः।
प्रवर्द्धते व्यक्तिबहुत्वतस्तां जातिं च सामान्यमिदं वदन्ति" ॥२०॥

पूर्वोक्त कथन का ही स्पष्टीकरण करते हैं -

सामान्यभिन्न जो परमविशेष हैं इनमें विशेष चूँकि अनन्त होंगे–क्योंकि सारे सामान्यों के विशेष होंगे। जब सबके विशेष होंगे–तो फिर अनन्तता में सन्देह ही क्या है? अस्तु, कहना हमें यही है कि सामान्य से अतिरिक्त जो परमविशेष हैं जिनसे कि फिर कोई विशेष नहीं है–वे विशेष ही रहेंगे–वे कभी सामान्य न होंगे। एवमेव सामान्यों को बढाते चले जाइऐ। जो अन्तिम सामान्य है–वह सर्वथा सामान्य ही होगा–वह विशेष कभी नहीं बनेगा एवं एक ही रहेगा। इस प्रकार परमविशेष न कभी सामान्य बनेंगे एवं परमसामान्य न कभी विशेष ही बनेंगे। परमविशेष विशेष ही रहेंगे–परमसामान्य सामान्य ही रहेंगे। इस प्रकार इस छोर में परमविशेष हैं, उस छोर में परम- सामान्य हैं। इन्हीं दोनों अन्तिम सीमाओं को बतलाने के वास्ते–**अणोरणीयान् महतो महीयान्**–कहा जाता है। इन दोनों के बीच में जितनी भी अस्तिबुद्धियाँ हैं–व्यक्तिज्ञान हैं, वे सबके सब सामान्यविशेषरूप हैं। बीच के सब ज्ञान अपेक्षया सामान्यविशेषस्वरूप हैं। उन सामान्यविशेषों का स्वरूप पूछना चाहो तो हम उन सारे सामान्यविशेषों को प्रत्ययरूपसत्ता ही कहेंगे। **जानामि**–इत्याकारक ज्ञानस्वरूपिणी जो सत्ता है, वही उन सामान्यविशेषों का स्वरूप है। इस प्रकार से यह पृथगस्तिता धी अर्थात् ज्ञान सामान्य-विशेष भेदेन दो प्रकार का है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"सामान्यभिन्नाः परमा विशेषाः सामान्यमन्त्यं त्वविशेषमेकम्।
मध्यास्तु सामान्यविशेषरूपाः सर्वाश्च ताः प्रत्ययरूपसत्ताः" ॥२१॥

ज्ञान 'सामान्य-विशेष' भेदेन दो प्रकार का है । इस प्रकार–इस ज्ञान की जो सामान्यविशेषवत्ता है–वह सत्ता से सर्वथा भिन्न वस्तु है । जानते हैं–यही उस सामान्यविशेषत्व का स्वरूप है । 'है'–उसे जानते हैं–यही लोकसिद्ध व्यवहार है । सत्ता घट की है–'है' घड़ा है–उसे हम जानते हैं–इससे ज्ञानसत्ता का पृथक्त्व सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार से पूर्वोक्त ज्ञान की जो सामान्यविशेषवत्ता है–उसे हम अवश्य ही सत्तातिरिक्ता बतला सकते हैं । ज्ञानीयसामान्यविशेष को सत्तासम्बन्धी सामान्यविशेष से पृथक् बतला सकते हैं । इस प्रकार ज्ञानीयसामान्यविशेषवत्ता यद्यपि है सत्ता से अतिरिक्त-भिन्न-दूसरी चीज, परन्तु अन्त में यही कहेंगे कि है–वह सत्ता से अनतिरिक्ता ही । ज्ञान और सत्ता है अलग-अलग वस्तु, परन्तु ज्ञान विना सत्ता के नहीं रहता–सत्ता विना ज्ञान के नहीं है । अस्ति है–जहाँ भाति है–भाति है वहाँ अस्ति है । दोनों पृथक् पदार्थ होते हुए भी अनतिरिक्त हैं–अव्यभिचरित हैं–अविनाभूत हैं । इसीलिए स्वरूप से ज्ञानीयसामान्यविशेषवत्ता को सत्तातिरिक्ता समझते हुए भी अन्त में उस ज्ञानीय-सामान्यविशेषवत्ता को कहेंगे सत्तासम्बन्धी सामान्यविशेष से अनतिरिक्ता ही–अविनाभूता ही–अभिन्न-स्वरूपा ही ।

कहना हमें यही है कि यह सामान्यविशेषस्वरूपविज्ञान ही आसमन्तात् (आ-लोकालोकपर्य्यन्तात्) प्रतिभासित हो रहा है । सामान्यविशेषात्मिका अस्तिबुद्धि के अलावा और कुछ भी नहीं है । सर्वत्र यही विज्ञान चमक रहा है । आलेश-आपूर्ण–यह विज्ञान जर्रे-जर्रे में प्रविष्ट हो रहा है । इस विज्ञान से शून्य एक बिन्दु भी नहीं है । हो कैसे ? विज्ञान आभु का स्वरूप ही तो है । भला, नित्य, व्यापक, परिपूर्ण–इस आभु का अंगभूत विज्ञान क्योंकर व्याप्य अनित्य, अपूर्ण हो सकता है । तात्पर्य्य यही है कि ज्ञानीयसामान्यविशेषवत्ता सत्ता से भिन्नपदार्थस्वरूपिणी होती हुई भी 'है' स्वरूपा सत्ता से अभिन्न है । अर्थात् चीज दो हैं, परन्तु दोनों का अविनाभाव है एवं वही सामान्यविशेषयुक्तविज्ञान सर्वत्र व्यापकरूपेण प्रतिभासित हो रहा है एवं वही विज्ञान सर्वत्र अनुस्यूत हो रहा है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"या चात्र सामान्यविशेषवत्ता सत्तातिरिक्तानतिरिक्तभूता ।
विभाति विज्ञानमिदं समन्तादालेशमापूर्णमनु प्रविष्टम्" ।।२२।।

जिस प्रकार ज्ञान सामान्य-विशेष भेदेन दो प्रकार का है तद्वत् सत्ता और आनन्द भी दो-दो प्रकार के ही समझने चाहिएँ । सत्ता-ज्ञान-आनन्द–इन तीनों में से जो सत्तातत्त्व है–वही अस्ति (है)–नाम से व्यवहृत होता है एवं ज्ञान **ज्ञायते, जानामि**–इत्यादि शब्दों द्वारा निर्वचन की सीमा में आता है । बाकी बचता है–'आनन्द' । बस, आनन्द नाम का यह तीसरा तत्त्व अत्यन्त ही गूढ है । ऐसा अन्तः-प्रविष्ट है–कि जो रातदिन अनुभव में आते रहने पर भी निर्वचन की सीमा से बाहर ही रहता है । यह गूढतत्त्व तो स्वानुभवैकगम्य ही है । यद्यपि सत्ता और ज्ञान भी परमार्थतः अनिर्वचनीय ही हैं तथापि आनन्द तो इन से भी बाजी मारा हुआ है । पूर्व प्रकरण में हमने बतलाया था कि क्रिया-समष्टि का नाम ही सत्ता है । क्रिया तब तक नहीं बन सकती, जब तक कि उसका आलम्बन एक

निष्क्रिय पदार्थ न मान लिया जाए। बस, वही आलम्बन-आनन्द नाम से व्यवहृत होता है। प्रकृत में कहना यही है कि जैसे सत्ता इसी आनन्द का आलम्बन लेती है-इसी के आधार पर रहती है-उसी प्रकार यह सामान्यविशेषस्वरूपज्ञान भी सदसद्विवेक से उसी को आलम्बन बनाता है। सत्तावत् ज्ञान का भी आलम्बन वही 'आनन्द' है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"आनन्दनामानमतीव गूढं सत्ता यथालम्बत एवमेतत्।
ज्ञानं च सामान्यविशेषरूपं प्रलम्बते तं सदसद्विवेकात्" ॥२३॥

क्या कहें? क्या न कहें? आनन्द-चेतना-सत्ता-तीनों ही अद्भुत तत्त्व हैं। मैं घड़ा जानता हूँ-यहाँ घड़ा रक्खा है-इत्यादि सत्ता-चेतना-आनन्दात्मक लोकव्यवहार में हम यह जरा भी नहीं पहचानते कि 'मैं घड़ा जानता हूँ'-इसमें यह अंश तो सत्ता का है एवं यह अंश विज्ञान का है तथा यह आनन्द का है। पूर्वोक्त वाक्य में आनन्द का हिस्सा कौनसा है एवं कहाँ तक है एवं विज्ञान का हिस्सा कौनसा है एवं कहाँ तक है एवमेव सत्ता का हिस्सा कहाँ तक है एवं कौनसा है?- इस काट छाँट में हम सर्वथा असमर्थ हैं। हम इन तीनों का जो उन्मुग्ध 'सच्चिदानन्द'-यह स्वरूप है-इस मात्र को जानते हैं। 'सारा प्रपञ्च सच्चिदानन्दमय है'- यह रहस्य तो हम अवश्य जानते हैं। परन्तु कितनी दूर में कौन विभक्त है? इसकी हमें जरा भी खबर नहीं है। सच्चिदानन्द के उन्मुग्धस्वरूप का ही हमें ज्ञान होता है। उद्बुद्ध का हमें जरा भी पता नहीं लगता और साथ ही में विश्वास होता है कि न कभी इन तीनों की उद्बुद्धावस्था का पता लगेगा ही। लगे कैसे? जबकि तीनों अन्योन्याविनाभूत हों-अव्यभिचरित हों? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं--

"इत्थं न जानामि कियानिहांशः सत्ता कियज्ज्ञानमथो कियान् वा।
आनन्द एकं तु विमूढभेदं प्रत्येमि तत्सच्चिदियं स मोदः" ॥२४॥

——✲——

७—त्रयाणामयुतसिद्धिः।

तीनों की अयुतसिद्धि (तादात्म्य)—

आनन्द, सत्ता, विज्ञान-आभु के ये तीन स्वरूप बतलाए गए हैं। हम क्रमशः इन तीनों के त्रित्व का निरास करते जा रहे हैं। सबसे पहले पाँचवें सूत्र से यही सिद्ध किया गया है कि ये हैं यद्यपि तीन, परन्तु एक के विना एक नहीं रहते हैं। तीनों वास्तव में भिन्न-भिन्न हैं-तीनों अलग-अलग पदार्थ हैं। परन्तु तीनों रहते हैं एक साथ। एक के विना एक नहीं रह सकता। मित्र तीन हैं, परन्तु तीनों के यच्चयावत् कार्य्य साथ ही होते हैं। तीनों साथ सोते हैं-साथ खाते हैं-साथ उठते हैं-साथ चलते हैं-साथ बोलते हैं। तीनों परस्पर सर्वथा अविनाभूत हैं। अब इस अविनाभाव को छोडकर तादात्म्य की ओर बढते हैं। वास्तव में तीनों तीन वस्तु नहीं हैं, अपि तु, उस एक आभु में तीनों तादात्म्यापन्न हैं।

जैसे हमारे हाथ, पैर, नाक, कान हमारे से अभिन्न हैं–हमारे से तादात्म्यापन्न हैं–तद्वत् आभु के आनन्द, सत्ता एवं विज्ञान–ये तीनों भाव आभु के साथ तादात्म्यापन्न हैं। तीन इलायची-पुड़त हैं। तीनों पृथक्-पृथक् वस्तु हैं, परन्तु तीनों रहती हैं साथ ही। एक के विना एक नहीं रह सकती। बस, यही अविनाभाव का उदाहरण है। इलायची तीन नहीं हैं–एक ही है–उसी के तीन पुड़त हैं। तीनों पुड़त इलायची के साथ तादात्म्यापन्न हैं। बस, यही तादात्म्य कहलाता है–इसी का नाम अयुतसिद्धि है। कैसे तीनों आभु के साथ तादात्म्यापन्न हैं–यही इस प्रकरण का विषय है।

हमने सत्ता को 'अस्ति' शब्द से व्यवहृत किया है एवं ज्ञान को भातिशब्देन व्यवहृत किया है एवं 'आनन्द' को 'रस' शब्द से व्यवहृत किया है। अस्ति, भाति, रस–ये तीनों सत्ता, विज्ञान, आनन्द–इन तीनों के पर्य्याय हैं। इन तीनों के विषय में हमें यही कहना है कि जो भाति है अर्थात् ज्ञान है–उससे तो 'अस्ति' की सत्ता रहती है। बात वास्तव में ठीक है। 'अस्ति' का नाम है–सत्ता। सत्ता में सत्ता नहीं रहा करती है। सत्ता के–ज्ञान के लिए–सत्ता के अस्तित्वज्ञान के लिए–अवश्य ही सत्ता से अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा है, बस, वही हमारा भान है। भाति से ही 'अस्ति' की सत्ता रहती है। हम जानते हैं–इसीलिए घट-पट की सत्ता है। **ज्ञायते अतः अस्ति**–यह लोकसिद्ध व्यवहार है। यदि उस वस्तु का उस मनुष्य को ज्ञान होगा–यदि वह घड़े को जानता होगा तो–'यहाँ घड़ा है' –यह कह सकेगा। यदि नहीं जानता होगा तो कैसे–'यहाँ घड़ा है'–यह कहेगा? इससे सिद्ध होता है कि 'घटोऽस्ति'–इस सत्ता का आधार ज्ञान है–भान है। ज्ञान जब अस्ति का आधार बन जाता है तब कहीं 'अस्ति' अपना स्वरूप दिखलाने में समर्थ होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"भात्यास्ति"।

जिस प्रकार भाति से अर्थात् ज्ञान से अस्ति का अस्तिपना है, ठीक इसी प्रकार 'अस्ति' से ज्ञान का ज्ञानपना समझना चाहिए। घड़ा है–तभी तो हम जानते हैं। यदि घड़ा न होता–यदि घड़े का अस्तित्व ही न होता–तो हम कभी **घटो भाति**–यह न कहते। बात सच है। ज्ञान में चूँकि ज्ञान नहीं रहता, अतः 'ज्ञान' के ज्ञान के लिए–ज्ञान की सत्ता के लिए–ज्ञान से अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा है। बस, उसी का नाम 'अस्ति' है। सत्ता जब ज्ञान का आश्रय बनती है, तभी **ज्ञायते घटः**–यह ज्ञानस्वरूप बनता है। घटपटादि पदार्थ ही तो 'अस्ति' नाम से व्यवहृत होते हैं। आप इन सारे पदार्थों को ज्ञान में से निकाल दीजिए–जिस समय सारा अस्तित्व (विषय) ज्ञान में से निकल जाएगा–उस समय ज्ञान ही लापता हो जाएगा। ज्ञान का ज्ञान विषय से ही होता है–सत्ता से ही होता है। **अस्तीति ज्ञायते**–यही लोकसिद्ध व्यवहार है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"एवं खलु भातिरस्त्या"।

अपि च–इस भाति और अस्ति से ही उस आनन्दस्वरूप रस की सिद्धि होती है। घड़ा है एवं हम उसे जानते हैं। बस, 'है' और 'जानते हैं'–यही तो उस रस की सत्ता है। यदि नहीं है और हम

नहीं जानते हैं तो घटस्वरूप रस ही नहीं है। अस्तितत्त्व और ज्ञान से ही रस की सिद्धि होती है। है–और जानते हैं–इसीलिए 'घट' है। यदि नहीं है और नहीं जानते हैं तो घट है ही नहीं अर्थात् रस है ही नहीं। रस की सत्ता अस्ति और भाति पर ही अवलम्बित है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"ताभ्यां रसः"।

एवं इस घटस्वरूप रस से ही अस्ति और भाति–दोनों सिद्ध हैं। सत्ता और ज्ञान वाचक हैं। वाचक तब तक अपना स्वरूप कायम नहीं कर सकता है–जब तक कि उसका वाच्य कोई न हो। है–और जानते हैं–उसी समय प्रश्न होता है–क्या है? और क्या जानते हो? उसी समय उत्तर मिलता है–घड़ा है और घड़े को जानते हैं। कहना यही है कि सत्ता और ज्ञान-दोनों का स्वरूप 'घट' रस पर अवलम्बित है। यदि घड़ा कोई चीज है तो सत्ता भी कोई वस्तु है एवं ज्ञान भी कोई वस्तु है। रस स्थिति पर ही–घट की मौजूदगी पर ही–'है' और 'जानते हैं'–यह व्यवहार होता है। यदि रस न हो तो सत्ता और ज्ञान शब्द निर्वचन ही किसका करें? अतः अस्ति और भाति–इन दोनों का अस्तित्व रस से ही सिद्ध है–यह बात बाध्य होकर माननी पड़ती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"ते च रसेन सिद्धे"।

इस प्रकार तीनों तीनों से सिद्ध हैं। इन तीनों में से कौन पहले है और कौन पीछे है? अस्ति पहले है या ज्ञान पहले है या आनन्द पहले है?–इस प्रकार से इन तीनों का पूर्वापरत्व कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। जिस समय मार्ग में हम चलते रहते हैं–उस समय हमें अपनी गति पर लक्ष्य देना चाहिए। उत्तरदेशसंयोग और पूर्वदेशवियोग का नाम ही गति है। हम आपसे पूछते हैं कि बतलाइए! पहले किस पैर का उत्तरदेश के साथ संयोग हुआ और वियोग हुआ? आप सिवाय 'कुछ मालूम नहीं'–के इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे सकते। तो बस, जिस प्रकार गति में योगविभागसंस्था के पूर्वापरत्व का पता नहीं रहता, ठीक इसी प्रकार से अस्ति, भाति, रस–इन तीनों के पूर्वापरत्व का ज्ञान नहीं होता।

तात्पर्य्य यही है कि भाति से अस्ति की सिद्धि एवं अस्ति से भाति की सिद्धि है एवं अस्ति, भाति–दोनों से रस की सिद्धि है एवं रस से अस्ति-भाति की सिद्धि है। तीनों तीनों से सिद्ध हैं। एक नहीं तो दूसरा नहीं, दूसरा नहीं तो तीसरा नहीं। तीसरा (रस) नहीं तो दूसरा पहला (भाति-अस्ति) नहीं। पहला दूसरा (अस्ति-भाति) नहीं तो तीसरा (रस) नहीं। अपि च–अस्ति, भाति, रस–इन तीनों के गतियोगविभागसंस्था के पूर्वत्वपरत्ववत् पूर्वत्व परत्व का पता नहीं लगता–जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"भात्यास्तिरेवं खलु भातिरस्त्या ताभ्यां रसस्ते च रसेन सिद्धे।
तेषां न पूर्वत्वपरत्वसिद्धिर्गत्यां यथा योगविभागसंस्थाः" ॥२५॥

अब अस्ति, भाति, रस पर जरा ध्यान दीजिए। ध्यान देने से आपको तीनों तादात्म्यापन्न प्रतीत होंगे—

इस विश्व-प्रपञ्च के अन्तर्गत जो एक 'घड़ा है'–'पुस्तक है'–'पर्वत है'–यह अस्तित्व है, वही उपलब्धि है। अस्ति और उपलब्धि दो वस्तुएँ हैं, परन्तु एक के विना दूसरी नहीं रहती–यह तो अविनाभाव है। परन्तु उपलब्धि (ज्ञान) और सत्ता–दो नहीं हैं, बल्कि दोनों एक वस्तु हैं। एक ही का दो प्रकार से व्याकरण है। एक ही चीज अस्ति-भातिरूप में परिणत हो गई है। वास्तव में जो है–वही तो उपलब्धि है। 'है'–यही तो ज्ञान का स्वरूप है। 'है'–यही ज्ञान है–'है' से अतिरिक्त ज्ञान कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इसीलिए कहा जाता है—

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते" ॥[1]

वेद भगवान् कहते हैं कि 'है'–यह बोलते हुए उपलब्धि को अन्यत्र कहाँ ढूंढते हो ? 'है'–इसी का नाम तो 'उपलब्धि' है। जैसा कि गुरुवर कहते हैं—

"सैवोपलब्धिर्यदिहास्ति"।

एवमेव जिसका ज्ञान होता है–जो उपलब्ध होता है–वही तो 'सत्ता' कहलाती है। **घटमहं जानामि** में 'घट' ही तो सत्ता है। घट की ही उपलब्धि है एव घट ही सत्ता है। उपलब्धि ही तो सत्ता है। ज्ञान ही तो सत्तास्वरूप में परिणत हो रहा है। जैसा कि गुरुवर कहते हैं—

"यद्वोपलभ्यते यत् तदिहास्ति सत्ता"।

जो कि भासित होता है–बस, उसी से सत्ता सिद्ध हो जाती है। अर्थात् 'अस्ति'–इस सत्ता की सिद्धि भाति से सिद्ध हो जाती है एवं 'है'–इस अस्ति से भाति सिद्ध है। अस्ति से भाति की सिद्धि हो जाती है एवं रस 'अस्ति-भाति'–इन दोनों से सिद्ध है। तीनों तादात्म्यापन्न हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"सैवोपलब्धिर्यदिहास्ति यद्वोपलभ्यते यत् तदिहास्ति सत्ता।
यद्भातिसिद्धाऽस्तिरथास्तिसिद्धा भाती रसस्तूभयसिद्ध एषः" ॥२६॥

अस्ति, भाति, रस–इन तीनों में भाति से पहले न अस्ति है एवं न अस्ति से पहले भाति है एवं न इस भाति अस्ति के विना रस ही अपनी स्थिति कायम कर सकता है। इससे यही मानना पड़ता है

१ कठोप० २।६।१२।

कि रस-भाति और अस्ति वास्तव में एक वस्तु है। तीनों का एक अव्याकृतस्वरूप है। वह एक ही मायादिबल के कारण तीन तरह से व्याकृत हो जाता है। उसका तीन तरह से व्याकरण हो जाता है। एक ही विविधाकार (तीन) में परिणत हो जाता है। भला, फिर पूर्वपरत्व क्योंकर हो सकता है? अस्ति, भाति, रस–ये तीनों यदि भिन्न वस्तु होती तो इन में पूर्वत्व और परत्व हो सकता था। परन्तु जब तीनों एक ही वस्तु हैं, एक ही अव्याकृततत्त्व तीन तरह से व्याकृत हो जाता है तो फिर पूर्वत्व-परत्व कैसा? सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य्य यही है कि तीनों परस्पर तादात्म्यापन्न हैं। तीनों एक वस्तु हैं। एक ही का अस्ति-भाति-रस--इस तरह तीन प्रकार से व्याकरण है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न भातिपूर्वास्तिरथास्तिपूर्वा न भातिराभ्यां न विनाकृतो वा।
रसोऽपि शक्येत मतं तदेकमव्याकृतं व्याक्रियते त्रिधा यत्" ॥२७॥

——❀——

८–त्रयाणामैकात्म्यम्।

सत्ता-चेतना-आनन्द तीनों का ऐकात्म्य—

सबसे पहले ५वें सूत्र से सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीनों का अविनाभूतत्व बतलाया था। अनन्तर ७ वें सूत्र से तीनों का मृद्घटवत् तादात्म्य बतलाया गया था। अब हम इस तादात्म्यपक्ष को भी छोडते हैं एवं ऐकात्म्यपक्ष का आश्रय लेते हैं। मिट्टी से घड़ा बनता है, मिट्टी से ही 'झाल' बनती है। मिट्टी से ही उषा (पातली) बनती है, मिट्टी से ही सराई बनती है, मिट्टी से ही मालसा बनता है। कहाँ तक गिनावें? एक ही मिट्टी से अनन्तानन्त पात्र बने हुए हैं। वे सारे के सारे पात्र मिट्टी के के साथ तादात्म्यापन्न हैं। घट-मिट्टी का तादात्म्यसम्बन्ध है। मिट्टी ही घड़ा बना हुआ है। बस, ठीक इसी प्रकार अव्याकृत नित्य आभु ही सत्ता, चेतना, आनन्द बना हुआ है। इसी का नाम तादात्म्य है। परन्तु घट-झाल इत्यादि पर यदि सूक्ष्म दृष्टि डाली जाती है तो घड़ा-झाल वगैरह कोई वस्तु ही नहीं रहती। घ-ड़ा–ये दो अक्षर आपने बोल दिए हैं। आपका बोलनामात्र है। वास्तव में घड़ा-झाल वगैरह कोई चीज नहीं हैं–सब मिट्टी ही मिट्टी है। सुवर्ण से बने हुए–कटक-कुण्डलादि नाम-मात्र से भिन्न हैं–वास्तव में सुवर्ण ही सुवर्ण है। कटककुण्डलादि सब सुवर्ण ही हैं–एक ही वस्तु हैं। इसी का नाम 'ऐकात्म्य' है। इसी ऐकात्म्य-पक्ष का स्थापन करती हुई श्रुति कहती है—

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"।[1]

१ छान्दोग्योप० ६।४।

कहना हमें यही है कि घड़ा जैसे मिट्टी ही है। तद्वत् सत्ता, चेतना, आनन्द- तीनों आत्मा ही हैं- अर्थात् आभु ही है। तीनों का तादात्म्य नहीं है-ऐकात्म्य है। मिट्टी से घड़ा बना नहीं है, अपि तु, घड़ा मिट्टी ही है। आभु से सत्ता, चेतना, आनन्द बने नहीं हैं अपि तु, आभु का विवर्त्तमात्र हैं। तीनों आत्मा ही हैं-अर्थात् आभु ही हैं। बस, निम्नलिखित प्रकरण का यही विषय है।

यदि सत्ता, चेतना, आनन्द- इन तीनों को हम ध्यान से देखते हैं-तो वास्तव में इनमें 'ऐकात्म्य' ही पाते हैं। सबसे पहले सत्ता ही को लीजिए-मकान, धन, बेटा, पोता, जमीन, बाग, घोड़ा, मोटर- इत्यादि इत्यादि जितने भी पदार्थ हैं-वे सब, चूँकि 'हैं' अतएव उन्हें हम 'सत्ता' शब्द से व्यवहृत करने के लिए तय्यार हैं। मकान, धन वगैरह- हैं-अर्थात् उनका अस्तित्व है-ऐसी हालत में क्यों न उन्हें 'सत्ता'-स्वरूप कहेंगे। कहेंगे-और अवश्य कहेंगे। हम आगे जितनी भी बातें बतलाने वाले हैं-वे बनावटी जरा भी नहीं हैं। हम कोई भी बात ऐसी नहीं बतलावेंगे-जो केवल पण्डित जी की समझ में ही आवे। नहीं नहीं-हमारा तो उसूल ही यह है कि जो प्रकृति में हो रहा है, जिसका ज्ञान पण्डित से पण्डित को एवं मूर्ख से मूर्ख को, बूढे से बूढे को एवं बच्चे से बच्चे को समानरूप से हो रहा है-जिसका अहर्निश सारे मनुष्य अनुभव करते हैं-प्रत्यक्ष में देखते हैं-वही हमारा प्रतिपाद्य विषय है-जरा रास्ता दिखलाने की आवश्यकता है। प्राणिमात्र चूँकि त्रिभुवन-अधिष्ठात्री भगवती प्रकृतिदेवी के लाडले पुत्र हैं तो भला, उस महिमामयी महामाया के पुत्र क्योंकर उसके-अपनी माता के चरित्र से अपरिचित रह सकते हैं। हर्गिज नहीं। वे रात-दिन उन प्राकृतिक चरित्रों का प्रत्यक्ष कर रहे हैं। कमी है-रास्ता दिखलाने की। हैं वे पढे पढाए-जरा इशारा कर दीजिए-सारा काम हो जाएगा। बस, इस ग्रन्थ के द्वारा रात-दिन अनुभव करने वाले भावों की ओर इशारामात्र किया जाएगा। बस, यदि जरा गौर से उस पर आपने ध्यान जमा लिया तो समझ लीजिए-आपके लिए—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"॥[1]

—की सम्पत्ति आपके सामने हाथ जोड़े खड़ी ही हुई है।

आज हम आपको उस भाव का प्रत्यक्ष कराना चाहते हैं जिससे कि आप खूब परिचित हैं। प्रत्येक मनुष्य का धर्म्म है-वह संसार के पदार्थों को हरवक्त चाहा करता है। मेरे पास खूब धन हो जाए, मैं विद्वान् बन जाऊँ, मेरे पास १० मोटर आ जाएँ, मैं एक बड़ा भारी महल बनवालूँ, एक बगीचा बनवालूँ, दस बीस घोड़े-गाड़ी मेरे पास हो जाएँ- इस प्रकार की इच्छाएँ प्रत्येक मनुष्य को हुआ करती हैं। पदार्थसत्ता की इच्छा करना यह मनुष्य मात्र का स्वाभाविक धर्म्म है। इस इच्छा-धर्म्म का बाध आप कहीं भी नहीं बतला सकते। और तो और जो परमयोगी हैं-वे भी-'मैं उस परम धाम में पहुँच जाऊँ, जहाँ पर कि कोई न पहुँचा हो'-यह इच्छा किया करते हैं। इच्छा आत्मा का

१ मुण्डकोप० २।२।८।

स्वाभाविक धर्म्म है। प्राणिमात्र को-यह ले लूं-वह ले लूं-मुझे यह भी मिल जाए, वह भी मिल जाए-यह चाह अनवरत हुआ करती है एवं साथ ही में-यदि उनकी इच्छाएँ-अभिलाषाएँ पूरी हो जाती हैं-तो उन्हें बडा ही आनन्द आता है। यदि कोई मनुष्य चाहता है-मेरे २५ हजार रु० सालाना की जागीरी हो जाए-यदि उसकी चाह के अनुसार उसे २५ हजार रु० सालाना मिलने लगते हैं-तो उसे कितना आनन्द आता है ?-यह उस रुपये मिलने वाले से ही पूछना चाहिए।

तात्पर्य्य यही है कि पदार्थसत्ता की इच्छा प्राणिमात्र को हुआ करती है एवं उस इच्छा के पूरे होने पर आनन्द आया करता है। जिसकी इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं-जिसे मनचाहा फल मिला करता है-लोक में वही मनुष्य 'सुखी' कहलाता है। इस सत्ता के विषय में हमें कहना इतना ही है कि किसी मनुष्य को अर्थसत्ता (गाँव-घोड़ा-हाथी इत्यादि पदार्थ) मिल भी गए, परन्तु उसे यदि अर्थ-सत्ता मिलने का ज्ञान नहीं है-तो बस, अज्ञान के कारण-उसी समय उसके चित्त में दुःखोदय हो जाएगा। उसे आनन्द तभी आएगा, जबकि वह अपने में उस अर्थसत्ता का ज्ञान कर लेगा। विलायत में पार्लियामेण्ट ने आपको ता० २० जुलाई सन् १९३१ को 'केसरे हिन्द' का टाइटिल दे दिया। २० जुलाई से वह टाइटिल आपकी चीज हो गई। परन्तु आप रहते हैं-हिन्दुस्तान में। हिन्दुस्थान से विलायत का मार्ग करीब २-२½ महिने में समाप्त होता है। बस, जब तक वह टाइटिल विलायत से चलकर आपके पास न पहुँच जाएगा-तब तक आपको 'मुझे टाइटिल मिला है'-यह ज्ञान न होगा, तब तक टाइटिल मिलने का आनन्द आपको हर्गिज नहीं आ सकता। आनन्द जानने में है। अर्थसत्ता को जाने बाद आनन्द आया करता है। टाइटिल मिल गया-२० जुलाई को ही-वह आपकी चीज बन गई। वह सत्ता आपकी हो गई, परन्तु चूंकि अभी आपको उसका ज्ञान नहीं है, अतएव आपको जरा भी खुशी नहीं है। २ महिने बाद जब टाइटिल का आपको ज्ञान होगा-तब कहीं जाकर आप 'टी पार्टियाँ' करेंगे। आपके मकान में आपके पिताजी किसी गुप्तस्थान में अतुलसम्पत्ति रख कर देवलोक पधार गये। वह गडा हुआ द्रव्य आपका है। द्रव्यसत्ता आपकी चीज है। परन्तु जब तक आपको 'फलाने स्थान पर पिताजी द्रव्य रख गए हैं'-इस अर्थसत्ता का ज्ञान न हो, तब तक सारी अर्थसत्ता (सम्पत्ति) व्यर्थ है। मालूम होने पर आनन्द आता है। अर्थसत्ता के ज्ञान में आनन्द है। हमारे घर में खूब सम्पत्ति गडी हुई है, परन्तु यदि हम उसे नहीं जानते हैं तो उस अज्ञान के कारण हम महाकष्ट पाया करते हैं। घर में अतुलसम्पत्ति रहने पर भी उदरपोषणमात्र के लिए कर्ज लिया करते हैं। इसका एकमात्र कारण है-अर्थसत्ता का अज्ञान। अज्ञान ही दुःखोदय का कारण है।

परन्तु ठीक इसके विपरीत हम अपनी अर्थसत्ता को जितना पहचानते जाते हैं, हमें उतना ही आनन्द आया करता है। यदि कोई मनुष्य घर में रक्खे हुए द्रव्य को जान जाता है तो उस ज्ञानमहिमा से 'मेरे घर में सम्पत्ति है'-इस अस्तिज्ञान से उसके सारे दुःख भाग जाते हैं। 'अस्ति' इसका यह ज्ञान ही तो सुख है। अर्थबोध (अस्तिज्ञान) को ही तो सुख कहते हैं। अस्ति के ज्ञान का नाम सुख है एवं अस्ति के अज्ञान का नाम दुःख है। तात्पर्य्य यही हुआ कि मनुष्य अपने में जब तक अर्थसत्ता नहीं जानता है-तो उस अज्ञान के कारण उसमें दुःख का प्रादुर्भाव हो जाता है-अर्थात् अर्थसत्ता के अज्ञान से दुःखी

रहता है। परन्तु ठीक इसके विपरीत वह जितनी अर्थसत्ता जान जाता है–उतना ही सुखी हो जाता है। अर्थबोध का नाम ही तो सुख है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वस्मिन्न जानाति यदर्थसत्तामज्ञानतो[1] दुःखमुदेति तर्हि।
तद्वैपरीत्यादिह वेत्ति यावत् तावत् सुखी तत्सुखमर्थबोधः" ॥२८॥

पूर्वोक्त कथन का ही स्पष्टीकरण करते हैं—

यदि यह मनुष्य आत्मशक्ति को शून्य पाता है तो दुःखी हो जाता है। ज्ञानकन्दलस्वरूप आत्मा हृदयकेन्द्र में बैठा रहता है। इसमें से चारों ओर किरणें निकला करती हैं–जैसे कि सूर्य्यबिम्ब से निकला करती हैं। उन रश्मियों में यदि सत्ता (घट-पट-हाथी-घोड़ादि) बैठी रहती है तो आत्मा बलवान् रहता है। नामरूपकर्म का नाम है–सत्ता। घट में नामरूपकर्म–ये तीन ही तो पदार्थ हैं। इन तीनों को ही हमने 'अभ्व' नाम से व्यवहृत किया है। 'अभ्व' ही को कहते हैं–बल। बस, यह 'अभ्व' अर्थात् बल अर्थात् नामरूपकर्म्मात्मिक घट, पट, द्रव्य इत्यादि इत्यादि जो सत्ता है–वह यदि आत्मा में बैठ जाती है तो आत्मा बलवान् हो जाता है। बलस्वरूप सत्ता के आ जाने के कारण आत्मा बलवान् बन जाता है–शक्तिशाली बन जाता है। जितना अधिक बल इस आत्मा में प्रविष्ट होगा अर्थात् जितनी अर्थसत्ता बढेगी–आत्मा उतना ही अधिक बलवान् बनेगा। एक छोटे से जागीरदार के पास ५० घोड़े हैं–१० रथ हैं–१०० सेवक हैं–तो उसका आत्मा सामान्यमनुष्यों की अपेक्षा बलवान् है। सामान्यमनुष्य उससे दबा करते हैं। परन्तु एक के पास २ (दो) हजार सवार हैं–१०० रथ हैं–अतुल-सम्पत्ति है तो अर्थसत्ताधिक्यात् वह और भी अधिक बलवान् है। बस, इसी प्रकार अर्थसत्ता को उत्तरोत्तर बढाते चले जाइए। जिसके पास जितनी अधिक अर्थसत्ता होगी–वह उतना ही अधिक बलवान् होगा। क्योंकि जितनी अर्थसत्ता होगी, उसका आत्मा उतना ही बढता जाएगा। वह महाशय बनता जाएगा। जहाँ तक अर्थसत्ता अर्थात् सम्पत्ति रहेगी–वहाँ तक उसका आत्मा फैल जाएगा। इसीलिए **यावद्वित्तं तावदात्मा** कहा जाता है।

परन्तु ठीक इसके विपरीत आत्मशक्ति को जितनी शून्य पाएगा–उतना ही यह मनुष्य दुःखी रहेगा। सम्पत्ति की जितनी कमी होगी, अर्थसत्ता का (आत्मशक्ति का) जितना अभाव होगा–उतना अधिक दुःख पाएगा। क्योंकि अल्पता का नाम ही तो दुःख है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"यो वै भूमा तद्वै सुखम्। यदल्पं तद् दुःखम्" ॥[2]

बस, इस आत्मशक्ति की–अर्थसत्ता की कमी को ही 'दुःख' कहते हैं एवं इस दुःख को ही **दारिद्र्य** कहते हैं। **दरी सन् द्राति**–यही 'दरिद्र' शब्द की निरुक्ति है। आत्मरश्मियाँ बाहर आकाश में

१ पं० मोतीलाल शास्त्री जी ने 'यदार्थसत्तामज्ञानतो' पाठ लिखा है।
२ छान्दोग्योप० ७।२३।१।

वितत रहती हैं। यदि इस आकाश में अर्थसत्ता नहीं है तो वह आकाश दुष्ट है-दूषित है। चूंकि अर्थसत्ताऽभाव वाले मनुष्य का आकाश दुष्ट रहता है, अतएव इसकी इस अवस्था को-**दुष्टं खं यस्या (अवस्थायाः) तद् दुःखम्**-दुःख कहा जाता है। एवमेव दरिद्रशब्द का अर्थ भी समझना चाहिए। परन्तु जिसकी आत्मरश्मियाँ शून्य नहीं रहती हैं-अपि तु, अर्थ सत्तायुक्त रहती हैं-अर्थात् बलयुक्त रहती हैं-वह सुखी रहता है। आत्मशक्ति की जो अशून्यता है-उसका जो ज्ञान है-अर्थात् अर्थसत्ता का ज्ञान है-वह सुख का साधक है-इसलिए-**अशून्यता ज्ञानम्**-कहा है। यदि अर्थसत्ता है भी और उसका ज्ञान नहीं तो उसका होना न होना बराबर है। अर्थसत्ता हो और उसका ज्ञान हो-तब आनन्द मिलता है। जितनी अधिक अर्थसत्ता होती है, आत्मा उतना ही अधिक फैलता है। इस भूमा का नाम ही तो सुख है। चूंकि अर्थसत्ता से आनन्द आया करता है। जितनी अधिक अर्थसत्ता (सम्पत्ति) बढती जाती है-आनन्द की मात्रा उतनी ही अधिक बढती जाती है, अतएव इस सत्ता को हम 'सुख' अर्थात् 'आनन्द' कहने के लिए तय्यार हैं। जब हमारे पास थोड़ी अर्थसत्ता थी तो एक सेर आनन्द था-जब उसमें और सत्ता मिली तो दो सेर आनन्द[1] होगा-इससे मालूम होता है कि सत्ता आनन्दस्वरूप है। तभी तो उसके आने से आनन्द की मात्रा उत्तरोत्तर बढती चली जाती है। तात्पर्य्य यही है कि मनुष्य जब तक आत्मशक्ति की शून्यता का (अर्थसत्ताभाव का) अनुभव करता है-तब तक दुःखी रहता है। इसकी इस अवस्था का नाम ही दुःख है। इसी दुःख को **दारिद्रय** कहते हैं। परन्तु ठीक इसके विरुद्ध आत्मशक्ति की अशून्यता का ज्ञान (अर्थसत्ता-ज्ञान) चूंकि सुख का साधक है, अतएव अर्थसत्ता को हम सुखस्वरूप कह सकते हैं। सत्ता आनन्द ही है, सत्ता और आनन्द दो पदार्थ नहीं हैं। यही इस श्लोक का तात्पर्य्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रत्येति शून्यां तु यदात्मशक्तिं दुःखं तु दारिद्रयमिदं तदाह।
अशून्यता-ज्ञानमिहात्मशक्तेः सुखाय तस्मात् सुखमर्थसत्ता" ।।२६।।

शक्ति नाम है-बल का। यह शक्ति मूल-तूल भेदेन दो प्रकार की है-जिसका कि स्वरूप तीसरे सूत्र में बतला दिया गया है। जो मूलशक्ति है-वह बलशब्द से व्यवहृत होती है। जो तूला शक्ति है-वह 'क्रिया' शब्द से व्यवहृत होती है। शक्ति दोनों का सामान्य नाम है। ये सम्मुच्छित शक्तियाँ (क्रियाएँ) ही 'सत्ता' नाम धारण करती हैं। क्रियासंघात का नाम ही सत्ता है। अनन्त क्रियाएँ जब इकट्ठी हो जाती हैं-अनन्तशक्तियाँ जब संकलित हो जाती हैं-तो उन संकलितशक्तियों का नाम सत्ता पड़ जाता है। शक्ति और सत्ता में यही फ़र्क है। उद्बुद्ध क्रिया का नाम शक्ति है, उन्मुग्ध क्रिया का नाम सत्ता है। प्रत्येक क्रिया शक्ति है, क्रियासमष्टि सत्ता है। जिसे हम पदार्थ-पदार्थ कहते हैं-वह पदार्थ क्रियासमष्टि ही है एवं क्रियासमष्टि का नाम ही 'सत्ता' है। यह सत्ता ज्ञायमाना ही सुख के लिए कारण बनती है। जानी हुई अर्थसत्ता सुख का कारण बनती है। चूंकि ज्ञायमाना सत्ता सुख का कारण बनती है, अतएव सत्ता, चेतना, आनन्द-ये तीन ही आत्मा का स्वरूप हैं। आत्मा सच्चिदानन्द-

१ जैसा कि लोक में भी प्रसिद्ध है-'सेरों खून बढ गया'।

स्वरूप है। ज्ञायमाना-सत्ता आनन्द देने वाली है, अतएव हम कहते हैं कि सत्ता, चेतना (ज्ञान), आनन्द –ये तीन ही आत्मा का स्वरूप हैं। यह जगत् भी इन तीन ही भावों में परिणत हो रहा है। ज्ञायमाना-सत्ता-आनन्द देती है–इसमें ज्ञान ज्ञान है, सत्ता सत्ता है, आनन्द आनन्द है एवं जो है–वही जानी जाती है–वह उपलब्ध होता है। उसी से चूंकि आनन्द आता है, अतएव वही आनन्दस्वरूप है। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है–इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि इन तीनों से आत्मा की स्थिति रहती है–ये तीन जब तक आत्मा में आते रहते हैं, तब तक आत्मा की स्थिति रहती है। आनन्द से ही आत्मा की स्थिति है। जिस समय आनन्द की मात्रा एकान्ततः उच्छिन्न हो जाती है, उस समय आत्मा इस शरीर को छोड़ देता है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

"आनन्दाद्धय्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति–इति"।[1]

आनन्द आता है–ज्ञायमाना अर्थसत्ता से। आनन्द, सत्ता, ज्ञान–तीनों एक चीज हैं। ये ही आत्मस्थिति में कारण हैं, अतएव हम आत्मा को 'सच्चिदानन्द'-स्वरूप कहने के लिए तय्यार हैं एवं जगत् में भी सिवाय अस्ति, भाति, रस के अलावा और कुछ नहीं है। आत्मवत् जगत् भी सच्चिदानन्द ही है। तात्पर्य्य यही है कि समुच्चित शक्तियाँ ही 'सत्ता' कहलाती हैं एवं ज्ञायमाना सत्ता ही आनन्द का कारण है। ज्ञायमाना यह सत्ता ही पूर्वोक्त सत्ता, ज्ञान, आनन्द–तीनों पदार्थ हैं–**(त एव)**। ये ही आत्मसत्ता के–आत्मस्वरूप के संरक्षक हैं, अतएव आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है–यह मानना पड़ता है। चूंकि अस्ति-भाति-रस के अलावा जगत् में भी अन्य चौथी चीज के दर्शन नहीं होते, अतएव आत्मवत् जगत्–प्रपञ्च को भी हम **सच्चिदानन्दवत्**–ही कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"समुच्चिताः शक्तय एव सत्ता सा ज्ञायमाना हि सुखाय यस्मात्।
त एव तस्मात् त्रय एष आत्मा जगच्च तस्मात् त्रयमेतदस्ति" ॥३०॥

'आभु' और 'अभ्व'–ये दो तत्त्व बतलाए हैं। इन दोनों में जो आभु है–वह ब्रह्म कहलाता है, 'अभ्व' कर्म्म कहलाता है। पदार्थ दो हैं–परन्तु सत्ता एक है, अतएव 'अद्वैतवाद' में धक्का नहीं लगता। वह आभुब्रह्म ही–सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीन भावों में परिणत होता है। यह रस सर्वथा व्यापक है। परन्तु मायादिबलों के कारण यही रस–यही आभुब्रह्म 'सृष्ट, प्रविष्ट एवं प्रविविक्त' भेदेन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। जो आभु घट-पटादिस्वरूपों में परिणत हो गया है–वह सृष्टब्रह्म कहलाता है। यही विश्व कहलाता है एवं जो आभु अपने एक अंश से सृष्ट बना उसमें घुस गया है–वही प्रविष्टब्रह्म कहलाता है–इसी को आत्मा कहते हैं। सृष्ट शरीर है–प्रविष्ट आत्मा है एवं जो विश्वातीत है–वही प्रविविक्त ब्रह्म है। यही प्रविविक्तब्रह्म **अखण्डात्मा** कहलाता है। **न करोति न लिप्यते**[2]**–तिष्ठ-**

---

१ तैत्ति० उप० ३।६।   २ गीता १३।३१।

प्रपि न तिष्ठति-न वर्धते कर्म्मणा नो कनीयान्[१]-**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि**[२]-जिसके लिए यह कहा जाता है-वही अखण्डात्मा है। **यतो वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह**[३]-यही अखण्डात्मा है। चूंकि अखण्डात्मा विश्वातीत है-वाङ्मनसागोचर है, अतएव शास्त्रानधिकृत है-अनुपास्य है।

"अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः" ॥[४]

-यह उसी अखण्डात्मा के लिए कहा गया है। उपास्य प्रविष्टब्रह्म है-जिसे कि हमने आत्मा कहा है। **पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः**[५]-यह उसी प्रविष्टब्रह्म को लक्ष्य में रखकर कहा गया है।

यह प्रविष्ट (ब्रह्म) 'समष्टि-व्यष्टि' भेदेन दो प्रकार का है। समष्टि को 'ईश्वर' कहते हैं, व्यष्टि को 'जीव' कहते हैं। यह जीवात्मा जो कि परिच्छिन्न है, उसी के लिए घटना-बढना मरना-जीना, इच्छा करना-सुखी होना-यह कहा जाता है। वास्तव में यह जीवात्मा ऐसा ही है। आत्मा तो अजर है-अमर है-उससे दुःख का क्या सम्बन्ध ?-शङ्कराचार्य्य का यह सारा प्रपञ्च 'प्रविविक्तब्रह्म' से-अखण्डात्मा से ताल्लुक रखता है-न कि जीवात्मा से।

बतलाना हमें यही है कि यह सृष्टब्रह्म उसी आत्मा से पैदा हुआ है। उसने अपने अंश से उसे पैदा किया है एवं पैदाकर वह स्वयं उसका संचालन करने के लिए अन्तःप्रविष्ट हो गया है। **बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः**[६]-**प्रजापतिश्चरति गर्भे**[७]-**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**[८]-इत्यादि वाक्य इसी भाव का प्रतिपादन करते हैं।

यह प्रविष्टब्रह्म चूंकि सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतएव इससे उत्पन्न होने वाला सृष्टब्रह्म अर्थात् जगत् भी अवश्य ही सच्चिदानन्दवत् है। फ़र्क इतना ही है कि आत्मा सत्ताचेतनाआनन्दस्वरूप है जबकि विश्व सत्, चित्, आनन्दवत् है। सत्ता से विश्व सत् है अर्थात् अस्तिस्वरूप है। विश्व नहीं है-यह बात नहीं है-अवश्य ही विश्व है एवं चेतना से चित् है। विश्व का ज्ञान होता है, अतएव चित् कहलाता है एवं आनन्द से आनन्दवत् है-इसीलिए तो विश्व के पदार्थों से आनन्द आया करता है। आनन्द-सत्ता-चेतनास्वरूप आत्मा विश्व में रहता है, अतएव विश्व तद्वान् है-सत्तावान् है-चेतनावान् हैं-आनन्दवान् है। मन, प्राण, वाक् का नाम ही सत्ता है। वाक् का नाम-अन्न है, इसीलिए वह आत्मा

१ बृहदा० उप० ४।४।२३। २ गीता २।२३।
३ तैत्ति० उप० २।४। ४ महिम्नस्तोत्र-२।
५ महिम्नस्तोत्र-२। ६ ऋग्वेद मं० ८।१०१।१४।
७ यजुर्वेद ३१।१६। ८ तैत्ति० उप० २।६।

अर्थात् अव्ययपुरुष 'आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् (अन्न) स्वरूप' कहलाता है ' आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-अन्न कहो–अथवा सच्चिदानन्द कहो–एक ही बात है। यह पञ्चकल आत्मा उस विश्व में रहता है। उस विश्व में चूँकि ये पाँच रहते हैं, अतएव यह विश्व भी पञ्चकोशमय कहलाता है–वे ही कोष अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोष कहलाते हैं। अन्नमयादि में मयट्-प्रत्यय विकारार्थ में समझना चाहिए न कि प्राचुर्य्य अर्थ में–**आनन्दमयोऽभ्यासात्**[1]–भगवान् बादरायण के इस सूत्र में मयट् को विकारार्थक ही समझना चाहिए।

कहने का मतलब यही है कि आत्मा से उत्पन्न पञ्चकोषमय इस विश्व में आनन्दादिपञ्चस्वरूप-युक्त यह आत्मा क्रमशः–इन पाँचों कोशों में बैठ जाता है। आत्मा भी सच्चिदानन्दस्वरूप है–विश्व भी सच्चिदानन्दमय है। ऐसी हालत में विश्व और आत्मा का पृथक्त्व हम समझें कैसे?–यह एक प्रश्न बाकी रह जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में हमें यही कहना है कि परमार्थदृष्टि से यदि देखा जाए तो आत्मा और विश्व–ये दो वस्तु हैं ही नहीं। वहाँ तो–**ब्रह्मैवेदं सर्वं**[2]–**नेह नानास्ति किञ्चन**[3]–यही सिद्धान्त है। परन्तु व्यवहारमार्ग में यदि इन दोनों की भिन्नता देखना चाहो तो उसका स्वरूप बतला देते हैं—

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय–सारा विश्व इन तीन भागों में विभक्त है। जो ज्ञेय है–उसे ही सत्ता किंवा जगत् कहते हैं–ज्ञान 'ज्ञाता और ज्ञेय' को मिलाने वाला सूत्र है। ज्ञाता 'अहं' पदार्थ है। ज्ञाता-ज्ञान, ज्ञेय जब इन तीनों की कड़ी मिल जाती है, तब–**घटमहं जानामि**–यह प्रत्यय होता है, अन्तः-करणावच्छिन्नचैतन्य (ज्ञाता), अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्नचैतन्य (ज्ञान) एवं विषयावच्छिन्नचैतन्य (ज्ञेय)-इन तीनों का जब समन्वय हो जाता है, तब **घटमहं जानामि**–यह प्रत्यय होता है। इस प्रत्यय में यदि सर्वसाधारण से पूछा जाए कि बतलाइए–ज्ञान अहं से (ज्ञानकुल से) पृथक् है या एक? वह कहेगा–एक कैसे है–जी? अलग है। मेरा ज्ञान है–न कि मैं ही ज्ञान हूँ। यदि मैं ही ज्ञान होता तो एवं मेरे से ज्ञान अलग न होता तो–मुझे ज्ञान नहीं है, मैं नहीं जानता तो मुझे ज्ञान नहीं है–मैं नहीं जानता–यह भेद-व्यवहार क्योंकर होता है? परन्तु भेदव्यवहार होता है, अतएव मैं ज्ञान को अपने से भिन्न पदार्थ समझता हूँ। मैं अलग हूँ–ज्ञान अलग है। मेरा ज्ञान है–न कि मैं ही ज्ञान हूँ। यदि मैं ही ज्ञान होता तो–मुझे ज्ञान हो गया–यह शब्द कभी मुँह से न बुलता। एवमेव ज्ञेय अर्थात् घट-पटादि जगत् के पदार्थ भी ज्ञान से पृथक् वस्तु हैं। यदि ज्ञान और ज्ञेय अर्थात् घड़ा ओर ज्ञान एक ही वस्तु होती तो घड़ा लाओ के एवज 'ज्ञान लाओ'–'ज्ञान को इधर उठा लाओ'–यह व्यवहार होने लगता। अपि च–'हम घड़े को जानते हैं'–इससे भी सिद्ध हो जाता है कि घड़ा ज्ञान से पृथक् वस्तु है। फलानी वस्तु का हमें ज्ञान हो गया–तो वस्तु का ज्ञान हो गया–न कि वस्तु ज्ञानस्वरूप है। घट का ज्ञान होता है–घट ज्ञान नहीं है। ज्ञान से सत्ता पृथक् है। ज्ञान ज्ञानकुल से अर्थात् ज्ञाता से पृथक् है एवं ज्ञाता और ज्ञान–इन दोनों से सत्ता (घट-पटादि ज्ञेय पदार्थ) भिन्न हैं। इस प्रकार तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं।

---

१ ब्रह्मसूत्र १।१।१२। २ नृसिंहोत्तर उप० ७।

३ कठोप० २।४।११।

बस, जब तक मनुष्य इस पृथक्त्व के दर्शन कर रहा है–समझलो वह जगत् के दर्शन कर रहा है। ज्ञान-सत्ता-ज्ञाता परस्पर अलग हैं–जब तक यह भान होता रहता है–समझलो वही जगत् का साक्षात् दर्शन है। परन्तु इतना हम अवश्य कह देते हैं कि जगत्स्वरूप में–व्यवहारकोटि में ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय का पृथक्त्व अवश्य ही प्रतीत होता है, परन्तु भिन्नता प्रतीत होने पर भी–हैं तीनों अन्योन्याविनाभूत। जगत्स्वरूपप्रतिपादक भिन्न प्रतीत होने वाले–'ज्ञान-ज्ञाता' को भी आप पृथक् हर्गिज नहीं कर सकते। कहना यही है कि पृथक्त्व जगत् का स्वरूप है एवं जहाँ जिस स्थान पर जाके सत्ता और चेतना अर्थात्-अस्ति और ज्ञान एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं–आनन्द में अपीत हो जाते हैं–वही आत्मा है। तीनों का चैतन्य मिलकर एकस्वरूप धारण करता हुआ–जिस बिन्दु पर जाके बैठ जाता है, उसी का नाम आत्मा है। वहाँ भेद नहीं रहता। प्रत्यय में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का भेद नहीं किया जा सकता। भेदप्रतीति जगत् का स्वरूप है, एकत्व आत्मा का स्वरूप है। यही आत्मा और जगत् में फर्क है।

तात्पर्य्य यही है कि ज्ञान, ज्ञानकुल से पृथक् है। इन दोनों से सत्ता पृथक् है। जब तक मनुष्य इस प्रकार के पृथक्त्व को देखता है–बस, तब तक जगत् समझना चाहिए। अर्थात्-पृथक्त्व ही जगत् का स्वरूप है। परन्तु जहाँ पर सत्चित् का एकत्व हो जाता है–सत्चित् आनन्द में अपीत हो जाता है–वही आत्मा है। वहाँ भेदभाव नहीं रहता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"ज्ञानं पृथग् ज्ञानकुलात् तयोर्वा सत्ता पृथक् पश्यति यावदित्थम्।
तावज्जगत् यत्र तु सच्चितोः स्यादेकत्वमानन्दगतं स आत्मा" ॥३१॥

सत्ता, चेतना, आनन्द–ये तीनों जहाँ पर आकर अपने भेद को दूर कर देते हैं–ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय–तीनों का भेदभाव जहाँ टूट जाता है–बस, उसे ही हम जगत् का आत्मा कहने के लिए तय्यार हैं। कैसे तीनों एक हो जाते हैं-तीनों एक ही हैं-यह हम कैसे समझें ?–यही बतलाया जाता है—

हमारी इच्छा होती है कि नाटक देखें। बस, इच्छा के होते ही नाटक देखने के लिए उद्योग करने लगते हैं। टिकट खरीदते हैं-सीट रिजर्व करवाते हैं एवं रात के ठीक स्टेण्डर्ड टाईम ९½ पर सीटपर जा बैठते हैं। उधर से तीसरी घण्टी होती है-साथही है-ड्राप-पर्दा उठता है। बस, यहीं से नाटक के अस्तित्व का प्रारम्भ होता है। बस, ज्यों-ज्यों उस अस्तित्व को हम देखते हैं–ज्यों-ज्यों नाटक की अर्थसत्ता का ज्ञान होता जाता है–अर्थात् ज्यों-ज्यों नाटक देखते जाते हैं–त्यों-त्यों आनन्द आता जाता है। मारे आनन्द के तबियत फड़कती रहती है–मारे आनन्द के तालियों पर तालिएँ–बजती रहती हैं। इससे कहना हमें यही है कि प्रत्येक मनुष्य अर्थसत्ता को जानता हुआ–आत्मा में हर्ष को प्राप्त होता है। सत्ता के ज्ञान से उस ज्ञाता को आनन्द आता है–हर्ष होता है–आह्लाद होता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि हमारे ज्ञान में 'अस्ति' बैठा हुआ है। ज्ञान से आनन्द आता है, परन्तु किस के ज्ञान से ? अस्ति के ज्ञान से–अर्थसत्ता के ज्ञान से। यदि ज्ञान में अर्थसत्ता न होती तो कभी आनन्द न आता। सत्ता के ज्ञान से आनन्द आता है। यहाँ ज्ञान में अस्तिता बैठी हुई है–**'तस्त्रास्तिता संविदि' (ज्ञाने-इति भावः)** एवं वह अस्तिता भी उस आनन्द में बैठी हुई है।

ज्ञान में सत्ता बैठी हुई है एवं सत्ता आनन्द में बैठी हुई है। उसी से तो आनन्द आ रहा है। आनन्द ही तो सत्ता का आधार है। सत्ता क्रियासमष्टि का नाम है। क्रिया का आलम्बन जब तक कोई निष्क्रियतत्त्व न मान लिया जाए, तब तक क्रिया की उपपत्ति ही नहीं हो सकती। बस, जो इस सत्ता का आलम्बन है–वही आनन्द है। उसे ही हर्ष नाम से पुकारते हैं।

कहना हमें यही है कि एकत्व को प्राप्त होकर ये तीनों एकत्र अपीत हो जाते हैं। बस, एकत्रापीता जो रूपत्रयी है–वही इस जगत् की आत्मा है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय–इनके पृथक्त्व की जहाँ प्रतीति होती है–वही विश्व है एवं जहाँ तीनों का त्रित्व हट जाता है–तीनों मिलकर एक चीज हो जाती हैं–वही आत्मा है। तात्पर्य्य यही है कि सत्ता को जानता हुआ मनुष्य आत्मा में हर्ष को प्राप्त हो जाता है। पदार्थज्ञान से उसे आनन्द आया करता है। ऐसे स्थल में–ज्ञान में वह सत्ता बैठी रहती है एवं सत्ता आनन्द में बैठी रहती है। इस प्रकार एकत्व को प्राप्त होकर वह एकत्र अपीता जो रूपत्रयी है–वही इस महाविश्व की आत्मा है। जैसाकि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सत्तां विदन्नात्मनि याति हर्षं तत्रास्तिता संविदि सोऽपि[1] हर्षे।
एकत्वमागत्य भवत्यपीता रूपत्रयी सा जगतोऽयमात्मा" ॥३२॥

हम जिसे अब तक आनन्द-आनन्द नाम से पुकारते चले आ रहे हैं–वह आनन्द शान्त और समृद्ध भेदेन दो प्रकार है। विषय के संसर्ग से जो क्षणिक आनन्द होता है–वह समृद्धानन्द कहलाता है–यह अवरकोटि का आनन्द है। एवं विषयों के जिन्हें कि पाप्मा भी कहते हैं–अप्रसङ्ग से जो आनन्द आता है–वही 'परमशान्ति' कहलाती है–इसे ही शान्तानन्द कहते हैं। वस्तुतः यही आनन्द मुख्य है एवं रस के प्रवेश से मृत्यु में उदित होने वाला जो आनन्द है–वह क्षणिक आनन्द है।

आभु और अभ्व–हमने ये दो ही तत्त्व बतलाए थे। इन दोनों ही को रस और बल शब्द से व्यवहृत किया जाता है। रस सर्वथा शान्त है–दिग्देशकाल से अनन्त है–अर्थात् व्यापक है एवं निष्क्रिय है। बल ठीक रस के विपरीत अशान्त है–दिग्देशकालावच्छिन्न है–अर्थात् व्याप्य है–संख्यात अनन्त है–सक्रिय है। रस-अमर धर्म्मा है, अतएव उसे अमृत कहा जाता है एवं बल मरण-धर्म्मा है, अतएव उसे मृत्यु कहा जाता है। ये रसबल सदा अन्योन्याविनाभूत रहते हैं। बल विना रस के नहीं रह सकता एवं रस विना बल के नहीं रह सकता। रस ही का नाम आनन्द है, बल ही का नाम दुःख है। **आनन्दः-आनन्दः-शाश्वतिकः-शाश्वतिकः**–रस का यही लक्षण है एवं–**क्षणिकं क्षणिकं-दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणम्**–यही बल का लक्षण है। बल ही को कर्म्म कहते हैं–रस ही को ब्रह्म कहते हैं। सारा प्रपञ्च ब्रह्मकर्म्ममय ही समझना चाहिए। कहना हमें यहाँ यही है कि आत्मा रस-स्वरूप है। घटपटादि पदार्थयुक्त विश्व बलस्वरूप है। आत्मा रसस्वरूप है–इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा में बल है ही नहीं। नहीं-नहीं बल तो रस से अलग कभी किसी हालत में हो ही नहीं सकता

१ स्व० शास्त्री जी ने 'सोऽपि' की जगह 'सापि' पाठ किया है।

है । ऐसी हालत में 'आत्मा रसस्वरूप ही है'-इसका तात्पर्य्य केवल इतना ही है कि आत्मा में रसभाग उल्बण है-बलभाग अनुल्बण है । बल पर जब रस सवार रहता है तो ऐसी रसबलसमष्टि का नाम आत्मा पड़ता है एवं जब बल उल्बण एवं रस अनुल्बण रहता है-रस बलग्रन्थि में गुँथ जाता है तो इस रसबलसमष्टि को 'विश्व' कहते हैं । जो आत्मानन्द है अर्थात् शुद्ध रसस्वरूप निर्विषयक आनन्द है-वह 'शान्तानन्द' कहलाता है । क्षोभ करना-अशान्ति करना-उछाल पैदा करना-यह बल का काम है । बल ही उछाल पैदा करता है । रस तो बिल्कुल शान्त है । उसमें उछाल का क्या काम ? सुषुप्ति अवस्था का जो अननुभवात्मक आनन्द है-उसे हम शान्तानन्द कह सकते हैं । वह आनन्द अनिर्वचनीय है। उस समय (सुषुप्ति में) चूँकि सारे विषय हट जाते हैं-उस समय शुद्ध आत्मा ही आत्मा अपने आनन्द में अपीत रहता है-अपने आप में ही डूबा रहता है-उस समय कुछ भी अनुभव नहीं होता, अतएव हम इस सुषुप्ति के आनन्द को शान्तानन्द' कह सकते हैं । 'जिसका अनुभव न हो'-'आनन्द आता है जिसमें यह शब्द लागू न हो-वही 'शान्तानन्द' कहलाता है । यही परमशान्ति कहलाती है-यही वास्तविक आनन्द है ।

दूसरा आनन्द है-समृद्धानन्द । विषयसम्बन्धेन जो आनन्द आता है वह समृद्धानन्द कहलाता है । घट एक विषय है-बल है । इसी बल को हम मृत्यु कहते हैं । 'बल विना रस के रहता नहीं'-यह हम पूर्व में बतला चुके हैं । इस प्रकार जब घटसत्ता का हमारे ज्ञान में प्रवेश होता है तो घट के साथ रहने वाले रस का भी प्रवेश ज्ञान में होता है । बस, हमारे रसबलविशिष्ट आत्मा के बलभाग में मृत्युभाग में-घटपटादिबल के साथ आने वाले रस से जो एक उछाल पैदा होती है-उसी का नाम 'समृद्धानन्द है । पानी भरा हुआ है, उसमें पत्थर डालिए । पत्थर के पड़ते ही जरा देर के लिए लहर पैदा होती है एवं पानी उछलेगा, क्षण भर में शान्त हो जाएगा, बस इसी का नाम समृद्धानन्द है । हमें कोई यदि २०० रुपये दे देता है तो उसी समय चित्त में एक उछाल होती है-आनन्द का अनुभव होता है-बस, यह उछाल थोड़ी देर तक रहती है, फिर गायब-इसी का नाम समृद्धानन्द है । नीचे के ओहदे से मनुष्य जब कौंसिल के पद पर जाता है तो उस क्षणमात्र उसे एक प्रकार का आनन्द आता है । फिर वही हालत । चूँकि यह आनन्द क्षणिकानन्द है, अतएव हम इसे अवरकोटि का आनन्द कहने के लिए तय्यार हैं ।

तात्पर्य्य यही है कि आनन्द दो प्रकार का है-पाप्मा (बल) के अप्रसङ्ग से जो शान्ति होती है-वह परमा शान्ति कहलाती है-इसी का नाम शान्तानन्द है-यही मुख्य आनन्द है एवं घटपटादि विषय द्वारा शरीरस्थ मृत्यु में रस के प्रवेश से जो उछाल पैदा होता है-वही क्षणिक प्रसाद अर्थात् समृद्धानन्द कहलाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"द्विधाऽयमानन्द इहास्ति पाप्माऽप्रसङ्गतो या परमास्ति शान्तिः ।
स एव मुख्योऽथ रसप्रवेशान्मृत्यावुदेति, क्षणिकः प्रसादः" ।।३३।।

इसी पूर्वोक्त आनन्द को-'अमृत' नाम से व्यवहृत किया जाता है । आनन्द ही को अमृत कहते हैं । आत्मा रसस्वरूप है-इसका अर्थ यही है कि आत्मा आनन्दस्वरूप है । चूँकि यह अमृत-

स्वरूप-रसस्वरूप आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतएव यह मृत्यु अर्थात् बल रस को मिला करके अर्थात् रस को अपने साथ करके-उस आनन्दघन आत्मा में जितनी मात्रा से प्रविष्ट होता है-वह आनन्द-स्वरूप आत्मा उन-उन पदार्थों में उतना ही विभव को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् आत्मा आनन्दस्वरूप है । आनन्द ही आत्मा का असली स्वरूप है एवं घट-पट-स्त्री पुत्र इत्यादि जितने भी पदार्थ हैं-वे सब रसबल स्वरूप हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आनन्द एवामृतमस्ति यस्मात् संसृज्य तस्माद् रसमेष मृत्युः ।
यावन्तमात्मानमुपैति तावानानन्द आत्मा विभवेषु तेषु" ।।३४।।

हमने बतलाया है कि यह आत्मा अर्थसत्ता से उत्तरोत्तर बढता जाता है, ज्यों ज्यों इसमें अर्थ-सत्ता का प्रवेश होता जाता है त्यों त्यों यह उत्तरोत्तर बढता जाता है । कारण इसका यही है कि अर्थ-सत्ता के साथ आने वाला जो रस है-वह इस रसरूप आत्मा में आकर इसका आयतन बढा देता है । इस बढी हुई अर्थसत्ता को आत्मा की 'महिमा' कहा जाता है । जिसके पास जितनी अधिक अर्थसत्ता होती है-वह उतना ही अधिक महामहिमाशाली कहलाता है । आत्मा की महिमा कौन-कौनसी हैं-यह हम क्रमशः बतलाते हैं—

सबसे नजदीक की महिमा शरीर है । औरों की अपेक्षा शरीर आत्मा के बिल्कुल अन्तरङ्ग है । तदन्तर स्त्री है, तदनन्तर पुत्र है । बाद में जमीन है-सोना है-पशु है-घर है-अन्न है-दास हैं । इस प्रकार से यह जो इस आत्मा का परिकर है वह इसकी महिमा कहलाती है । परन्तु इतना हम फिर कह देते हैं कि आत्मा इन पर तभी व्याप्त होता है जबकि इनकी अर्थसत्ता का इसे ज्ञान हो जाता है । इन्हें अपना तभी समझता है जबकि इन्हें जान लेता है । पशु खूब हैं परन्तु यदि जानता नहीं तो आत्मा भी उन पर व्याप्त नहीं । इसीलिए तो हनुमान जी ने अपने पुत्र तक को नहीं पहचाना था । विवाहिता दमयन्ती को राजा नल ने भरी सभा में तिरस्कृत कर दिया एवं साफ शब्दों में कह दिया कि यह मेरी स्त्री नहीं है इसका भी तो यही कारण था । विजानन् आत्मा अपनी महिमा पर व्याप्त होता है । घर में धन गडा हुआ है—यदि मालूम नहीं तो कुछ नहीं । अर्थसत्ता के ज्ञान में विभव होता है—न कि अज्ञान में । तात्पर्य्य यही है कि शरीर-स्त्री-पुत्र-धन-धान्य-दास-दासी इत्यादि सारा प्रपञ्च इस आत्मा की महिमा है । **ममेदं**-यह जानता हुआ आत्मा जहाँ तक महिमा रहती है-वहाँ तक व्याप्त रहता है । 'यावद्वित्तं तावदात्मा' यही हमारे विज्ञान का सिद्धान्त है ।

"शरीरमादौ वनिता तनूजः क्षेत्रं हिरण्यं पशवो गृहाणि ।
अन्नानि दासा महिमात्मनोऽयं यत्रैष आत्मा विभवेद् विजानन्" ।।३५।।

यह आत्मा जहाँ तक **'ममेदम्'**-अर्थात् यह वित्त मेरा है, यहाँ तक को वस्तुएँ मेरी अपनी चीज हैं यह समझता है, वहाँ तक वह **"अहमस्मि"** ही समझने लगाता है । अर्थात् जहाँ तक वित्त रहता है वहाँ तक वह अपने आपको समझता है । वित्त की सत्तापर्य्यन्त अपनी सत्ता समझता

है। इसीलिए यदि किसी राज के चोबदार की उदूलहुक्मी कर दी जाती है तो इसमें चोबदार की इज्जतहतक नहीं होती अपि तु राजा की इज्जतहतक होती है। उस पर फौरन उदूलहुक्मी का मुकदमा चलाया जाता है। एक राज्य में सैंकड़ों महकमे हैं। उनमें से किसी का भी हुक्म न मानना राजा का हुक्म न मानना है। वहाँ तक राजा का आत्मा अभिव्याप्त रहता है। इस आत्मा की उतनी तृप्ति रहती है–जहाँ तक महिमा होती है अर्थात् वहाँ तक इसकी व्याप्ति रहती है एवं उस अपनी महिमा को जानकर उसमें विचरता रहता है यही उसकी तृप्ति है। अर्थसत्ता का ज्ञान ही उस आत्मा के आनन्द का कारण है अतएव 'ज्ञान ही आनन्द है' यह कहा जाता है। ज्ञायमानसत्ता किंवा सत्तायुक्त ज्ञान ही इस आत्मा के आनन्द का जनक है, अतएव "विज्ञान ही आनन्द है" यह प्रसिद्धि हो रही है–विज्ञ लोग ऐसा कहा करते हैं। जैसा कि ओझा जी ने कहा है—

"यावद् विजानाति ममेदमेवं वित्तं स तावानहमस्मि चेति।
सा तावती तृप्तिरमुष्य तस्माद् विज्ञानमानन्द इति प्रसिद्धिः" ॥३६॥

प्रविष्टब्रह्म विज्ञान–आनन्द स्वरूप है एवं सृष्टब्रह्म विज्ञानानन्दम् है। प्रविष्ट सत्ता-चेतना-आनन्दस्वरूप है, सृष्ट सत्–चित्–आनन्दवत् है। यह बात हम पूर्व प्रकरण में बतला आये हैं। क्षर जगत् है वह विज्ञानानन्दम् है, अक्षर प्रविष्टब्रह्म है वह विज्ञानानन्दः है। उभयथा भी सारा प्रपञ्च है सच्चिदानन्द स्वरूप ही। सच्चिदानन्द के अलावा चौथा पदार्थ हर्गिज हर्गिज नहीं बतलाया जा सकता। एक जगह सच्चिदानन्दम् कह दिया एवं एक जगह सच्चिदानन्दः कह दिया इससे संशय में नहीं पड़ना चाहिए। **विज्ञानमानन्दम्** भी कह सकते हैं **विज्ञानमानन्दः** भी कह सकते हैं। इसमें संशय करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि क्षर-अक्षर में ये दोनों भाव निगूढ हो रहे हैं। दोनों भाव क्षर-अक्षर-धिया अथवा आत्मविश्वधिया निःसन्दिग्ध हैं—

"विज्ञानमानन्दमितीष्यते वा विज्ञानमानन्द इतीष्यते वा।
न संशयोऽत्र क्रियतामयं यत् क्षरेऽक्षरे चापि परं निगूढम्" ॥३७॥

जो अवरब्रह्म है–क्षरब्रह्म है अर्थात् सृष्टब्रह्म है,उसकी अपेक्षा से तो '**विज्ञानमानन्दम्**" यह अभीप्सित है। अर्थात् सृष्टब्रह्म की अपेक्षा से तो "**विज्ञानमानन्दम्**" कहा जाता है एवं परब्रह्म (अक्षरब्रह्म) की अपेक्षा से जिसे कि प्रविष्टब्रह्म नाम से व्यवहृत किया है "**विज्ञानमानन्दः**" यह कहा गया है। ज्योति ही को विज्ञान कहते हैं। यह विज्ञान उस रस से जो कि भूमास्वरूप है अर्थात् व्यापक है कभी अलग नहीं होता है। तीनों सदा साथ रहते हैं। साथ क्या रहते हैं तीनों का ऐकात्म्य है। तात्पर्य्य यही है कि चाहे कुछ कहो सच्चिदानन्द के अलावा और कोई चौथी वस्तु है ही नहीं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विज्ञानमानन्दमितीष्यतेऽवरं विज्ञानमानन्द इतीष्यते परम्।
ज्योतिस्तु विज्ञानमिदं परं ध्रुवं रसेन भूम्ना न विभिद्यते क्वचित्" ॥३८॥

——❀——

६–दुःखानुभव-हेतुः।
दुःखानुभव में कारण—

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है एवं शरीर सच्चिदानन्दवत् है–यही पूर्वप्रकरण का विषय था। इसमें एक बडा भारी प्रश्न उठता है जब कि आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है तो फिर उसे दुःख क्यों होता है? सच्चिदानन्दस्वरूप-आत्मा और उसको दुःख-यह तो वदतोव्याघात है। हम रात-दिन मनुष्यों को दुःखी ही देखते हैं–जब देखते हैं–बडे से बडे धनिक को और गरीब से गरीब को चिन्ता में पड़े हुए ही देखते हैं। जो सम्राट् है–उसका भी तो दुःख से छुटकारा नहीं है। 'दुःखम्–दुःखम्'–यही भाव सर्वत्र फैल रहा है। ऐसी हालत में आत्मा को आनन्दस्वरूप बतलाना एकान्ततः अशुद्ध है। अशुद्ध ही नहीं–अशुद्धतर–अशुद्धतम है।

वादी के (बौद्धों के) इस प्रश्न को धन्यवादपूर्वक अङ्गीकार करते हुए उनकी वस्तु उन्हें ही लौटाते हैं। संसार के ऊपरी भावों को देखने वाला एवं उन्हीं के आधार पर निर्णय करने वाला जन-समुदाय यदि आत्मा के सच्चिदानन्दत्व पर आक्षेप करे तो इसमें आश्चर्य्य नहीं। सच्चिदानन्द के स्वरूप को पहचानना जरा कठिन है। कठिन कुछ नहीं हैं–अत्यन्त सरल है–प्रत्यक्ष दृष्ट है। यदि आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप न हो तो फिर 'आनन्द आता है'–यह व्यवहार ही जगत् से उठ जाए। सारे तत्त्व आवालवृद्ध के प्रत्यक्ष अनुभूत हैं। आवश्यकता है केवल 'प्रतिनिवेश' छोडने की–दुराग्रह परित्याग करने की–हठवाद को छोडने की। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप कैसे है? इसका उत्तर बहुत अंशों में हम दे चुके और आगे का सारा 'सच्चिदानन्द खण्ड'–आत्मा के सच्चिदानन्दत्व का ही प्रतिपादन करेगा। आत्मा अवश्य ही सच्चिदानन्द है–यह आपको अवश्य ही मान लेना चाहिए। प्रश्न मात्र रह जाता है–कि आपको 'दुःख क्यों होता है'? यदि आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है तो फिर दुःख का अनुभव क्यों होता है? दुःखानुभव का कारण क्या है? बस आपके इस सन्देह को मिटाने के लिए ही निम्नलिखित प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

हमने बतलाया है कि जिस आत्मा का हम विवेचन कर रहे हैं–वह अखण्ड आत्मा से पृथक् है–बलबद्ध है–शरीरपरिच्छिन्न है। चूंकि यह प्रविष्टब्रह्म परिच्छिन्न है–अतएव तो इसकी गति नरकस्वर्गादिभोग होते हैं। इसी के लिए—

"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"।[1]

—यह कहा जाता है। यह आत्मा–अर्थसत्ता बाहुल्यात् बढता है एवं अर्थनाशात् संकुचित होता है। 'उसका दिल छोटा हो गया–इसका दिल तो दरियाव है'–यह लोकव्यवहार ही आत्मा के घटने बढने में ज्वलन्त प्रमाण है। अस्तु–कहना हमें यही है कि यह आत्मा शरीर, स्त्री, प्रजा, पृथिवी इत्यादि पदार्थों से व्याप्त हो जाता है। जहाँ तक स्त्री–प्रजा–पशु–वित्त रहते हैं, उन सब पर यह आत्मा व्याप्त

१ ब्रह्मसूत्र ३।१।१।

हो जाता है । उन सब के साथ आत्मा का बन्धन हो जाता है । आत्मा रश्मिरूप से बाहर चलता है । ज्यों ज्यों अर्थसत्ता बढती जाती है–रश्मिएँ त्यों त्यों आगे बढकर उन प्रवृद्ध अर्थसत्ताओं को अपने पेट में लेती जाती हैं । जहाँ तक अर्थसत्ता रहती है, वहाँ तक आत्मा फैला रहता है–यही तात्पर्य्य है । चूँकि यह आत्मा उन सब पर (स्त्रीपुत्र-वित्तादि पर) व्याप्त रहता है, अतएव यह महान् हो जाता है । स्त्रीपुत्रादि के अभाव में आत्मा जहाँ तक व्याप्त था–अब स्त्रीपुत्रादि के हो जाने से पूर्व की अपेक्षा आगे बढ जाता है । पहले के छोटेपनों को छोडकर अपना आयतन बडा बना लेता है । स्त्री-पुत्र–वित्तादि–यह सारा इस आत्मा का ही तो वैभव है । सारा प्रपञ्च इस आत्मा से ही तो निकला है । यह स्ववैभव है–स्त्रीपुत्रादि आत्मा की अपनी प्रातिस्विक वस्तु हैं । भला फिर क्यों न यह महान् हो ? अपनी चीज ही से तो–महत्ता आती है । बस, यही आत्मा की महिमा है–यही आत्मा की सम्पत् है । इन्हीं के कारण आत्मा क्षुद्राशय को छोडकर महाशय बना हुआ है ।

तात्पर्य्य यही है कि चूँकि आत्मा स्त्रीपुत्रादि द्वारा विभव को प्राप्त होता है अर्थात्–उनके द्वारा अपना आयतन बढाता है, अतएव यह महान् हो जाता है । यह इसका स्ववैभव है, अतएव उससे यह महान् है । इसका जो स्त्रीपुत्रादि स्वरूप वैभव है–वही इसकी महिमा कहलाती है–वही इसकी सम्पत् है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यतः स आत्मा विभवत्यमीभिर्देहप्रजास्त्रीपशुमेदिनीभिः ।
संपद्यते तेन महानयं यत् स्वं वैभवं तन्महिमा च संपत्" ।।३९।।

कर्म्म कई प्रकार के होते हैं उनमें कई कर्म्म तो ऐसे होते हैं–जो बन्धन में डाल देते हैं–कई कर्म्म ऐसे हैं–जो अनवरत करते रहने पर भी बन्धन में नहीं डालते । जो बन्धन में डालने वाले कर्म्म हैं–उनके सहायक आसक्ति और फलकामना ये ही दो प्रधान शस्त्र हैं । **मम-इदं**–इस ममत्व को ही 'आसक्ति' कहते हैं एवं–**एतदर्थमहं करिष्ये**–इसी का नाम फल कामना है । बस, यह दोनों ही बातें बन्धन में डालने वाली होती हैं । कर्म्म करने से एक प्रकार का अनुभवायित संस्कार उत्पन्न होता है । परन्तु यह संस्कार आसक्ति–अनासक्ति भेदेन दो प्रकार का हो जाता है । आसक्ति पूर्वक–**मम इदं**–इस ममत्व पूर्वक किए जाने वाला जो कर्म्म हैं–उससे होने वाला जो अनुभवायित संस्कार है–वह वासनात्मक संस्कार को उत्पन्न करता है । ममत्व–उस कर्म्म को–आत्मा पर उस तरह बसा देता है जैसे कि हाथ का ठप्पा मिट्टी पर बस जाता है । बस, यह वासना ही मनुष्य को बन्धन में डालती है एवं दूसरा कर्म्म है–अबन्धन कर्म्म । उसका नाम है–अनासक्ति कर्म्म । अनासक्ति कर्म्म रात दिन करते चले जाइए–उसकी वासना कभी नहीं होने पावेगी । उदाहरणार्थ–अपने मकान की सीढियों का विचार कीजिए । आप दिन में बीसोंवार अपनी नाळियों में (सीढियों में) चढते उतरे हैं एवं साथ ही में प्रत्येक को ध्यान से देखते भी जाते हैं–अन्यथा तो ठोकर खाकर के गिर जाएँ । परन्तु हम आपसे पूछते हैं–बतलाइए–आप के मकान में कितनी नाळिएँ हैं । आप–'मालूम' नहीं के सिवाय और कुछ नहीं कह सकते । बस, इसी का नाम अनासक्ति है । बस, यह अनासक्तिपूर्वक कृत कर्म्म बन्धन में नहीं डालता ।

कैसे बन्धन में नहीं डालता–आसक्ति क्या चीज है ? इत्यादि बातों का विस्तृत विवेचन 'गीताविज्ञान भाष्य' में देखना चाहिए ।

यहाँ हमें केवल इतना ही बतलाना है–चूँकि–'स्त्रीपुत्रवित्तादि' में **मम इदं**–यह ममत्व आक्रमण करता है । उन सब पर आसक्ति का भूतसवार हो जाता है, इसीलिए इन सारे पदार्थों में आत्मा की–अहंकृति देखी जाती है । यह मेरी स्त्री है–मेरा धन है, मेरी जमीन है–इसमें किसका लेना-देना आता है–इस प्रकार इन पदार्थों में आत्मा का 'अहं' भाव सवार हो जाता है । ऐसी हालत में स्त्री–पुत्र–जमीन–द्रव्य इत्यादि में से यदि एक का भी विनाश हो जाता है–उनमें से यदि एक भी नष्ट हो जाता है–तो यह आत्मा–अल्पवान् हो जाता है । इसका पहले आयतन बडा था–अब छोटा हो गया–बस, यही इस आत्मा का दुःख है । **यदल्पं तद् दुःखम्**–यही तो दुःख का श्रौत लक्षण है । हमारे शरीर पर यदि कोई फुनसी हो जाती है तो उस पर हम बम्बई की कागळी लगा देते हैं । बाद में जब उसे उतारने लगते हैं तो चिपाव के कारण चर्म्म खिचता है–वह बँधी हुई गाँठ खुलती है तो बस उस समय हमें अत्यन्त पीड़ा होती है । बस, यही दुःख का कारण समझना चाहिए । आसक्ति गूँद है–वह उन स्त्रीपुत्रादि के साथ आत्मा को चिपेक देती है । बस, जब स्त्रीपुत्रादि में से किसी एक का भी वियोग होता है तो आत्मा खिचता है । बस हम खिचाव को ही दुःख कहते हैं ।

तात्पर्य्य यही है कि ममत्व इन सब पर सवार हो जाता है । अतएव इन पदार्थों पर आत्मा का **अहंत्व** हो जाता है । बस इनमें से एक के भी नष्ट होने पर आत्मा अल्पवत् हो जाता है । बल के साथ रस (युक्त)[1] हो जाता है–बस, इस आत्मा का यही दुःख है । आसक्ति ही दुःख का बीज है । आसक्ति ही वासना की जननी है । वासना ही बन्धन में डालती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"यतो ममत्वं क्रमते तदेषु तेनात्मनोऽहंकृतिरेषु दृष्टा ।
तेषां तदेकस्य च हानितोऽयमात्माऽल्पवद् भाति तदस्य दुःखम् ।।४०।।

बस, इसी कारण से–एक एक कला के विनाशक्रम से जितना विनाश होता जाता है, उतना ही आत्मा दुःखित होता जाता है । ज्यों ज्यों पुत्रादि का मरण होता जाता है–त्यों त्यों ही–उस ममत्व के कारण आत्मा दुःखी होता जाता है । आत्मा की विभूति की जो स्वमहिमा है–स्त्रीपुत्रादिसमष्टि है–उसके बीच में अन्तर हो जाता है–व्यवधान हो जाता है, इसीलिए तो आत्मा दुःखी होता है । जो आत्मा अपने और स्त्रीपुत्रादि के बीच में और किसी अन्य के व्यवधान न रहने के कारण अत्यन्त प्रसन्न था, वही आज व्यवधान के कारण दुःखी हो जाता है । तात्पर्य्य यही है कि आत्मा का उनसे बन्धन हो जाता है । यदि विनाशक्रम–उस बन्धन के बीच में आ जाता है–तो आत्मा को दुःख होता है । उससे वह बन्धन टूटता है–इसी का तो नाम दुःख है । अपने से विजातीय पदार्थ के आगमन से दुःख

१ भाष्य के मूल पाठ में यहाँ रिक्त स्थान छूट गया है अतः यहाँ 'युक्त' शब्द जोड़ा गया है ।

हुआ करता है। स्त्रीपुत्रादि तो आत्मा की ही विभूति थी। परन्तु जब विजातीय दूसरा विनाशक्रम बीच में घुस पड़ा तो दुःख होना अनिवार्य है।

द्वितीयाद्वै भयं भवति[1]-वेद का यही सिद्धान्त है। एवमेव वेद भगवान् कहते हैं कि दुःख का एकमात्र कारण व्यवधान मात्र है। यदि एक वस्तु में-दूसरे का अन्तराय हो जाता हो तो अवश्य दुःख हो जाता है। आत्मा स्त्रीपुत्रादि पर व्याप्त था-उसके बीच ही में यह विनाश कूद पड़ा अतएव सच्चिदानन्द स्वरूप भी यह आत्मा दुःखी हो जाता है।

"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति"।[2]

यही श्रुति है। दुःख का मूल भय ही है। इससे हम में दुःख होता है-यह कह दिया है। दुःख का मूल भय ही कैसे है?-इसका विस्तृत विवेचन हम आगे करने वाले हैं। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि स्वमहिमा के बीच में विनाश का आक्रमण हो जाता है। इससे आत्मा का बिछोह होता है, बस इसी से यह आत्मा दुःखी रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"तस्मात् तदेकैककलाविनाशक्रमेण यावत् क्रमते विनाशः।
आत्मार्तिमायाति सतान्तरेणोदरे विभूत्याः स्वमहिम्नि तावत् ॥४१॥

कहने का तात्पर्य्य यही है कि ज्यों ज्यों कला का विनाश होता जाता है-त्यों त्यों आत्मा आर्ति को (दुःख को) प्राप्त होता जाता है। कला के विनाश क्रम से-इस दुःख की मात्रा को बढाते चले जाइए। बस, अन्तिम परम-दुःख वही है जो कि-इस प्राणि की मृत्यु कहलाती है। मृत्यु से अधिक दूसरा कोई दुःख नहीं है। दुःख की परम सीमा मृत्यु है-अर्थात् आत्मा का अभाव है। यह तो हुआ विनाश क्रम। अब वृद्धिक्रम की ओर चलिए। यदि कला का विनाश नहीं होता है, अपि तु, उत्तरोत्तर कला बढती ही जाती है-अर्थात्-नाना सम्पत्तियों का अधिकारी यदि यह बनता जाता है-तो उस सत्ता के साथ आने वाले-रस से-इस आत्मा के आनन्दकलाओं की वृद्धि होती है। पदार्थ ही को बल कहते हैं। बल विना रस के रहता नहीं। अतएव जितना बल आत्मा में आता जाता है-अर्थात्-जितनी अधिक सम्पत्ति का मालिक यह बनता जाता है-उस सम्पत्ति के साथ रहने वाले रस से-इस रस स्वरूप आत्मा के रस की कलाएँ उतनी अधिक बढती जाती हैं। रस को प्राप्त करके ही आत्मा आनन्दकला बढाने में समर्थ होता है-इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है-'**रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**[3]। बस, इस आनन्दकलावृद्धि से इस मनुष्य की मृत्यु न मालूम कहाँ भाग जाती है। बस, यदि इसकी मृत्यु नहीं है-तो उस मृत्यु की अभावास्था का नाम ही-'सत्ता' है। मृत्यु के अर्थात् अभाव के अभाव में-भाव अर्थात् सत्ता कूद पड़ती है। बस, उस सत्ता ही को तो आनन्द कहते हैं। 'अस्ति'-इसी का नाम ज्ञान है-ज्ञान ही का नाम आनन्द है। यदि मनुष्य है-उसकी सत्ता है-अस्तित्त्व है-तो अवश्य

१ बृहदा० उप० १।४।२। २ तैत्ति० उप० २।७। ३ तैत्ति० उप० २।७।

ही हम उसे आनन्दस्वरूप कह सकते हैं। 'अस्ति'-इस सत्ता का नाम ही तो आनन्द है। जैसा कि ऐकात्म्य प्रकरण (आठ) में हम बतला आए हैं। ऐसी अवस्था में जब आत्मा है-यह व्यवहार करते हो तो फिर आनन्दस्वरूपता का खण्डन क्यों कर हो सकता है ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा हैं-

"सार्तिः परा या मृतिरस्य जन्तोस्ततोऽन्यथाऽऽनन्दकलासमृद्धिः ।
मृत्युर्न चेत् तर्हि मताऽस्य सत्ता सत्तैव साऽऽनन्द इतीष्यते तत् ।।४२।।

१०-एकत्वे भिन्नप्रतिपत्तिहेतुः ।

(सत्ता-चेतना-आनन्द-इन तीनों के) एकत्व में-भिन्न प्रतिपत्ति का कारण—

सत्ता, चेतना, आनन्द-ये तीनों कहने को तीन हैं-वास्तव में तीनों एक ही हैं-यही पूर्व के कथन से सिद्ध होता है। वास्तव में देखा जाए तो तीनों का एकत्व प्रतिपादन अविनाभूतत्व को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है। यदि वास्तव में तीन न होते तो फिर-**त्रिसत्यवाद** ही का लोप हो जाता। हम '**त्रिसत्यवादी**' हैं। हमारे मत में सत्ता-चेतना-आनन्द तीनों पदार्थ सत्य हैं। तीनों में से एक भी मिथ्या नहीं बतलाया जा सकता। ऐसी अवस्था में आनन्द-विज्ञान-रसप्रतिष्ठा सत्ता में जो एकत्व का प्रतिपादन करते हैं-"तीनों तीन नहीं हैं-वास्तव में तीनों एक ही पदार्थ हैं"-यह कहते हैं-इसका एक मात्र कारण इन तीनों का अविनाभाव है। इस अविनाभाव के कारण ही हम इन तीनों को तीन न कहकर एक कहते हैं। अविनाभाववशात् ही इन तीनों का एकत्व समझना चाहिए। सत्तावत् अस्ति, भाति, रस-ये तीनों ही ऐसे हैं। एक के विना एक सर्वथा नहीं रहता। तीनों लाजिम मलजूम हैं। अस्ति है-वहाँ भाति और रस मौजूद है। भाति है-जहाँ अस्ति और रस मौजूद हैं। रस है वहाँ-अस्ति और भाति मौजूद हैं। एक को एक के विना स्वातन्त्र्येण कभी आप देख ही नहीं सकते। बस, केवल इस अविनाभाव को ही लक्ष्य में रखकर इन तीनों को एक ही बतलाया जाता है। परन्तु वास्तव में-तीनों का एकत्व होने पर भी-कई कारण ऐसे हैं कि इन तीनों को पृथक् माना जाता है। जैसा कि हम बतलाने वाले हैं। तात्पर्य्य यही है कि-अस्ति-भाति-रस में दार्शनिक लोग पूर्वोक्त प्रकारेण जो एकत्व बतलाते हैं-वह अविनाभाववश से ही समझना चाहिए। चूंकि एक के विना दूसरा नहीं रहता-दूसरे के विना तीसरा नहीं रहता-तीसरे के विना पहला दूसरा नहीं रहता, इसी लिए तीनों को एक बतला दिया है। वास्तव में तीनों ही सत्य हैं। त्रिसत्यवाद में जरा भी फर्क नहीं समझना चाहिए। जैसाकि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आनन्दविज्ञानरसप्रतिष्ठास्वेकत्वमित्थं यदुदाहरन्ति ।
तच्चाविनाभाववशेन बोध्यं न चान्यदन्येन विना कृतं स्यात्" ।।४३।।

हमने ज्ञान, सत्ता और आनन्द—ये तीन पदार्थ बतलाए हैं। इन्हीं तीनों को ज्योति, प्रतिष्ठा और विधृति—इन तीन शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। जो ज्ञान है—वह ज्योतिस्वरूप है। ज्ञान वास्तव में ज्योतिस्वरूप है। ज्ञानज्योति ज्योति ही नहीं है—ज्योतिष्मान् सूर्य्यचन्द्रादि को भी प्रकाशित करने वाली ज्योति है। इस ज्ञानज्योति में ही तो सारा विश्व चमक रहा है। **तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्**[1]—यह इसी ज्ञानज्योति के लिए ही तो कहा जाता है। भला, फिर क्यों न हम इसे 'ज्योति' कहें। दूसरा तत्त्व है—सत्ता। इसी सत्ता को प्रतिष्ठा कहा जाता है। अस्ति—इसी का नाम सत्ता है। यह आत्मा स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है—यही सत्ता का स्वरूप है। यह सत्ता अर्थात् प्रतिष्ठा दो प्रकार की है—(१) आत्मप्रतिष्ठा, (२) परप्रतिष्ठा। एक कागज में सैकड़ों अक्षर लिखे हुए हैं। इन अक्षरों की जो अपनी प्रतिष्ठा है—अपना अस्तित्व है—वही आत्म प्रतिष्ठा है, जिस कागज पर अक्षर बैठा हुआ है—वह परप्रतिष्ठा है। यह प्रतिष्ठातत्त्व जर्रे-जर्रे में व्याप्त हो रहा है। तीसरा तत्त्व है—विधृति। विधृति नाम है—पकड़ने, का यह आलम्बन है। क्रियासमष्टि का नाम ही 'अस्ति' है। क्रिया की समष्टि तब तक नहीं बन सकती—जब तक कि उस क्रिया का कोई निष्क्रिय आधार न मान लिया जाए। विना विधृति के प्रतिष्ठा रह ही नहीं सकती है। विधृति ही प्रतिष्ठा की प्रतिष्ठा है—'है' इसके लिए विधृति-स्वरूप घट-पटकी नितान्त आवश्यकता है। विना घट-पट के 'है' कोरा है—व्यर्थ है। बस, इस विधृति को ही आलम्बन कहते हैं। आलम्बन को ही रस कहते हैं एवं रस को ही आनन्द कहते हैं। कहना यही है कि यह ज्योति, प्रतिष्ठा और विधृति अर्थात्—भाति, अस्ति, रस—इन तीनों को हम कभी सात जन्म में भी अलग करके नहीं बतला सकते। यहाँ तक ज्योति है—यहाँ तक प्रतिष्ठा है एवं यहाँ तक रस है—यह बताना कठिन ही नहीं—अपि तु, असम्भव है। बतलाना ही नहीं—यदि अपने मस्तिष्क में से भी इनको अलग देखना चाहें—यदि ज्ञान से—खयालमात्र से भी इनकी भिन्नता देखना चाहें तो असम्भव है। हरहालत में तीनों की ऐसी कड़ी जुड़ी रहती है—जिसे अलग करके न कहा जा सकता है—न चिन्तन ही किया जा सकता है। इसीलिए तो इन्हें एक कहा करते हैं।

जो अभात है—जिसका भान नहीं हो रहा है—वह वस्तु ही क्या होगी? कुछ नहीं। भाति ही तो अस्ति का स्वरूप है। जैसा कि गुरुवर कहते हैं—

"किं स्यादभातम्"

एवं अप्रतिष्ठ का भान कैसे हो सकता है? जो पदार्थ संसार में है ही नहीं—जिसका अस्तित्व ही नहीं—उसका भान कैसा? घड़ा है—वही तो जाना जाता है। यदि घड़ा न होगा तो जाना क्या जाएगा? जैसा कि गुरुवर कहते हैं—

"कथमप्रतिष्ठं भायात्"

हम दावे के साथ कह सकते हैं कि न अस्ति के विना भाति है—न भाति के विना अस्ति है।

१ मुण्डकोप० २।२।१०।

अस्ति विना हर्गिज भाति नहीं है, भाति विना अस्ति कोई चीज नहीं है। एक के विना दूसरा–न भायात्–यह अटल सिद्धान्त है। जैसा कि गुरुवर कहते हैं—

"न भायात्"

एवं जो अधृत, प्रतिष्ठा एवं भाति है–वह भी कोई वस्तु नहीं है। यदि–'है' का आधार नित्यालम्बनस्वरूप विधृति न हो तो 'है' और 'जानते हैं'–यह कैसे कहा जा सकता है? जो है एवं जिसे जानते हैं–वही विधृति है–वही आलम्बन है–जैसा कि गुरुवर कहते हैं—

"अधृतं न च स्यात् (अस्ति च–भाति च अधृतं न स्यादिति भावः)।

तात्पर्य्य यही है कि ज्योति, प्रतिष्ठा, विधृति–ये तीनों भिन्न कभी नहीं बतलाई जा सकती एवं न इनकी भिन्नता का चिन्तन भी किया जा सकता है। अर्थात् न इनकी भिन्नता बतलाई जा सकती, न खयाल में आ सकती है। अभात क्या हो? अर्थात् भाति के विना अस्ति है ही क्या चीज? एवं अप्रतिष्ठ का भान कैसे है? अर्थात् 'अस्ति' विना भाति है ही क्या चीज? एवं अधृत कुछ भी नहीं है। अर्थात् विधृति अर्थात् रस के विना न अस्ति है न भाति है–ये तीनों अन्योन्याविनाभूत हैं, इसीलिए तो इन्हें 'एकत्व' की उपाधि दी जाती है। जब एकत्व इनका वास्तव में प्रतीत हो रहा है तो फिर इन्हें भिन्न कैसे कहा जा सकता है? त्रिसत्यवाद की स्थापना क्यों की जा सकती है? बस, इसी प्रश्न का आगे के प्रकरण से गुरुवर श्री ओझा जी उत्तर देते हैं—

"ज्योतिः प्रतिष्ठा विधृतिश्च भिन्नाः शक्यं न वक्तुं न विचिन्तितुं वा।
किं स्यादभातं कथमप्रतिष्ठं भायान्न भायादधृतं न च स्यात्" ॥४४॥

ज्योति-प्रतिष्ठा एवं विधृति–इन तीनों की एक ही सत्ता प्रतीत होती है–तीनों एकस्वरूप प्रतीत होते हैं, अतएव यह त्रिक एक माना जाता है। तीनों को न हम अलग कह सकते–न ख़याल ही में ला सकते, अतएव इन तीनों को 'एक' कहा जाता है। तीनों तीन होकर भी एक ही हैं। परन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे कि एक होते हुए भी तीनों का विज्ञान सर्वथा पृथक्-पृथक् है। प्रतीति नहीं होती–यह बात सच है, परन्तु विज्ञान तीनों का अलग–अलग है। एक ही तीनों तीन नहीं हैं–एक ही हैं, परन्तु विज्ञान एक ही का सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीन प्रकारों से होता है, अतएव हम कह सकते हैं कि वह एक ही अव्याकृततत्त्व तीन तरह से व्याकृत हो रहा है। परन्तु मिट्टी से पैदा होने वाला घट जैसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता तद्वत् अव्याकृत से उत्पन्न सत्ता–चेतना–आनन्द मिथ्या नहीं कहे जा सकते। त्रिसत्य पद पर आक्षेप नहीं हो सकता। एक ही तीन बना हुआ है–उसके तीनों स्वरूप सच्चे हैं। तीनों ब्रह्म ही तो हैं। ब्रह्म भी कभी मिथ्या हुआ है? कहने का तात्पर्य्य यही है कि इन तीनों की एक ही सत्ता है। तीनों कभी अलग नहीं कहे जा सकते, न ध्यान ही में लाए जा सकते, अतएव इन तीनों को हम एक ही कह सकते हैं। परन्तु सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीनों का विज्ञान

(स्वरूप) सर्वथा भिन्न-भिन्न है । तीनों अलग दीखते नहीं हैं-तीनों का विज्ञान पृथक्-पृथक्, अतएव हम कह सकते हैं कि उस एक अव्याकृततत्त्व का ही तीन तरह से व्याकरण है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एकैव सत्ता प्रथते यदेषां तस्मात् त्रयं तत् पुनरेकमिष्टम् ।
विज्ञानमेषां त्रिविधं पृथक् स्यात् तस्मात् त्रिधा व्याक्रियते तदेकम्" ।।४५।।

तीनों का विज्ञानस्वरूप कैसे भिन्न-भिन्न है ? एकत्व में भिन्न प्रतिपत्ति का क्या कारण है ? यह बतलाते हैं—

'जिसे 'है' कहा जाता है-वही सत्ता है-यह बात हम कई बार कह चुके हैं । यह सत्ता प्रतिपत्तिभेद से अनन्त प्रकार की हो जाती है । विज्ञानभेद से सत्ताभेद हो जाता है । घट का भी ज्ञान है, पट का भी ज्ञान है, वस्त्र का भी ज्ञान है, पुस्तक का भी ज्ञान है, सूर्य्य का भी ज्ञान है, चन्द्रमा का भी ज्ञान है-सबका ज्ञान है । बस, इस ज्ञानभेद से अस्तिभेद हो जाता है । प्रतिपत्ति भेद से ज्ञानभेद है । ज्ञान चूंकि घटपटादिभेद से अनन्त है-भाति अनन्त है एवं भाति के साथ रहती है-अस्ति, अतएव हम अनन्तसत्ता कहने के लिए तय्यार हैं । जिस प्रकार प्रतिपत्तिभेद से सत्ता-प्रभेद हैं-सत्तानन्त्य है तद्वत्-सत्ताप्रभेद से ज्ञान (धी) भी भिन्न हो जाता है । घड़ा भी है-पुस्तक भी है-रामलाल भी है-देवदत्त भी है-अनेक 'है' हैं । चूंकि अस्ति विना भाति के रह नहीं सकती, अतएव सत्तावत् ज्ञान भी अनन्त मानने पड़ते हैं । बस, जबकि सत्ता और ज्ञान भिन्न हैं-अनन्त हैं-तो इनके भेद से रस का भिन्नत्व सुतरां सिद्ध हो जाता है । बस, इस भेद से ही सामान्यविशेष-भाव का जन्म होता है । घटत्व, पटत्व, द्रव्यत्व, पदार्थत्व-इत्यादि सामान्यविशेषों की जननी यही भिन्नता है । यदि भिन्नता न रहती तो कौन सामान्य होता-कौन विशेष होता ? इस सामान्यविशेष का विस्तृत विवेचन पूर्व में कर दिया गया है, अतएव यहाँ छोड देते हैं-

तात्पर्य्य कहने का यही है कि घटपटादि ज्ञानभेद से सत्ताभेद है एवं घटपटादिसत्ताभेद से ज्ञानभेद है एवं दोनों से रसभेद है एवं इसी भिन्नता के कारण सामान्यविशेष का अर्थात् जातिव्यक्ति का जन्म होता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सत्ता प्रभिन्ना प्रतिपत्तिभेदतः सत्ताप्रभेदादपि धीः प्रभिद्यते ।
रसस्तु भिद्येत तयोः प्रभेदतस्तथा च सामान्यविशेषसंभवः" ।।४६।।

ज्ञान और सत्ता भेद ही-रस के भेद के कारण हैं । ज्ञान और सत्ता ही से रस भिन्न होता है । घट का अस्तित्व एवं घट का ज्ञान चूंकि पट के अस्तित्व एवं पट के ज्ञान से पृथक् है, अतएव पटरस की अपेक्षा पटज्ञान को हम भिन्न कहने के लिए तय्यार हैं । चूंकि ज्ञान और सत्ता से ही रसभेद होता है-ज्ञान और सत्ता-ये दो ही रस को भिन्न करने वाले हैं, अतएव रस में कहीं तो प्रतिष्ठा के कारण

अर्थात् सत्ता के कारण पृथक्त्व होता है एवं कहीं विज्ञान के कारण रस में पृथक्त्व होता है। अर्थात्–कहीं सत्ता रसभेद का कारण बनती है एवं कहीं विज्ञान रस का भेदक बनता है एवं कहीं ज्ञान और सत्ता–दोनों के पृथक्त्व से रस पृथक् हो जाता है।

तात्पर्य्य कहने का यही है कि रस का भेद कहीं केवल ज्ञान से होता है एवं सत्ता से अभेद ही रहता है एवं जहाँ कहीं सत्ता से भेद होता है–वहाँ ज्ञान से अभेद ही रहता है एवं कहीं दोनों ही से भेद होता है। इस स्थल में ज्ञान-सत्ता–दोनों भिन्न हैं–जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसे प्रतिष्ठावशतः पृथक्त्वं क्वचित्तु विज्ञानवशात् पृथक्त्वम्।
क्वचित्पुनः स्यादुभयोः पृथक्त्वाद् रसे पृथक्त्वं तदिदं निरूह्यम्" ।।४७।।

'मस्तक पर रक्खी हुई पगड़ी पर ध्यान दीजिए एवं पगड़ी में क्या-क्या चीजें हैं?'–इस पर गौर कीजिए। आपको मालूम होगा कि पगड़ी में कपड़ा भी है एवं कपड़ा सूत से अभिन्न है–इसलिए उसमें सूत भी मौजूद है एवं सूत रूई से पैदा होता है, अतएव वह भी उसमें मौजूद है एवं रूई मिट्टी से पैदा होती है, अतएव मिट्टी भी मौजूद है। इस प्रकार पगड़ी में कपड़ा, सूत, तूल, मिट्टी–इत्यादि अनन्त पदार्थों का ज्ञान हो रहा है। ज्ञान विभिन्न प्रकार के है–अनन्त है। इस प्रकार ज्ञान से रस सर्वथा पृथक्-पृथक् है। पगड़ी का भी ज्ञान है–सूत का भी ज्ञान है–तूल का भी ज्ञान है। ज्ञान अनन्त हैं, अतएव ज्ञानाधार रस भी अनन्त हैं। परन्तु सत्ता की अपेक्षा से रस पृथक् नहीं है। सत्ता सब की एक ही है। मिट्टी की सत्ता को लेकर ही तूल सत् कहलाता है। तूल की सत्ता को लेकर ही तन्तु सत् कहलाते हैं। गरज यह है कि सत्ता एक है, अतएव सत्तापेक्षया रस भी एक ही है। एवमेव घट और मिट्टी–ये ज्ञान दो हैं, अतः ज्ञानापेक्षया रस भी दो ही हैं। परन्तु सत्ता दोनों की एक है, अतः सत्तापेक्षया रस एक ही है। एवमेव सत्ताओं के अनन्तानन्त संख्याओं में रहने पर भी 'गौ' यह ज्ञान एक ही होता है। प्रत्येक गाय की सत्ता भिन्न-भिन्न है, अतः सत्ताभेदेन अनन्त रस हैं। जितनी गाएँ हैं–उतनी ही सत्ता हैं एवं जितनी सत्ता हैं–उतने ही रस हैं। परन्तु सारी सत्ताओं का ज्ञान–गौ' रस एकरूप से है। 'गौ हैं'–ज्ञान एक ही है। बस, यह जो एकत्व प्रतीति हो रही है–वह विज्ञानापेक्षया समझनी चाहिए। तीसरा पक्ष है–उभयात्मक। घट और पुस्तक को ले लीजिए। पट की सत्ता भी घड़े की सत्ता से भिन्न है एवं पुस्तक का ज्ञान भी घट के ज्ञान से भिन्न है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उष्णीषवासोवरतन्तुतूलमृद्विज्ञानभेदेऽपि न सत्तया पृथक्।
सत्तास्वनन्तास्वपि गौरितीष्यते यदेकमेतत् प्रतिपत्त्यपेक्षया ।।४८।।

——❀——

११–सत्ताचेतनानन्दानां भेदाभेदसिद्धान्तः।

सत्ता, चेतना, आनन्द–तीनों का भेदाभेदसिद्धान्त—

बस, इसीलिए ज्ञान, सत्ता एवं आनन्द–ये तीनों अमृतधर्म भिन्न भी हैं एवं अभिन्न भी हैं । तीनों अन्योन्याश्रित हैं । सत्ता, चेतना, आनन्द–इनकी जो उन्मुग्धावस्था है–वही इनकी अभिन्नता है एवं उन्मुग्धावस्था का नाम ही 'आत्मा' है एवं इन तीनों की जो उद्‌बुद्धावस्था है–वही इन तीनों की भिन्नता है । इस भिन्नता का नाम ही शरीर किंवा 'विश्व' है । भिन्नता संसार है–अभिन्नता ईश्वर है ।

भिन्न हो चाहे अभिन्न इतना हम अवश्य कहेंगे कि तीनों हैं–परस्पर सर्वथा अविनाभूत । वृक्ष को उन्मुग्धरूप से देखा जाए तो वह एक वृक्ष ही है । परन्तु उसी की उद्‌बुद्धावस्था का यदि विचार किया जाए तो उसमें शाखा हैं, पत्ते हैं, टहनी हैं, जड़ें हैं–इस प्रकार भिन्नता ही भिन्नता नजर आएगी । जैसे 'वृक्ष' इस एक तत्त्व पर शाखा, पत्ते, टहनी, जड़ें–इत्यादि नाना-भाव नृत्य कर रहे हैं तद्वत् जो एक अमृत नाम का परतत्त्व कहलाता है–उसमें यह मृत्यु नानाभाव को प्राप्त होकर नृत्य कर रही है । बीजमूल से ही शाखादि अनेकता उत्पन्न होती हैं एवं उसी पर नृत्य करती रहती हैं—ठीक इसी प्रकार अमृतमूल से ही उत्पन्न यह नानात्व अमृत पर ही नाचा करता है । इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तेनात्र धर्मा अमृता इमे त्रयो भिन्ना अभिन्नाश्च परस्पराश्रयाः ।
रूपं यदेकं परमुच्यतेऽमृतं तत्रैष मृत्युर्बहुधैत्य नृत्यति" ॥४६॥

—❀—

१२–त्रयाणां वैरूप्यम् ।

(सत्ता, चेतना, आनन्द) तीनों का वैरूप्य—

सत्ता, चेतना, आनन्द–तीनों ही नित्यतत्त्व हैं । अस्ति, भाति, रस–तीनों आभु ही हैं । अव्याकृत रस का तीन तरह से व्याकरण है । इसीलिए तीनों को तीन न कहकर एक कहने के लिए तय्यार हैं । विना भाति के अस्ति नहीं रहती विना अस्ति के भाति नहीं रहती एवं विना रस के अस्ति-भाति नहीं रहती–इस प्रकार से तीनों सर्वथा अविनाभूत हैं । इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकरणों से यद्यपि अस्ति, भाति, रस–तीनों का ऐक्य ही प्रतीत होता है–तीनों एक वस्तु मालूम होती हैं, तथापि यदि वास्तव में देखा जाता है तो तीनों सर्वथा भिन्नस्वरूप ही हैं । तीनों का स्वरूप सर्वथा पृथक्त्वेन प्रतीत होता है । अस्ति की प्रतीति विना भाति के हो रही है–भाति की प्रतीति विना अस्ति के हो रही है एवं रस की प्रतीति अस्ति-भाति से जुदा हो रही है । यद्यपि कई स्थानों में अस्ति-भाति-रस का अविनाभाव ही है । कई स्थल अवश्य ही ऐसे हैं–जिनमें इन तीनों का पार्थक्य नहीं किया जा सकता । परन्तु कितने ही स्थल ऐसे भी हैं–जहाँ तीनों का स्वरूप बिल्कुल भिन्न-भिन्न मालूम हो रहा है । जब प्रतीति दोनों प्रकार की हो रही हैं तो दोनों ही पक्ष ठीक हैं–यही मानना चाहिए । दोनों ही ठीक नहीं हैं–अपि तु, त्रिसत्यवाद ही ठीक है । क्योंकि जबकि तीनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहा है तो ऐसी अवस्था में तीनों के सत्यत्व का अपलाप क्योंकर किया जा सकता है ? जहाँ एकत्व की प्रतीति हो रही है–वहाँ अन्योन्याविनाभाव को कारण मान लेने से भी काम चल सकता है । वास्तव में त्रिसत्यवाद ही युक्ततम है–

जैसा कि इन तीनों का स्वरूप पृथक्त्वेन दिखलाकर इनके सत्यत्व का आपको परिचय गुरुवर ओझा जी करा देते हैं—

"यद्यप्यमीषामिदमित्थमैक्यं प्रतीयते किन्तु तथापि तानि ।
भिन्नानि रूपाणि यतः स्वरूपं तेषां पृथक्त्वेन मिथो विभाति" ॥५०॥

संसार में पदार्थ कुल तीन ही प्रकार के हैं—(१) सत्तासिद्ध, (२) भातिसिद्ध (३) उभयसिद्ध। कई पदार्थ तो ऐसे हैं जिनकी सत्ता जिनका अस्तित्व तो अवश्य ही मानना पड़ता है, परन्तु उनका भान नहीं होता–वे पदार्थ केवल सत्तासिद्ध हैं। 'रस' और 'बल'–ये दो ही जगत् के मूल हैं। इसका विस्तृत विवेचन हमने **'मूलोपनिषत्'**[1] में कर दिया है। वह जो सर्वबलविशिष्टरस है–सर्वथा व्यापक है–शान्त एवं निष्क्रिय है। सारे बल उसमें सुप्त रहते हैं। सर्वप्रथम उन सोते हुए बलों में से एक अनिर्वचनीय बल जिसका कि नाम 'मायाबल' रक्खा जाता है–उद्बुद्ध होता है। यह उद्बुद्ध मायाबल उस असीम रस को ससीम बना डालता है। मायाबल एक प्रकार का कोश समझना चाहिए। बल अनन्तानन्त हैं, असंख्य हैं, परन्तु इन बलों के खजाने कुल १६ ही हैं। ये १६ खजाने बलकोश कहलाते हैं, १-माया, २-जाया, ३-धारा, ४-आप, ५-अम्व, ६-यक्ष, ७-यज्ञ, ८-सूत्र, ९-हृत्, १०-मोह, ११-विद्या, १२-सत्य, १३-भूति, १४-वय, १५-वयोनाध, १६-वयुन–ये इन १६ बलकांशों के नाम हैं। इन १६ओं में से पहले पहल मायाबल का जन्म होता है। मायाबल ही पहले पहल उत्पन्न होकर असीम रस को ससीम बना डालता है। बस, इस मायाबल के पेट में अवशिष्ट हृद्बल वगैरह अन्यबल प्रादुर्भूत होते हैं। बस, इन बलों के सम्बन्ध से ही आगे की सारी की सारी सृष्टिएँ होती हैं। बलों का सम्बन्ध कितने प्रकार का है रस के साथ बल की, बल के साथ रस की स्थिति कैसे एवं कितने प्रकार से होती है ? इन सब विषयों का विवेचन यहाँ करना सर्वथा अप्राकृतिक है। हमने इसी ग्रन्थ के **ब्रह्मकर्म्म सम्बन्धाधिकार** नाम के प्रकरण में इनका विस्तृत विवेचन है, अतः वहीं देखना चाहिए। यहाँ हमें सिर्फ इतना ही कहना है कि व्यापक रस में मायाबल उत्पन्न होता है एवं वह उसे ससीम बना डालता है। बस, मायावच्छिन्न इस ससीम रस को ही महेश्वर किंवा ईश्वर कहा जाता है। जो सर्वबल विशिष्टरस था, उसे 'परात्पर' कहा जाता है एवं मायावच्छिन्न रस को 'ईश्वर' कहा जाता है। इसीलिए कहते हैं—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" ।[2]

इस मायावच्छिन्न रस में अव्यय, अक्षर, क्षर–ये तीन पार्ट हो जाते हैं। जो रस आगे की सृष्टियों का आधार रहता है–वह 'अव्यय' कहा जाता है। यह अव्यय न कर्त्ता है–न भोक्ता है, केवल आलम्बनमात्र है। बाद में हृद्बल उत्पन्न होता है। उस हृद्बल के साथ जितना सा रस ऊपर-नीचे आदान विसर्गक्रिया में लीन रहता है–वह 'अक्षर' कहलाता है। यह सृष्टि का निमित्तकारण है, एवं अव-

१ द्रष्टव्य संशयतदुच्छेदवाद 'मूलोपनिषत् प्रथम पर्व'। २ श्वेताश्वरोप० ४।१०।

शिष्ट बलभाग 'क्षर' कहलाता है। यह क्षर आत्मविकार-यज्ञ भेदेन तीन प्रकार का है। आत्मक्षर से ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम एवं इनके प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न-ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। बाद में इन विकारक्षरों का जो सर्वहुतयज्ञ होता है, उससे स्वयम्भू, परमेष्ठि, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी-ये पाँच यज्ञक्षर उत्पन्न होते हैं। इनसे आगे की सारी सृष्टिएँ होती हैं, अतएव इन्हें 'विश्वसृट्' कहा जाता है। ये पाँचों ही पिण्ड हैं। ये पाँचों उस अश्वत्थ-वृक्ष की एक टहनी कहलाती है-इसी को **पञ्चपुण्डीरा प्रजापत्यबलशा** कहा जाता है। मायाबल कोश में से निकलने वाली एक माया की यह पञ्चपुण्डीरा बलशा है। इसी बलशा को एक महाब्रह्माण्ड कहा जाता है। चूँकि इसके पेट में परमेष्ठि, सूर्य्य आदि अनेक क्षुद्र ब्रह्माण्ड रहते हैं, अतएव इनकी अपेक्षा से उस टहनी को महाब्रह्माण्ड कहा जाता है। ऐसी ऐसी अनन्तानन्त टहनिएँ उस ईश्वर के शरीर में हैं। होनी भी चाहिएँ, क्योंकि मायाबल तो एक खजाना है-उसमें से एक ही मायाबल थोड़े ही निकलता है, बल्कि अनन्तानन्त मायाबल निकलते हैं। प्रत्येक मायाबल की सृष्टि पृथक्-पृथक् होती है। प्रत्येक माया का ब्रह्माण्ड भिन्न-भिन्न है। इसीलिए तो **"जाके रोम कोटि ब्रह्माण्डा"** कहा जाता है।

इस सारे प्रपञ्च से हमें बतलाना यही है कि भारतीय वैज्ञानिक महर्षियों ने एक टहनी का प्रत्यक्ष किया है। पञ्चपुण्डीरा एक बलशा को महर्षियों ने पहचाना है। एक बलशा ऐसी है-एक ब्रह्माण्ड ऐसा है-जो सत्तासिद्ध भी है एवं भातिसिद्ध भी है। परन्तु अनन्त ब्रह्माण्ड जिनका कि भान नहीं होता-वे केवल सत्तासिद्ध ही हैं। विज्ञान कहता है कि भाति न होने पर भी उनकी सत्ता अवश्य ही मानो। यह तो हुई उच्चकोटि की कथा। हम कहते हैं-आप इतनी दूर क्यों जाते हैं? केवल इस ब्रह्माण्ड के भीतर ही हमारी अपेक्षा को प्रधान रखकर सत्ता-भाति का भेद ही देख लीजिए। सूर्य्य भातिसिद्ध भी है एवं सत्तासिद्ध भी है। परन्तु परमेष्ठिमण्डल केवल सत्तासिद्ध ही है-उसकी सत्ता अवश्य ही माननी पड़ती है, एवमेव स्वयम्भूमण्डल का यद्यपि भान नहीं होता, परन्तु उसकी सत्ता अवश्य ही माननी पड़ती है। एवमेव कितने ही नक्षत्र ऐसे हैं-जिन्हें हम खुर्दबीन से भी नहीं देख सकते, परन्तु उनकी सत्ता अवश्य माननी पड़ती है। इतनी दूर क्यों जाते हैं? और भी नीचे आ जाइए। विलायत के मनुष्यों का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता तो क्या विलायत में उनकी सत्ता ही नहीं है? नहीं, है और अवश्य है। विलायत के मनुष्य सत्तासिद्ध हैं-भातिसिद्ध नहीं हैं। यह सारी सत्तासिद्धि हमारी अपेक्षा से समझनी चाहिए। यदि महर्षियों के लिहाज से विचार करें तो फिर अन्य ब्रह्माण्ड भी सत्ता सिद्ध होंगे, क्योंकि उन्हें एक ब्रह्माण्ड का प्रत्यक्ष हो जाता है। पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि विना भाति के भी सत्ता रहती है। सत्ता हम मानते हैं, परन्तु भान उसका नहीं होता। इससे मानना पड़ता है कि सत्ता भाति से पृथक् वस्तु है।

अब चलिए भाति की ओर। जैसे अन्य ब्रह्माण्डादि सत्तासिद्ध हैं-भातिसिद्ध नहीं तद्वत् कई पदार्थ ऐसे हैं जो केवल भातिसिद्ध हैं, सत्तासिद्ध नहीं। दिग्, देश, काल, संख्या, सेर, पाव, छटाँक-इत्यादि

इत्यादि जितने भी पदार्थ हैं–वे केवल भातिसिद्ध हैं। भान इनका अवश्य ही होता है–संसार का व्यवहार इनसे अवश्य ही चलता है, परन्तु इनका अस्तित्व नहीं है। पूर्व–पश्चिम–उत्तर–दक्षिण–इनका भान होता है, परन्तु जैसे पुस्तक का अस्तित्व है, वैसे किसी चीज को पकड़कर बतलाने के माफिक पूर्व, पश्चिम को नहीं बतलाया जा सकता। एवमेव काल भी ऐसा ही पदार्थ है। भान भूत–भविष्यत् का अवश्य होता है, परन्तु सत्ता नहीं है। दो, तीन, चार, पाँच–ये जो संख्याएँ हैं–वे केवल भातिसिद्ध हैं। एक संख्या अवश्य भातिसिद्धा एवं सत्तासिद्धा है। जब आप ८ संख्या कागज पर लिखते हैं तो **अयमेकः अयमप्येकः**–इस एकत्व की मर्य्यादा से संख्या आगे बढ ही नहीं सकती, अतएव मानना पड़ता है कि द्वित्वादि संख्या भातिसिद्धा है। एवमेव ऊपर, नीचे, टेढा, बायाँ–इत्यादि पदार्थ भी भातिसिद्ध ही हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि तोल सब जगह का एकसा नहीं होता। सोना सत्तासिद्ध है, अतएव सोना सर्वत्र एकसार रहेगा। परन्तु सारे तोल सब जगह के लिए भिन्न भिन्न हैं। इससे मानता पड़ता है कि तोल केवल भातिसिद्ध पदार्थ है।

इससे सिद्ध हो जाता है कि भाति सत्ता से पृथक् पदार्थ है।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य्य यही है कि हम दिक्-काल-संख्या आदि पदार्थों को भाति से ही सिद्ध देखते हैं–अस्ति से नहीं। अर्थात् दिक्कालादि पदार्थ केवल भातिसिद्ध हैं, अतएव हम कह सकते हैं कि भाति सत्ता से पृथक् वस्तु है। एवमेव लोक में कई पदार्थ अस्तिसिद्ध ही हैं। इस ब्रह्माण्ड के अलावा जो अन्य ब्रह्माण्ड हैं–वे केवल सत्तासिद्ध ही हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि सत्ता भाति से पृथक् वस्तु है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भात्यैव सिद्धानि बहूनि विद्मो दिक्कालसंख्यानुविधानि नास्त्या।
अस्त्यैव सिद्धानि बहूनि लोके न भानिभिन्नाण्डविधानि यानि" ॥५१॥

अपि च–जहाँ अस्ति है–वहाँ भी रस मानना पड़ेगा। अर्थात् सत्तासिद्ध जो अन्य ब्रह्माण्डादि हैं–वहाँ भी रस मौजूद है एवं जो भाति है–वहाँ भी रस मौजूद है। अर्थात्–भातिसिद्ध जो दिग्देश–कालादि पदार्थ हैं–वहाँ भी रस अवश्य ही मानना पड़ेगा। बस, इससे सिद्ध हो जाता है कि रसपदार्थ भाति और सत्ता से पृथक् है। सत्ता और भाति पृथक् हैं एवं दोनों में रस रहता है–इससे सुतरां रस का पृथक्त्व सिद्ध हो जाता है। बस, इस प्रकार से अस्ति, भाति, रस–इन तीनों का उभयसिद्ध पदार्थ–मात्रों में ऐक्य देखकर भिन्नता का–त्रिसत्यवाद का खण्डन नहीं किया जा सकता। तीनों का सर्वथा ऐक्य नहीं बतलाया जा सकता। तीनों के स्वरूप पृथक् पृथक् मालूम हो रहे हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्रास्तिरत्रापि रसोऽथ भातिर्यत्रास्ति तत्रापि रसोस्ति तस्मात्।
ताभ्यां तृतीयोस्ति रसः पृथग्वन्न सर्वथैषां तत ऐक्यमाहुः ॥५२॥

इस प्रकार 'अस्ति-भाति-रस'-ये तीनों यद्यपि स्वरूप से पृथक् सिद्ध हो जाते हैं, तथापि सत्ता, चेतना, आनन्द-इनके उन्मुग्धरूपवशात् इन तीनों का त्रित्व जहाँ तिरोहित हो जाता है-जहाँ तीनों का ऐक्य हो जाता है-उसे ही हम आत्मा कहेंगे। तात्पर्य्य यही है कि आत्मा सच्चिदानन्द है एवं आत्म-स्वरूप सच्चिदानन्द कहने को तीन हैं-वास्तव में एक ही तत्त्व है-यह हमने कहा था। इन तीनों को पृथक् मान लेने पर भी आत्मा एक स्वरूप है-इसमें कोई विरोध नहीं आता। जहाँ ये तीनों अस्फुट रहते हैं-उन्मुग्ध रहते हैं, वहाँ इनका पृथक्करण हर्गिज नहीं किया जा सकता। बस, उसी को हम आत्मा कहते हैं। चूँकि वहाँ पृथक्करण नहीं किया जा सकता, अतएव आत्मा को एक स्वरूप कहने में कोई भी बाधा नहीं पहुँचती। परन्तु जब वही स्फुटरूप से बाहर निकल पड़ते हैं तो फिर भिन्न-स्वरूपयुक्त हो जाते हैं। बस, स्फुट जो अस्ति-भाति-रस हैं-वे ही जगत् कहलाते हैं। आतिशबाजी बनाने वाला एक अनार बनाता है। उसमें बारूद भरकर एक पिण्डाकृति बना देता है। यद्यपि हैं-उसमें अनन्तफूल, परन्तु सब उन्मुग्धावस्था से आक्रान्त हैं, अतएव वह एक कहलाता है। उसमें सर्वथा भेदाभाव है। परन्तु जब वही अग्निसम्बन्धेन उद्‌बुद्ध होता है, तो उसमें से हजारों फूल झड़ने लगते हैं। एक ही अनार उद्‌बुद्धरूप से नानाभाव में परिणत हो जाता है। बस, ठीक इसी प्रकार यह आत्मा सच्चिदानन्द की उन्मुग्धावस्था है। अतएव इसे हम 'एक' कहने के लिए तय्यार हैं एवं जब वही अव्याकृततत्त्व व्याकृत होता है तो नाना भाव में परिणत हो जाता है। उन्ही का नाम जगत् है। तात्पर्य्य यही है कि आत्मापेक्षया सच्चिदानन्द का एकत्व है एवं विश्वापेक्षया अनेकत्व है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"तथापि यत्रैक्यमिवास्फुटानामुन्मुग्ध रूपत्ववशादमीषाम्।
आत्मा स उक्तोऽथ परिस्फुटत्वे तान्येव सर्वाणि जगन्ति सन्ति" ॥५३॥

१३–सच्चिदानन्दस्यात्मत्वजगत्त्वे।

आत्मा भी सच्चिदानन्द ही है–जगत् भी सच्चिदानन्द ही है—

सत्ता, चेतना, आनन्द-उस सच्चिदानन्द ब्रह्म की ये तीन संस्था हैं। यह ब्रह्म त्रिसंस्थ है। बस, इस त्रिसंस्थ ब्रह्म का जो नभ्यस्थान है-केन्द्रबिन्दु है-उसी का नाम सत् है। सत् के मायने हैं-'है'। बस, केन्द्र का जो अस्तित्व है-वही तो बाहर चारों ओर फैलता है। यदि केन्द्र ही में-नास्ति है तो फिर रश्मियाँ निकलेंगी ही किसकी? अतएव इस ब्रह्म का जो केन्द्र है-उसे हम सत् अर्थात् सत्ता कहने के लिए तय्यार हैं। जो पिण्ड है-वही सत् है। केन्द्र को साथ लिए हुए जो पिण्ड है-उसी का नाम 'सत्' है। प्रत्येक पिण्ड की स्थिति नभ्यप्रजापति के आधार पर रहती है। सारी वस्तु की ताकत सेण्टर के आधार पर रहती है। सेण्टर शक्ति ही उस वस्तु को अपने ऊपर रक्खे हुए है एवं उसी ने उसका सञ्चालन कर रक्खा है-वही उस पिण्ड का अधिष्ठाता है, अतएव इसे प्रजापति कहा जाता है। इसी के लिए श्रुति कहती है—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" ।।[1]

वह नभ्य प्रजापति सत्ता-स्वरूप है । बस, उसकी सत्ता से ही वह 'नभ्यपिण्ड' सत् है । यदि केन्द्रीयसत्ता पिण्ड में से निकल जाए तो 'पिण्ड' कोई वस्तु ही न रहे । 'पिण्ड है'-इस प्रकार का जो पिण्ड का 'अस्तित्व' है-वह उस नभ्यसत्ता की ही महिमा है । केन्द्रीयसत्ता से नभ्यपिण्ड सत्तावान् है-सत् है । कहने का तात्पर्य्य यही है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म का जो सत्तांश है-वह पिण्ड के केन्द्र में रहता है । केन्द्र में उसे इसीलिए माना जाता है कि वह पिण्ड 'सत्' कहलाता है । यदि सत्तांश केन्द्र में न रहता तो पिण्ड सत् न कहलाता । अब चलिए-आनन्द की ओर । प्रत्येक पदार्थ में आत्मा-पद और पुनःपद-ये तीन पार्ट रहते हैं । जो आत्मा है-जो कि सत्तास्वरूप है-वह केन्द्र में रहता है एवं जो आत्मा से ही उत्पन्न उस आत्मा का शरीर है-पिण्ड है-वही 'पद' कहलाता है एवं जो उस आत्मा की रश्मियाँ बाहर तक बडी दूर तक जाती हैं-उसे ही 'पुनःपद' कहते हैं । इसी पुनःपद को महिमा और विभूति शब्द से भी कहा जाता है । इस रश्मिमण्डल को 'साहस्रमण्डल' कहा करते हैं । प्रत्येक पदार्थ का एक साममण्डल होता है । इस साममण्डल की अवधि वही मानी जाती है जो कि महिमा की अथवा पुनः-पद की अवधि है । इस साममण्डल के १००० सर्किल माने जाते हैं-अर्थात् ये साममण्डल कुल हजार हैं । उत्तरोत्तर बडे होते जाते हैं । जो सबसे अन्तिममण्डल है-वह सबसे बडा है एवं पदार्थ का केन्द्र-स्थानीय साममण्डल बिन्द्वात्मक है । इसीलिए-**ऋङ्मूर्त्तिमण्डलं साम**-यह कहा जाता है । पदार्थ की अन्तिम सीमा का नाम साम ही है । साम ही हजार तक जाता है, अतएव-**वेदानां सामवेदोऽस्मि** यह कहा जाता है । साम के हजार मण्डल हैं-इसीलिए-**सहस्रवर्त्मा सामवेदः**-कहा जाता है । इसका विशेष विवेचन करना अप्राकृत होगा, अतः इसे यहीं छोड प्रकृत का अनुसरण करते हैं ।

हम बतला रहे थे कि साममण्डल सहस्रवर्त्मा है, अतएव इस मण्डल को 'साहस्रमण्डल' कहा जाता है । इस मण्डल में वेद-लोक और वाक् तीन साहस्रियाँ रहती हैं । इसीलिए श्रुति कहती है-**किं तत् सहस्रमिति इमे लोका इमे वेदा अथो वागिति ब्रूयात्** ।[2]-यह जो साहस्रमण्डल है-यह केन्द्र से बद्ध होकर उत्तरोत्तर वृद्ध (बडा) होता जाता है, अतएव इस साहस्र को 'आनन्द' कहने लिए तय्यार हैं । आत्मा की रश्मियाँ ही तो मण्डलरूप में परिणत होती हैं । आत्मा का जो करप्रसार है-वही तो 'साहस्र' कहलाता है । उत्तरोत्तर बडे होने के कारण इसी साहस्र को 'आनन्द' कहा जाता है-**अस्य करप्रसारः साहस्र आनन्दः**-अपि च-यही आनन्द अर्थात् आत्मरश्मियाँ अन्य आत्मा के आघात से प्रतिफलित होती हुई चित् नाम धारण कर लेती हैं । चित् नाम है-चिनाव का । बाहर जाती हुई रश्मियाँ प्रत्याघात से सिमटकर वापस आ जाती हैं । एक पर एक की तह बैठ जाती है-चिनाव हो जाता है, अतएव प्रतिफलित आनन्द को-आत्मरश्मियों को 'चित्' कहते हैं । इसी चित् को विज्ञान भी कहते हैं । जब हमें किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो आत्मा की रश्मियाँ पदार्थ पर जाती हैं । वहाँ उससे प्रत्याहत होकर

---

१ यजुर्वेद ३१।१६ । २ ऐ० ब्रा० २८।७ ।

तदाकाराकारित बन कर जब ये हमारे पास आती हैं तो हम 'जानामि' यह कहते हैं। प्रतिफलित रश्मियाँ ही ज्ञान का कारण बनती हैं, अतएव उन्हें हम ज्ञान भी कह सकते हैं।

केन्द्रस्थ आत्मा सत्तास्वरूप है–करप्रसार आनन्द है–प्रतिफलित आनन्द चित् है। एक ही ब्रह्म–एक ही आत्मा–सत्तानन्द चित्भेद से 'त्रिवृत्' स्वरूप में परिणत हो रहा है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में 'व्यष्टि' रूप से वही आत्मा बैठा हुआ है, अतएव यच्चयावत् आत्मप्रपञ्च को हम 'त्रिवृत्' कह सकते हैं। पहले सत्ता बाद में आनन्द अनन्तर चित्–यही इस श्लोक का तात्पर्य्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सन्नभ्य पिण्डोऽस्य करप्रसारः साहस्र आनन्द उतैष एव।
अन्यात्मघातेन विवर्तमानश्चिदित्थमेतत्त्रिवृदेव सर्वम् ॥५४॥

दूसरा मत है कि सच्चिदानन्द का संस्थाक्रम सत्ता, आनन्द, चित्–इस प्रकार से नहीं है, अपि तु, 'आनन्द, चेतना, सत्'–इस प्रकार से है। ब्रह्म–सतानन्दचित्स्वरूप नहीं है अपि तु, आनन्दचित्सत्-स्वरूप है। यह आत्मा अर्चिस्वरूप है। जैसे सूर्य्य के प्रकाशमण्डल के बीच में बैठा हुआ सूर्य्य बिम्ब उस प्रकाश का आत्मा है–यदि बिम्ब न हो तो प्रकाश निकले ही कहाँ से? एवमेव यह आत्मा अर्चिस्वरूप है–बिम्बस्वरूप है एवं सूर्य्यबिम्बवत् यह अपनी महिमा के केन्द्र में रहता है। नभ्यपिण्ड का नाम ही आत्मा है–'अर्चिवदात्मा–बस, इस आत्मा से उत्पन्न होने वाले अतएव इससे अभिन्न आनन्द-विज्ञान और सत्ता–ये तीन भाव और समझने चाहिएँ। अर्चिस्वरूप-सूर्य्यबिम्बस्वरूप इस आत्मा से चारों ओर निकलने वाली जो इस आत्मा की रश्मियाँ हैं–वही 'आनन्द' कहलाता है। करप्रसारस्वरूप जो साहस्रमण्डल है–उसी का नाम आनन्द है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"परितोऽस्य रश्मिस्त्वानन्दः"।

यह आनन्द–यह रश्मिसमष्टि जिसमें (अन्य पदार्थ में) जा कर के आहत होता है–उसके साथ टकराता है–टकराते ही वहाँ से वह प्रतिफलित हो जाता है। बस, प्रतिफलित (परावर्त्तित) जो आनन्द रश्मियाँ हैं–उन्हीं का नाम चित् है एवं जो आघात करने वाला पदार्थ है–उसी का नाम सत् है अन्य आत्मा का जो आनन्द है–वह इस प्रत्याहत होने वाले आत्मा का सत् कहलाता है। नाम, रूप, कर्म्म का नाम ही सत् है। सत् नाम है–अस्ति का। घट-पट-मठ-हाथी-घोड़ा इत्यादि पदार्थ ही तो 'सत्' कहलाते हैं। 'अस्ति' शब्द इन्हीं का तो निर्वचन करता है। घट-पट इत्यादि पदार्थों में–चूंकि नामरूपकर्म्म के अलावा और कुछ नहीं है, अतएव इन नामरूपकर्म्म समष्टि को हम अवश्य ही सत् कहते हैं।

कल्पना कर लीजिए–सामने घोड़ा खड़ा हुआ है। आप उसे देख रहे हैं। आपका जो आत्मा है–वह तो अर्चिस्वरूप है एवं जो आत्मरश्मियाँ बाहर जाती हैं, उन्हीं का नाम आनन्द है। वे हमारी आनन्द आत्मरश्मियाँ अश्व पर जाके टकराती हैं–वहाँ जाकर वे अश्वाकाराकारित बन जाती हैं। बस,

अश्वाकाराकारित बनकर जब वे रश्मियाँ प्रतिफलित होकर वापस लौटती हैं तो चयनात् प्रतिफलित रश्मियाँ चित् कहलाती हैं एवं रश्मियों में बैठा हुआ जो–नामरूपकर्म्मात्मिक घोड़ा बैठा हुआ है, उसी का नाम 'सत्' है । अस्ति का नाम ही तो 'सत्' है । हमारे ज्ञान में जो घोड़ा बैठा है–उसी का नाम तो 'है' है । यह घोड़ा–इस आत्मा की चीज नहीं है । घोड़े की जो आत्मरश्मियाँ हैं अर्थात् घोड़े का जो आनन्द है–वही हमारी आत्मा का 'सत्' बना हुआ है । आनन्द, विज्ञान, सत्ता–इन तीनों में से आनन्द-विज्ञान हमारी आत्मा की वस्तु हैं एवं सत् भाग अन्य आत्मा का है । अश्वानन्द हमारा सत् बना हुआ है ।

तात्पर्य्य यही है कि अर्चिवत् नभ्यपिण्ड का नाम आत्मा है । करप्रसार का नाम आनन्द है एवं प्रतिफलित परावर्तित रश्मि का नाम चित् है एवं जो आघात करती हैं–वे रश्मियाँ सत् हैं । वह सत् भाग अन्य आत्मा है । अश्वानन्द हमारा सत् बना हुआ है । इस मत में सत्ता, आनन्द, चित्–यह क्रम नहीं है–अपि तु, आनन्द-चित्-सत् यह क्रम है, अतएव गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"अर्चिर्वदात्मा, परितोऽस्य रश्मिस्त्वानन्द आहन्यत एष यस्मिन् ।
ततः परावर्तितदीधितिश्चित् तत्सद् यदाहन्ति स चान्य आत्मा ॥५५॥

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

आत्मा से चारों ओर निकलने वाली जो आत्मरश्मियाँ हैं–उन्हीं का नाम आनन्द बतलाया गया है । चूँकि यह आत्मा बाहर तक पसरता है–बडी दूर तक फैलता है, अतएव प्रसारण के कारण ही अपने से बाहर स्थित जो घट-पट-अश्व-गज इत्यादि इत्यादि अर्थजात हैं–उनका अपने आत्मा में चिनाव करता रहता है । हमारी आत्मरश्मियाँ बाहर जाकर घट-पटादि पदार्थों का आत्मा में चिनाव करती रहती हैं, अतएव ये रश्मियाँ–यह परावर्त्तित आनन्द–उस चिनाव करने के कारण 'चित्' कहलाने लगता है एवं जिसका चिनाव होता है–वह घट-पटादि 'सत्' कहलाते हैं । अन्य आत्मा अर्थात् अन्य पदार्थ का आनन्द हमारे आत्मा का सत् भाग बन जाता है । अन्य का आनन्द हमारी सत्ता बन जाती है–यही तात्पर्य्य है । इस प्रकार बाहर के पदार्थों का संचय कर कर के यह हमारा आत्मा अखिलशक्तिसंचयस्वरूप बन जाता है । तात्पर्य्य यह है कि अंशु का नाम आनन्द है । वही पदार्थों का–घट-पटादि का आत्मा पर परावर्त्तित होकर चिनाव करता है, अतएव वह चित् कहलाने लगता है एवं आगन्तुक घट-पटादि जो कि अन्य की आत्मा है–वह 'सत्' भाग कहलाता है । इस प्रकार अर्थात् सत्ता को अपने पेट में रख कर यह आत्मा अखिलशक्ति का समूह बन जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"आनन्द उक्तोंऽशुरयं प्रसारणाद् बहिःसतोऽर्थांश्चिनुते स आत्मनि ।
तस्मात्परावर्तितएष चिद्भवेत् सन्नन्य आत्माखिलशक्तिसंचयः ॥५६॥

तीसरा मत है कि अर्चि से अलग आनन्द-विज्ञान-सत्ता नहीं, अपि तु, अर्चि का नाम आनन्द है–किरण का नाम विज्ञान है–प्रतिफलितशक्ति का नाम सत्ता है। सत् भाग अन्य आत्मा है–यह बात एकान्ततः अशुद्ध है। यदि सत् भाग अन्य आत्मा का होता तो आत्मा को सच्चिदानन्दस्वरूप कैसे बतलाया जा सकता था। सत्ता भाग आत्मा की अपनी चीज है न कि अन्य का आनन्द इस आत्मा का सत् भाग बना हुआ है।

तत् सत् यदाहुन्ति स चान्य आत्मा–सत्ता के लिए यह कहना–उसे अन्य आत्मा बतलाना नितान्त अशुद्ध है।

जो नभ्यपिण्ड है–केन्द्रस्थ ज्ञानकन्दल है–उसी का नाम आनन्द है। केन्द्र में रहता हुआ यह तत्त्व अक्षित रूप से बाहर फैलता है, अतएव इसे 'आनन्द' नाम से व्यवहृत किया जाता है। इसका स्फीत आनन्द मूलोपनिषदन्तर्गत–**आनन्द निरुक्तिः**–प्रकरण में देखना चाहिए एवं इससे बाहर चारों ओर निकलने वाली जो रश्मियाँ हैं–उन्हीं का नाम 'चित्' है। चूंकि केन्द्रस्थ आनन्द चयनरूप से चिनाव-क्रियाक्रान्त होता हुआ–बडी दूर तक चारों ओर फैलता है, अतएव–**चीयते यत्**–इस व्युत्पत्ति से इसे 'चित्' कहा जाता है। अक्षर द्वारा आनन्द पर चिनाव होता है। अपने आप ही का चिनाव होता है–अतएव इसे 'चित्' कहते हैं। बस, यह चित् ही अर्थात् ज्ञानरश्मियाँ ही घटपटादि से संस्पृश्य होकर तदाकाराकारित होती हुई–वैसा ही आकार बना लेती हैं। ज्ञानरश्मियाँ पदार्थ से युक्त हों–तदाकाराकारित हो जाती हैं। तदाकाराकारित होने वाली इस चित् को ही 'सत्' शब्द से कहा करते हैं। यह सत् आत्मा की अपनी वस्तु है। यदि घड़े का अंश ही सत् बनता तो १० हजार आदमियों के देखने पर अंश-अंश के हिसाब से क्षीण होता हुआ वह घड़ा एक सेकण्ड में गायब हो जाता। परन्तु दो लाख आदमी भी एक कालावच्छेदेनैव यदि घट को देखते हैं तब भी घड़ा वैसे का वैसे ही रहता है, अतएव मानना पड़ता है कि उसका अंश हमारे पास मुतलक नहीं आता। हमारा ज्ञान ही सत्ता बना हुआ है। चूंकि यह आत्मा के अपने हिस्से से बना हुआ है, अतएव इस सत् अंश को सत्ता भाग की आत्मा का अन्तर्जगत् कहा जाता है। चित् ही सत्ता बन जाता है। हम जो कुछ देखते हैं–वह हमारे अन्तर्जगत् की चीज है–हमारे ज्ञान से बनी हुई है–इत्यादि बातों का विस्तृत विवेचन–हम इसी ग्रन्थ के अन्त में **अन्तर्जगत् बहिर्जगत्**–प्रकरण में बतलाने वाले हैं। यहाँ कहना हमें केवल यही है कि केन्द्रपिण्ड आत्मा है–वही आनन्द है एवं आत्मरश्मियाँ चित् हैं एवं विषयाकाराकारित चित् ही 'सत्' कहलाती है एवं इसी सत् भाग को 'अन्तर्जगत्' नाम से भी व्यवहृत किया करते हैं। आत्मा उक्थ है–किरणें अर्क हैं एवं ज्ञानाकाराकारित विषय अशिति है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आनन्द आत्मा, परितोऽशवश्चिच्चिदेव संस्पृश्य परं तथावत्।
रूपं दधातीति सदाहुरेतत् तदाहुरन्तर्जगदात्मनोऽस्य ।।५७।।

इस प्रकार आनन्द, सत्ता, चेतना स्वरूप ब्रह्म में तीन मत प्रचलित हैं। तीनों ही मत रहें–इसमें हमारा कुछ नहीं बिगड़ता। चूंकि तीनों ही तादात्म्यापन्न हैं, अतएव तादात्म्यापन्न इन तीनों का

तीनों तरह से दर्शन हो सकता है। सत्ता, आनन्द, चेतना–तीनों में से चाहे जिसको पहले बतला सकते हो–चाहे जिसको बाद में। इसमें कुछ भी विरोध नहीं आता है। इलायची के तीन पुड़त हैं। तीनों में चाहे जिसको पहले बतलाया जा सकता है। कान, नाक, हाथ, पैर इत्यादि अवयव हमारे शरीर के साथ तादात्म्यापन्न हैं, अतएव हम हाथ से भी अवयवों की गणना कर सकते हैं–पैर से भी कर सकते हैं। मर्जी में आए जिसे पहला स्थान दे सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है।

नारद जी का अष्टकमलचक्र है। इसमें आठों पत्ते आठवें हैं। सब पहले हैं–सब दूसरे हैं–सब तीसरे हैं–सब-सब हैं। बस, इसी प्रकार तादात्म्यापन्न सच्चिदानन्द के विषय में सब तरह के भाव बतलाए जा सकते हैं। तीनों मत सच्चे हैं।

सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीनों का भेद मानो अर्थात् सत्ता-अंश अन्य आत्मा का मानो अथवा अभेद मानो चाहे कुछ मानो–सच्चिदानन्दत्व का बाध हर्गिज नहीं हो सकता है। आत्मा सच्चिदानन्दमय है–यह बात सत्तांश को अन्यात्मा का मानने पर भी ज्यों की त्यों ही बनी रहती है एवं अभेद मानने पर भी सच्चिदानन्दार्थ का बाध नहीं हो सकता है। कारण इसका यही है कि सच्चिदानन्दस्वरूप उस अखण्डात्मा में ये नाना खण्ड मान लिए गए हैं। अखण्ड की खण्ड कल्पना कर ली गई है। एक मिट्टी के दो हजार घड़े बना डालिए–मिट्टी-मिट्टी एक ही है। घड़े का और मिट्टी का भेद मानो तो भी 'मिट्टी' अर्थ का बाध नहीं हो सकता तथा अभेद मानो तो भी बाध नहीं हो सकता। हर हालत में है मिट्टी ही। एवमेव उस अखण्डात्मा में क्लृप्त जो सच्चिदानन्दभेद है उन्हें अभिन्न मानिए चाहे भिन्न मानिए–है–यही आत्मा। सिवाय उसके और कोई चीज नहीं हो सकती। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"इत्थं मतानि त्रिविधानि सन्तु त्रेधापि तादात्म्यवशादमीषाम्।
भेदोऽप्यभेदोपि न बाध्यतेऽर्थः क्लृप्ता ह्यखण्डात्मनि सन्ति खण्डाः" ॥५८॥

सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि यह आत्मा सच्चिदानन्दभेदेन 'त्रिवृत्' है। यह आत्मा छोटे में बैठा हुआ है एवं वह छोटा बडे में बैठा हुआ है एवं वह बडा उससे भी बडे में बैठा हुआ है। आत्मा मिट्टी के परमाणुओं में बैठा हुआ है एवं परमाणु सहित आत्मा मिट्टी में बैठा हुआ है एवं मृत्तिका सहित आत्मा द्रव्यत्व के पेट में बैठा हुआ है। द्रव्यात्मा पदार्थत्व में बैठा हुआ है। इस प्रकार छोटा आत्मा बडे आत्मा में–वह उससे बडे में–वह उससे भी बडे में–इस प्रकार बढाते चले जाइए–अन्त में बाकी आत्मा ही बच जाएगा। उसमें वह, उसमें वह–इस क्रम से कहीं ऐसे आत्मा पर जाके अवश्य ही विश्राम मानना पड़ेगा जिससे कि बडा और कोई नहीं हो। बस, वह एक ही तो आत्मा है। आत्मा ही आत्मा तो सब कुछ है। आत्मा से अलावा जगत् बचा ही क्या चीज? जगत् भी तो–इस चक्र में पड़कर आत्मा ही बन जाता है। इसीलिए तो–**ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**[1]–**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**[2]–**नेह नानास्ति**

---

१ छान्दोग्योप० ६।८।७। २ छान्दोग्योप० ३।१४।१।

किञ्चन[1]–आत्मैवेदं सर्वम्[2]–यह कहा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि जितने भी आत्मा हैं–वे प्रत्येक त्रिवृद्भाव से आक्रान्त हैं। अर्थात् व्यष्टिस्वरूप में परिणत सारे आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप ही हैं एवं अणु-महान् भेद से उत्तरोत्तर एक-एक के पेट में भुक्त है। बस, अन्तिम आत्मा है–वही सब कुछ है। आत्मा के अलावा जगत् कोई वस्तु नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एकैक इत्थं त्रिवृदेष आत्मा सोऽणुर्महत्स्थः स पुनर्महत्स्थः।
आत्माऽऽत्मनीत्येवमशेष एषोस्त्यात्मैव नान्यज्जगदस्ति किञ्चित्" ॥५६॥

आनन्द-विज्ञान-सत्ता–यही आत्मा का असली स्वरूप है। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप ही है। इन तीनों में जो आनन्द और विज्ञान है–वही इस सत्तास्वरूप आत्मा के अन्तरङ्गभाव हैं। विना आनन्द-विज्ञान युग (जोड़े के) के आत्मा कहीं 'सत्' नहीं कहला सकता है। अस्ति–इस व्यवहार के प्रधान सञ्चालक आनन्द और विज्ञान ही हैं। जब तक आनन्द आता रहता है–आत्मानन्दकलाएँ तभी तक बढती रहती हैं। इसी कलावृद्धि से जिन्दगी रहती है। जिन्दगी का नाम ही तो सत् है। जीवन ही को तो 'अस्तित्व' कहते हैं। यदि आनन्द न हो तो आत्मा एक क्षणभर में गायबगुला हो जाए। उसके अस्तित्व का कहीं पता ही न रहे। अपि च–कोरा आनन्द ही अस्ति का कारण नहीं है अपि तु, ज्ञान भी कारण है। आनन्द भी खूब मिलता है–परन्तु यदि ज्ञान नहीं है–अनुभव नहीं है तो आनन्द है ही नहीं। ज्ञान में आनन्द है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि आनन्द और ज्ञान ही आत्मास्तित्व के अन्तरङ्ग अङ्ग हैं। इन दोनों के विना आत्मा सत् नहीं कहला सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"आनन्दविज्ञानयुगं सतोऽस्यात्मनोऽन्तरङ्गं न विना ततः सन्।
अथास्य साहस्रमताः समस्ता अङ्गानि बाह्यानि भवन्ति सन्तः" ॥६०॥

यह आत्मा दो प्रकार से व्यवहृत किया जा सकता है। हाथ, पैर, नाक, कान–इत्यादि अङ्गोपहित जो अङ्गी है–अङ्गो को छोडकर जो शुद्ध अङ्गी है–वह भी आत्मा कहलाता है एवं सर्वाङ्ग-विशिष्टस्वरूप जो अङ्गी है–वह भी आत्मा ही कहलाता है। सामान्य मनुष्य अङ्ग और अङ्गी इनमें भेद समझते हैं–यही तात्पर्य्य है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि इस प्रकार से अङ्गोपहित अङ्गी-सर्वाङ्ग-विशिष्ट अङ्गी–इन दो प्रकार की लौकिकदृष्टिभेद से विश्व और आत्मा–ये दो व्यवहार होने लगते हैं। यह विश्व आत्मा ही है अथवा आत्मज है–दोनों ही व्यवहार हो सकते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आत्मा द्विधाऽङ्गोपहितोस्ति योऽङ्गी योऽङ्गी च सर्वाङ्गविशिष्टरूपः।
इत्थं द्विधा लौकिकदृष्टिभेदाद्विश्वं स आत्मैव तदात्मजं वा ॥६१॥

---

१ कठोप० २।४।१०। २ छान्दोग्योप० ७।२५।२।

यह आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है एवं जगत् सच्चिदानन्दमय है। आत्मा ही विश्व है-जगत् ही आत्मा है। आत्मा अनेक हैं अथवा एक ही है-यह सब कुछ कह सकते हैं। सृष्टिक्रम में आत्मा ही नानारूप में परिणत होता हुआ विश्व कहलाने लगता है एवं प्रतिसंचरक्रम में विश्व एकभाव में परिणत होकर अपने स्वरूप में आता हुआ आत्मा कहलाने लगता है। **ब्रह्मं वेदं सर्वम्**[1]-यह श्रुति सृष्टि-क्रम को बतलाती है एवं **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**[2]-यह संहारक्रम को बतलाती है। कुछ भी कहो-ब्रह्म के अलावा और कुछ भी नहीं है। जगत् किंवा आत्मा दोनों ही सच्चिदानन्द की लाइन से बाहर नहीं जा सकते। सच्चिदानन्द के अलावा और कुछ नहीं है-यही तात्पर्य्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स सच्चिदानन्दमयोऽयमात्मा तत्सच्चिदानन्दमयं जगद्वा।
आत्मैव विश्वं जगदेव वात्मा नानात्मभेदा अथवैक आत्मा" ॥६२॥

१४-कर्मणः सत्तायामन्तर्भावः।

कर्म्म का सत्ता में अन्तर्भाव—

बार-बार सत्ता-चेतना-आनन्द, सत्ता-चेतना-आनन्द ही की गाथा गाने से शायद आप उक्ता गए होंगे-परन्तु करें क्या? विवश हैं। सत्ता, चेतना, आनन्द के सिवाय चौथी चीज हो तभी तो उसका जिक्र किया जाए। जब कि तीन के अलावा कोई चौथी चीज ही नहीं है। ईश्वर-जगत् और जीव-तीनों ही सच्चिदानन्दस्वरूप हैं तो फिर इनके अलावा किसकी गाथा गाई जाए? सत्ता, ज्ञान अर्थात् बोध एवं आनन्द-तीन ही में सारा प्रपञ्च डूबा हुआ है-उसी प्रपञ्च को 'कर्म्म' शब्द से कहा जाता है। कर्म्म सच्चिदानन्द आभु पर नानाभावेन क्रीड़ा किया करता है।

सत्ता सामान्यविशेषभाव के कारण अनन्त प्रकार की हो जाती है। संसार में जितने पदार्थ हैं-उन सब की सत्ता पृथक्-पृथक् है। घट-पट-पुस्तक-घर-टेबिल-बाग-पर्वत-नदी-सरोवर-समुद्र इत्यादि इत्यादि सारे पदार्थ 'है'-इस अस्तित्व के-सत्ता के आधार पर अवलम्बित हैं। सारे पदार्थ 'है' हैं। चूंकि सत्ता भिन्न-भिन्न हैं-अतएव उनका ज्ञान भी भिन्न-भिन्न ही है। घड़े की सत्ता वस्त्र सत्ता से चूंकि पृथक् है, अतएव घट का ज्ञान भी वस्त्रज्ञान से भिन्न ही है। सत्ता के पृथक्त्व से वह बोध अर्थात् ज्ञान भी पृथक् हो जाता है। जैसे सत्ता ज्ञान के पृथक्त्व की हेतुभूता है तद्वत् बोध और आनन्द अर्थात् रस भी सत्ता पृथक्त्व का कारण है। ज्ञानभेदात् सत्ताभेद हो जाता है। ज्ञान रस का ही होता है। रस ही को कहते हैं आनन्द अतएव रसभेदात् सत्ता पृथक्त्व हो जाता है-यह भी अवश्य ही कह सकते हैं। ज्ञान रस का ही होता है। रस ही को कहते हैं-आनन्द अतएव रसभेदात् सत्ता पृथक्त्व हो जाता है-

१ नृसिंहोत्तर० उप० ७। २ छान्दोग्योप० ३।१४।१।

यह भी अवश्य ही कह सकते हैं। घट का ज्ञान पटज्ञान से भिन्न है, अतएव ज्ञानभेदात्–घट की सत्ता पटसत्ता से पृथक् हो जाती है। एवमेव घटरस पटरस से भिन्न है, अतएव रसभेदात् घटसत्ता पटसत्ता से पृथक् हो जाती है। कहना यही है कि सत्तापृथक्त्वेन बोध भिन्न है एवं बोध और आनन्दपृथक्त्वेन सत्ता पृथक् है। बोध के भिन्नत्व का कारण सत्ता है। सत्ता के भिन्नत्व के कारण बोध और आनन्द हैं।

यदि सत्ता के विशेषभावों को तिरोहित कर दिया जाता है–घड़ा है–कपड़ा है–मकान है–सूर्य्य है–परमेष्ठी है–स्वयम्भू है–इत्यादि वाक्यों में यदि घट-पट-मकान-सूर्य्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू आदि विशेष भावों को निकाल दिया जाता है तो केवल 'है' एकमात्र बच जाता है। इसी परमसत्ता को सामान्यसत्ता कहा जाता है। यह सत्ता एकस्वरूपा है। विशेषों को हटाने पर एक रूपा 'परमसत्ता' बच जाती है। बस, यदि इस एकरूपा सामान्यसत्ता के लिहाज से 'आनन्द और बोध' का अर्थात् ज्ञान का विचार किया जाता है तो यह आनन्द और बोध भी पूर्ण ही–एवं एकरूप ही मिलेंगे। सत्ता पृथक्त्व से बोध और आनन्द का भेद होता है। यदि सत्ता पूर्णा है–एकरूपा है तो आनन्द भी पूर्ण ही है एवं ज्ञान भी पूर्ण ही है अर्थात् व्यापक ही है। सत्ता व्यापकत्वेन तीनों व्यापक हैं। सारे विशेषों को छोड दिया जाता है तो–सत्ता-ज्ञान-आनन्द–इन तीनों की ससीमता टूट जाती है। तीनों असीम हो जाते हैं–व्यापक हो जाते हैं–पूर्ण हो जाते हैं। घट-पटादिकर्म्म ही–मृत्यु ही–इन अपरिच्छिन्न भावों को परिच्छिन्न बना डालती है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि सत्तापृथक्त्वेन ही बोध भिन्न होता है एवं बोध और आनन्द सत्ता के भिन्नता में कारण हैं। यदि सत्ता एक हो जाती है–पूर्ण हो जाती है तो उसके साथ रहने वाला बोध एवं आनन्द भी पूर्ण ही हो जाता है। दोनों ही ससीम भाव को छोड देते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सत्तापृथक्त्वेन पृथक् स बोधो बोधस्तथानन्दपृथक्त्वहेतुः।
पूर्णा तु सत्ता यदि चैकरूपाऽस्त्यानन्दपूर्णः स हि बोधपूर्णः" ॥६३॥

अमृत और मृत्यु–ये दो ही विश्व के मूल हैं। आभु और अभ्व ही विश्व के आदि कारण हैं–जिनका कि विस्तृत विवेचन–**मूलोपनिषत्**–नाम के प्रथम पर्व में कर दिया गया है। आभु अमृततत्त्व है, अभ्व मृत्युतत्त्व है। आभु को ही रस कहते हैं–अभ्व को ही बल कहते हैं। आभु ब्रह्म नाम से पुकारा जाता है–अभ्व कर्म्म नाम से पुकारा जाता है। ब्रह्म एक दम शान्त है–कर्म्म एकदम अशान्त है। ब्रह्म क्षोभ से कोसों दूर है, कर्म्म क्षोभ का जनक है–क्षोभमय है। सृष्टि में परिणत जो बलभाग है–मृत्युभाग है, वह कर्म्म ही क्षोभ पैदा करता है। शान्तरस को–व्यापकरस को खण्ड-खण्ड में–नाना भाव में परिणत करने वाला यही क्षोभात्मक कर्म्म है। है–है–यह अस्त्यात्मक सत्ता एक है–व्यापक है–असीम है, परन्तु घट-पट-मठ-पर्वत इत्यादि कर्म्म प्रपञ्चों के कारण एक ही 'है' अनन्त स्थानों में बँट जाता है। घट का 'है' पट के 'है' से अलग है, पट का 'है' मठ के 'है' से पृथक् है। एकसत्ताक्षोभात्मक कर्म्म के कारण अनन्तानन्त विशेष भाव उत्पन्न हो जाते हैं। क्षोभात्मक कर्म्म ही से घट-पटादिविशेष उत्पन्न होते हैं। एक सत्ता–एक ही ज्ञान–एक ही आनन्द इन कर्म्मों से ही अनेकवत् प्रतिभासित होने लगते हैं। अनेकत्व

की प्रतीति केवल इस क्षोभात्मक कर्म्म की कृपा से ही होती है। आत्मा अर्थात् रस अकर्म्मस्वरूप है। वह कर्म्म में ओतप्रोत रहता हुआ भी वास्तव में स्वस्वरूप से अविशिष्ट ही है। पानी में पड़ा हुआ सूर्य्य प्रतिबिम्ब अनवरत पानी में रहता हुआ भी बेलाग है। पानी सड़ जाता है, प्रतिबिम्ब का कुछ नहीं बिगड़ता। प्रतिबिम्ब पर खूब तलवारें चलावें, नहीं कटने का। इसी आत्मा के अविशिष्ट भाव को–असंगता को बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" ॥[1]

कहने का तात्पर्य्य यही है कि जहाँ जिस विश्व में कर्म्मप्रपञ्च व्याप्त हो रहा है-कर्म्मों ने अपना राज्य कायम कर रक्खा है-आत्मा तो उस समय भी कर्म्म से बेलाग है-अकर्म्म है। काच पर रात-दिन नये-नये फोटू नाचते रहते हैं, परन्तु काच उन फोटूओं से बेलाग है। उसी प्रकार रात-दिन कर्म्म प्रपञ्च में रहता हुआ भी यह आत्मा सर्वथा कर्म्माऽलिप्त है, अतएव हम इसे 'अकर्म्म' कहते हैं। कर्म्म ही विशेष के–ससीमता के जनक हैं। विशिष्टभाव को पैदा करने वाला कर्म्मप्रपञ्च ही है। जब कि आत्मा कर्म्म से भिड़ने ही नहीं पाता तो फिर वह कैसे विशिष्ट हो सकता है। अपने रूप से–स्वस्वरूप से आत्मा सर्वथा अविशिष्ट है। चूंकि विशिष्ट ही में अपूर्णता आती है। चूंकि आत्मा अविशिष्ट है, अतएव हम रातदिन कर्म्म में ओतप्रोत रहने वाले भी इस आत्मा को पूर्ण कहने के लिए तय्यार हैं। कर्म्मप्रपञ्च से बाहर का रस अर्थात् विश्वातीत रस जैसे पूर्ण है–तद्वत्–कर्म्मप्रपञ्च में लीन–विश्वस्वरूप में परिणत रस भी जिसे कि विश्वापेक्षया 'आत्मा' नाम से व्यवहृत किया जाता है–पूर्ण है। वह भी पूर्ण है–यह भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकले तब भी पूर्ण के पूर्णत्व को लेने के बाद पूर्ण ही बाकी बच जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥[2]

तात्पर्य्य कहने का यही है कि रात-दिन कर्म्म में रहने पर भी आत्मा सूर्य्य प्रतिबिम्बवत् अकर्म्म ही है–अविशिष्ट ही है, अतएव आत्मा के व्यापकत्व में कोई बाधा नहीं आती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

१ गीता २।२३-२४।   २ ईशोपास्योप० मंगलपाठ।

"क्षोभात्मकं कर्म्म ततो विशेषा एकं त्वनेकं प्रतिभाति तेभ्यः ।।
कर्माणि यत्रैतदकर्म चात्मा स्वेनाविशिष्टस्तत एष पूर्णः" ।।६४।।

आभु और अभ्व–ये दो आदिकारण हैं। इनमें से जो अभ्व है–वही 'बल' कहलाता है। यह बल 'मूल-तूल' भेदेन दो प्रकार का है। जो बल विश्वातीत है- सृष्टयतिरिक्त है–वह एकस्वरूप है–उन्मुग्ध है। बस, यही बल मूलबल कहलाता है। विश्व में उद्‌बुद्धरूप में परिणत क्रियात्मक जो क्षणिक बल है–उसका यह मूलबल ही आत्मा है। इसी मूलबल के आधार पर विश्वबल अर्थात् तूलबल टिका हुआ है। कारण के आधार से कार्य्य ने अपनी स्थिति कायम कर रक्खी है। बस, इस मूलबल से ही जो कि रसेनाविनाभूत है–सारा विश्वप्रपञ्च उत्पन्न होता है।

बल का जितना अंश सृष्टि में परिणत हो जाता है–वही सब 'तूल' नाम से व्यवहृत होता है। यही तूलबल नाना-भाव का जनक है। विशेषों का पितामह है। सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीनों के स्फोटनकर्म्म से ही–जिस स्फोटन का–विकास का कारण–वही मूलबल है, क्रमशः सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। जगदुत्पत्ति का कारण–इन तीनों अव्याकृततत्त्वों की व्याकृतिमात्र है। तात्पर्य्य यही है कि बल 'मूलतूल' भेदेन दो प्रकार का है–जैसाकि सच्चिदानन्दखण्डः के तीसरे सूत्र में विस्तृतरूपेण बतला दिया गया है। बल की जो उन्मुग्धावस्था है–जिसे कि सुषुप्ति-अवस्था भी कह सकते हैं–बस, वही बल मूलबल कहलाता है एवं बल का जो अंश उद्‌बुद्ध होकर विश्वस्वरूप में परिणत हो जाता है–उसी बल को 'तूल' कहते हैं। इन दोनों में भेद डालने के लिए मूलबल को 'बल' कहा जाता है एवं तूल बल को बल न कहकर 'क्रिया' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इस क्रियाबल का आधार एकस्वरूप वही मूलबल है। उसी से सारा विश्व बनता है। बल विना रस के नहीं रहता–यह अटल सिद्धान्त है। ऐसी हालत में जो सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीनों का अव्याकृत आभु नाम का स्वरूप था–जो कि सर्वथा उन्मुग्ध था–एकान्ततः अस्फुट था–उसे भी स्फुट होकर–उस बल के साथ विश्व में आना पड़ता है। अव्याकृत को व्याकृतरूप धारण करना पड़ता है। वास्तव में देखा जाए तो जगत् का उत्पादक बल को न कहकर इनके स्फोटनकर्म्म को ही कहें। बल तो मृत्युधर्म्मा है। विना अमृत के वह कर ही क्या सकता है ? सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीनों के स्फोटनकर्म्म से ही–व्याकृति से ही क्रमशः यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बलं यदुन्मुग्धमिहैकरूपं मूलं तदात्मा तत एव सर्वम् ।
जगद् बभूव क्रमशस्त्रयाणां तेषां पृथक् स्फोटनकर्म्मणैव" ।।६५।।

सारांश यही है कि जब तक–सत्ता, चेतना, आनन्द–तीनों पृथक् नहीं रहते हैं–अपि तु, एकरूप रहते हैं–तब तक विश्वोत्पत्ति नहीं हो सकती है। नाना-भाव का नाम विश्व है। बस, इन तीनों को जो कर्म्म पृथक् करके इनके उन्मुग्धभाव को तोड़ देता है- ऐसा कर्म्म स्फोटनकर्म्म है। अर्थात् मायादि-बल ही जगत् के उत्पादक हैं। मायादि के कारण ही उस अव्याकृत को व्याकृत होना पड़ता है। एक को नाना-भाव में परिणत होना पड़ता है ।।६५।।

सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीनों से पृथक् एक कर्म्म और माना जाता है–जिसे कि 'बल' कहा जाता है। इस चौथे भाव के असली मर्म को न समझकर कितने ही महानुभाव आक्षेप कर बैठते हैं कि आपने तो सत्ता, चेतना, आनन्द–इन तीनों के अलावा चौथे के सर्वथा अभाव की ही भीष्म प्रतिज्ञा की थी–फिर यह चौथा कहाँ से निकल आया ? बस, आगे के प्रकरण से हम इसी सन्देह को निवृत्त करेंगे।

हमने बतलाया है कि वह कर्म्म अर्थात् वह बल 'मूल-तूल' भेदेन दो प्रकार है। मूल को बल कहते हैं–तूल को क्रिया कहते हैं। इनमें से जो तूलबल है–उसी को 'शक्ति' शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है। तूलबल एक प्रकार की शक्तियाँ ही हैं। बस, इन संकलित शक्तियों का अर्थात् क्रिया की समष्टि का नाम ही सत्ता है। बल को क्रिया कहते हैं–क्रिया की समष्टि का नाम ही सत्ता है–जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में बतलाया जा चुका है। ऐसी अवस्था में कर्म्म सत्ता से पृथक् क्योंकर हो सकता है ? बल का नाम क्रिया है। क्रिया का नाम सत्ता है। ऐसी हालत में 'सत्ता, चेतना, आनन्द'–इन तीन तत्त्वों से पृथक् कोई चौथी चीज ही नहीं–हमारी इसी भीष्म प्रतिज्ञा का विरोध कौन कर सकता है ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्कर्मरूपं तु विदुश्चतुर्थं बलानि तूलानि तु शक्तयस्ताः।
समुच्चिताः शक्तय एव सत्ता तस्मान्न तत्कर्म्म पृथक् पदार्थः॥६६॥

वह नित्यतत्त्व भी यदि वास्तव में देखा जाए, तो रसस्वरूप ही है–आनन्दस्वरूप ही है। सत्ता और आनन्द–ये दो तो उसकी अवस्थाविशेषमात्र हैं। एक जो रस है जिसे कि हम आनन्द कहेंगे–नाना-भाव में परिणत होकर भासित होने लगता है–जिसका कि कारण अन्तर्व्यवधान डालने वाली एक शक्ति विशेष है। वह अनिर्वचनीया महामाया ही–आदिशक्ति ही–व्यापक रस में व्यवधान डाल कर उस असीम को ससीम बना के उसे विशेष आकार में परिणत कर देती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एकं यदानन्दमयं स्वरूपं नानेति कृत्वा प्रतिभाति तत्र।
अन्तर्व्यवच्छेदकरी तु शक्तिर्विशेषमाकारमिहादधाति" ॥६७॥

१५–आनन्दविज्ञानसत्तानां कृष्णशुक्लद्वैविध्यम्।

आनन्द, विज्ञान, सत्ता–इनका कृष्णशुक्लभेदेन द्वैविध्य—

वैज्ञानिक महर्षियों ने विज्ञान, आनन्द एवं सत्ता–इनको दो-दो प्रकार का बतलाया है। उनका कहना है कि विज्ञान भी शुक्ल-कृष्ण भेदेन दो प्रकार का है, आनन्द भी दो प्रकार का है एवं यह सत्ता

भी दो ही प्रकार की है। इस प्रकार तीनों में से प्रत्येक को दो-दो प्रकार का बतलाया है। उन वैज्ञानिक महर्षियों का कहना है कि लौकिकमनुष्य-सामान्य मनुष्य जिस सत्ता-विज्ञान-आनन्द का अनुभव कर रहे हैं-वह इन तीनों का शुक्लरूप है। सांसारिक मनुष्यों को कृष्णरूप का दर्शन नहीं होता-वे इनके शुक्लरूप को ही देखते हैं-शुक्लत्व का ही अनुभव करते हैं। जो इन तीनों का नित्य अर्थात् अन्तर्निहित-अन्तर्निगूढ-कृष्णस्वरूप है-उसे ये हर्गिज नहीं देखते हैं। कृष्णरूप से इनका जरा भी ताल्लुक नहीं है। सांसारिक मनुष्य शुक्लरूप के उपासक हैं-न कि कृष्णरूप के। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विज्ञानमानन्द इयं च सत्ता प्रत्येकमेतद् द्विविधं निरुक्तम्।
पश्यन्ति लोका यदिदं तु शुक्लं निण्यं* न पश्यन्ति तदस्ति कृष्णम्" ॥६८॥

सत्ता, चेतना, आनन्द-इन तीनों में से सर्वप्रथम आनन्द के कृष्णशुक्लभेद का ही विवेचन करते हैं—

यह आनन्द शान्त और समृद्ध भेदेन दो प्रकार का है। रस को ही 'आनन्द' कहते हैं। तो बस, जो व्यापक रस है-असीम रस है-वही रस अर्थात् वही आनन्द 'शान्तानन्द' कहलाता है। व्यापक में क्षोभ नहीं हुआ करता। क्षोभ करने वाले बल हैं। व्यापक रस में चूंकि क्षोभात्मक बल सोये पड़े रहते हैं, अतएव उस एक रस को-असीम आनन्द को-'शान्तानन्द' कहने के लिए तय्यार हैं। परन्तु ठीक इसके विपरीत घटपटादिकर्म्मों के कारण-बलों के कारण जो रस भिन्नता में परिणत हो जाता है-वही रस समृद्धानन्द कहलाता है। विभिन्न विषयों से अपनी स्थिति कायम करने वाला जो रस है-वह चूंकि मित हो जाता है-ससीम हो जाता है, अतएव इस रस को-इस आनन्द को हम 'समृद्धानन्द' कहने के लिए तय्यार हैं।

तात्पर्य्य यही है कि विषयावच्छिन्न रस को मितत्वात् 'समृद्धानन्द' कहते हैं एवं विषयानवच्छिन्न रस को अमितत्वात् 'शान्तानन्द' कहते हैं। जो शान्तानन्द है-वही कृष्णानन्द है एवं जो समृद्धानन्द है-वही शुक्लानन्द है। जो व्यापक रस है-वही 'शान्तानन्द' नाम से व्यवहृत होता है एवं विभिन्न अर्थों से कृतात्माभिन्न रस मितत्वात्-समृद्धानन्द कहलाता है। स्त्री-पुत्र-धन-धान्य-इत्यादि इत्यादि के द्वारा जो आनन्द आता है-वही समृद्धानन्द कहलाता है। विषयों से जो आनन्द आता है-वही समृद्धानन्द है। विषय नाम है-बल का। बल विना रस के रहता ही नहीं। रस ही का नाम है आनन्द-तो बस, विषयों के साथ परिच्छिन्न जो रस है-वह इस मनुष्य में उछाल पैदा करता है एवं क्षण-भर बाद वह उछाल शान्त हो जाती है-इसीलिए इस आनन्द को 'क्षणिकानन्द' भी कहा करते हैं। विषयों से जो आनन्द आता है-वह क्षणिक है। आत्मा रसस्वरूप है। बल के साथ (विषय के साथ) आने वाले रस से आत्मा का रसभाग बढ जाता है, अतएव इस विषयानन्द को समृद्धानन्द कहते हैं।

---

* निण्यमिति वैदिकभाषाशब्दोऽन्तर्हितार्थः-द्रष्टव्य ओझा जी कृत संशयतदुच्छेदवाद पृष्ठ ७।

जो वस्तु दीखती है–उसे 'शुक्ल' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यदि अंधे मनुष्य के नेत्र-ज्योति किसी प्रकार से खुल जाती है तो सहसा वह कह उठता है–अहा ! उजाला हो गया–उजाला हो गया। कहने का तात्पर्य्य यही है कि अनुभव को उजाला कहते हैं। गुरु विद्यार्थी से पूछते हैं–कहो ! यह विषय तुम्हारी समझ में आया या नहीं। यदि विद्यार्थी उसे नहीं समझता है तो कह देता है–गुरु जी महाराज ! अभी तो अन्धकार मचा हुआ है। कुछ भी समझ में न आया। समझ में आने का नाम शुक्ल है। अनुभव का नाम सफेदी है, अननुभव का नाम कृष्णत्व है। पूर्वोक्त विषयानन्द का अनुभव होता है। आनन्द का ज्ञान होता है, अतएव हम इस विषयानन्द को–समृद्धानन्द को 'शुक्लानन्द' भी कह सकते हैं। दूसरा आनन्द है–शान्तानन्द। निर्विषयक जो आनन्द है–वही 'शान्तानन्द' कहलाता है। विषय क्रियासमष्टि का नाम है। क्षोभ पैदा करना इसी क्रिया का काम है। हलचल का नाम ही क्रिया है। हलचल को ही अशान्ति कहते हैं। जब विषय का सम्बन्ध ही नहीं तो क्षोभ कैसा ? क्षोभ ही नहीं तो अशान्ति कैसी ? बस, इसीलिए हम इस आनन्द को 'शान्तानन्द' कहने के लिए तय्यार हैं। रस स्व-स्वरूप से व्यापक है। विषयों के कारण ही यह परिच्छिन्न हो जाता है। जब सारे विषय अलग कर दिए जाते हैं तो रस उसी अपनी व्यापक हालत में आ जाता है। व्यापक का अनुभव नहीं हो सकता। हो कैसे ? जबकि वह स्वयं भी विज्ञाता ही है। विज्ञाता के अलावा और है ही क्या ? इसीलिए तो कहा जाता है—

"विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्" ।[1]

अनुभव किसका हो ? जबकि वह स्वयं अनुभवस्वरूप है। इसीलिए तो हम इस शान्तानन्द को 'कृष्ण' कहने के लिए तय्यार हैं। यह व्यापक सत्यकृष्ण ही संसार का निर्म्माण कर शुक्लरूप में आता है। सृष्टि का नाम शुक्ल है। सृष्टयभाव का नाम कृष्ण है। सृष्टि के पहले सिवाय व्यापक रस के और कुछ नहीं रहता। यह रस चूंकि है कृष्णस्वरूप, इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः" ।।[2]

कैसे यह व्यापक रस कृष्णस्वरूप है ? कैसे यह कृष्ण जगत्-स्वरूप में परिणत हो जाता है ? इसका विस्तृत विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्य' के आचार्य्यरहस्यान्तर्गत 'सत्यकृष्णरहस्य'-नाम के प्रकरण में देखना चाहिए। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि आनन्द, शान्त-समृद्ध भेदेन दो प्रकार का है निर्विषयक व्यापक रस शान्तानन्द कहलाता है–यही 'कृष्णानन्द' कहलाता है एवं सविषयक व्याप्यरस 'समृद्धानन्द' कहलाता है। यही अनुभूयमानत्वात् 'शुक्लानन्द' कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

---

१ बृहदा० उप० २।४।१४। २ मनुस्मृति १।५।

"आनन्द एष द्विविधोस्ति तावच्छान्तः समृद्धश्च, रसो य एकः ।
शान्तः स, यो भिन्नरसो विभिन्नैरर्थैः कृतात्मा स मितः समृद्धः" ।।६६।।

जैसे आनन्द शान्त-समृद्ध भेदेन दो प्रकार का है तद्वत् ज्ञान भी निर्विकल्पक-सविकल्पक भेदेन दो प्रकार का है। जो सविकल्पकज्ञान है-वह चार तरह का होता है। इस प्रकार ज्ञान कुल पाँच प्रकार का हो जाता है—

१-निर्विषयक-ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान)-विश्वातीत-शास्त्रानधिकृत (प्रविविक्त-ब्रह्म) ।

२-कर्म्मजनिर्गुणविद्या-ज्ञान (अव्ययानुगत) ।

३-कर्म्मजसगुणविद्या-ज्ञान (ईश्वरानुगत) ।

४-योगज-ज्ञान (अणिमामहिमादि योगजसिद्धि) ।

५-विषय-ज्ञान (घटपटादि सामान्यज्ञान) ।

इन ज्ञानों का विस्तृत विवेचन-**नारदपाञ्चरात्र**-नाम के ग्रन्थ में देखना चाहिए । यहाँ सिर्फ यही कहना है कि ज्ञान निर्विकल्पक और सविकल्पक भेदेन दो प्रकार का होता है। घटपटादि विषयकाराकारित अनुभवात्मक जो ज्ञान है-उसे 'सविकल्पक-ज्ञान' नाम से व्यवहृत करते हैं एवं विषयागृहीत अननुभवात्मक जो ज्ञान है-उसे निर्विकल्पक-ज्ञान कहते हैं। सकलपक-ज्ञान व्याप्य है-परिच्छिन्न है, अतएव उसका अनुभव होता है। चूंकि इसका अनुभव होता है, अतएव इस सविकल्पक-ज्ञान को हम 'शुक्लज्ञान' कहने के लिए तय्यार हैं एवं विषयरहित जो ज्ञान है-निर्विषयक जो ज्ञान है-वह अपरिच्छिन्न है-व्यापक है, अतएव उसका अनुभव नहीं हो सकता। बस, अननुभवत्वात् निर्विकल्पक-ज्ञान को हम 'कृष्णज्ञान' कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्यान्निर्विकल्पं सविकल्पमित्थं द्विधैव विज्ञानमिदं यदर्थैः ।
आकारितं तत् सविकल्पमाहुः स्यान्निर्विकल्पं विषयागृहीतम्" ।।७०।।

घड़ा है-वस्त्र है-पुस्तक है-घोड़ा है-हाथी है-पालकी है-मनुष्य है-इस प्रकार से घट-वस्त्र-पुस्तक-हाथी-पालकी-मनुष्य के आगे जो समानरूपेण एक है-ऐसा लग रहा है-बस, उस सामान्यभाव को अर्थात् 'है' ही को-सत्ता कहते हैं। 'अस्ति'-इस सामान्य-भाव का नाम ही सत्ता है। यह सत्ता सविशेष और निर्विशेष भेदेन दो प्रकार की है। घट, पट, मठ, पर्वत, सूर्य्य, चन्द्र-इत्यादि इत्यादि जितने भी पदार्थ हैं-उन सबमें अस्तित्व पृथक्त्वेन बढा हुआ है। घड़े का अस्तित्व पट के अस्तित्व से भिन्न है। पट का अस्तित्व घट-अस्तित्व से भिन्न है। यच्चयावत् पदार्थों का अस्तित्व पदार्थपृथक्त्वेन सर्वथा भिन्न है। बस, प्रत्यर्थं (प्रतिविषय) भिन्न जो सत्ता है-घटपटादि के साथ रहने वाला जो भिन्न-भिन्न

अस्तित्व है, इस अस्तित्व को 'विशेष' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। प्रत्यर्थभिन्ना सत्ता सविशेषका कहलाती है। परन्तु जो अन्तिमसामान्य है-वह निर्विशेष कहलाता है। घटत्व की अपेक्षा मृत्तिकात्व सामान्य है-मृत्तिकात्व की अपेक्षा पदार्थत्व सामान्य है। इस प्रकार उत्तरोत्तर बढते चले जाइए। जहाँ जाके इस सामान्य-भाव की अवधि समाप्त हो जाए-जिससे बडा फिर कोई सामान्य न हो-वही निर्विशेष कहलाता है। यदि इस सामान्य से बडा और भी सामान्य होता तो उसकी अपेक्षा-यह विशेष कहलाता, परन्तु चूँकि इससे बडा कोई नहीं है, अतएव इसे 'निर्विशेष' ही कहा जाता है। घट-पट ये ही विशेष हैं। इनके साथ रहने वाला जो अस्ति है-वह परिच्छिन्न है-ससीम है-अनुभव में आने वाला है, अतएव हम इस विशेषसत्ता को 'शुक्लसत्ता' कहने के लिए तय्यार हैं। परन्तु जब सारे विशेष अलग कर दिए जाते हैं तो व्याप्य परिच्छिन्न धर्म्मयुक्त विषयों के अलग हो जाने से सत्ता अपने असली व्यापकस्वरूप में आती है। इस व्यापक सत्ता का अनुभव नहीं होता, अतएव हम इसे 'कृष्णसत्ता' कहने के लिए तय्यार हैं।

तात्पर्य्य यही है कि घटपटादि में वर्त्तमान 'अस्ति'-इस सामान्यभाव को सत्ता कहते हैं। यह सत्ता निर्विशेष-सविशेष भेदेन दो प्रकार की है। प्रत्यर्थभिन्ना जो सत्ता है-वह सविशेषका है। अनुभवत्वेन इसे ही 'शुक्लसत्ता' कहा जाता है एवं जो अन्तिमसामान्य है-वही निर्विशेष नाम से व्यवहृत होता है। अननुभवत्वेन-यही निर्विशेषसत्ता 'कृष्णसत्ता' नाम से व्यवहृत होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सत्ता तु सामान्यमियं द्विधा स्याद् या निर्विशेषा सविशेषका या।
प्रत्यर्थभिन्ना सविशेषका स्यात् सामान्यमन्त्यं त्विह निर्विशेषम्" ॥७१॥

कहना इस सारे प्रपञ्च से हमें यही है कि सांसारिक सामान्य मनुष्य सत्ता, चेतना, आनन्द-इन तीनों को समृद्ध, सविकल्प एवं सविशेषरूपेणैव देखते हैं-ये लौकिक मनुष्य आनन्द को समृद्ध ही समझते हैं। विषयानन्द को ही आनन्द समझते हैं। सविकल्पक-ज्ञान को ही ज्ञान समझते हैं। सविशेषका सत्ता को ही सत्ता समझते हैं। सत्ता, चेतना, आनन्द-इन तीनों को-सविशेष, सविकल्पक एवं समृद्ध-यही असलीस्वरूप मान करके वे इन्हीं ही पर विश्राम कर लेते हैं। लोकातीत-तात्त्विक-इन तीनों के जो असली कृष्णस्वरूप हैं-उनकी तरफ इनकी जरा भी दृष्टि नहीं जाती। शुक्लसमुद्र में ही गोता लगा रहे हैं। कृष्णसमुद्र की इन्हें खबर ही नहीं है-जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"समृद्धमेते (लोकाः) सविकल्पमेते पश्यन्ति लोकाः सविशेषमेते।
तान्येव रूपाण्यभिमन्य, लोकातीतानि नान्यानि विमर्शयन्ति" ॥७२॥

यह तो हुई सामान्य मनुष्यों की कथा। अब विचार कीजिए-उनका जो विज्ञ हैं-पण्डित हैं-विद्वान् हैं। विज्ञ लोग तो-लोकाभिमत जो सत्ता, चेतना, आनन्द है-इन तीनों को योगज अतएव तात्कालिक ही मानते हैं। विद्वानों की दृष्टि में सत्ता, चेतना, आनन्द का जो स्वरूप लौकिक सामान्य

मनुष्यों ने मान रक्खा है–वह योगज है–तात्कालिक है। वैकारिक है–अतएव अनित्य है। हमारी दृष्टियों का जब घट के साथ सम्बन्ध होता है–तो दोनों के साथ सम्बन्ध होते ही एक तात्कालिक आनन्द उत्पन्न होता है। वह क्षणमात्र रहता है। विषयानन्द जितने भी हैं–सब तात्कालिक हैं। इन्द्रिय-संयोग से उसी समय नए उत्पन्न होते हैं। न वह आनन्द इन्द्रियों में रहता है–न विषयों में। रहता है–इन्द्रियविषयसंयोग में। इसीलिए हम इस समृद्धानन्द को तात्कालिक कहने के लिए तय्यार हैं। बस, चूंकि यह विषयानन्द तात्कालिक है, अतएव हम इसे वैकारिक कहने के लिए तय्यार हैं। इन्द्रिय विषय के विकार से यह समृद्धानन्द उत्पन्न हुआ है। चूंकि वैकारिक है, अतएव विनश्वर है। जो वस्तु तात्कालिक होती है–वह अवश्य ही नष्ट होती है। भला, जो आनन्द नष्ट होने वाला है–वैकारिक है–तात्कालिक है–वह क्योंकर आत्मस्वरूप के अन्तर्गत हो सकता है। समृद्धानन्द, सविकल्पकज्ञान, सविशेषसत्ता–तीनों ही आत्मस्वरूप से बाहर की चीजें हैं–तात्कालिक हैं। विनश्वर हैं–क्षणिक हैं–आत्मा तो नित्य है। ऐसी अवस्था में–क्षणिकस्वरूपयुक्त समृद्धानन्द, सविकल्पकज्ञान, सविशेषसत्ता क्योंकर आत्मा कहला सकती है?

तात्पर्य्य कहने का यही है कि आनन्द, सत्ता, चेतना–इन तीनों के जो समृद्ध, सविशेष, सविकल्पस्वरूप हैं–जिन्हें कि सामान्य मनुष्यों ने आत्मा समझ रक्खा है–सच्ची चीज समझ रक्खी है, विज्ञ लोग इन्हें ही तात्कालिक योग बतलाते हैं। उनका कहना है कि पूर्वोक्त सत्ता, चेतना, आनन्द इन्द्रियविषयसंयोग से उसी समय उत्पन्न-नष्ट होते हैं, अतएव क्षणिक हैं। उधर उत्पन्न होते हैं, इधर नष्ट होते हैं। भला, ऐसे अनित्य तत्त्व क्योंकर आत्मस्वरूपक हो सकते हैं–हर्गिज नहीं। आत्मा नित्य है–समृद्धानन्दादि अनित्य हैं। ऐसी हालत में–समृद्धानन्दादि की समष्टि को आत्मा समझना–इन्हें नित्य मानना सरासर भूल है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

> "विज्ञास्तु लोकाभिमतानि तानि ब्रुवन्ति तात्कालिकयोगजानि।
> वैकारिकत्वाच्च विनश्वरत्वान्नात्मस्वरूपाणि भवन्ति तानि" ॥७३॥

इस समृद्धानन्द को तात्कालिक एवं क्षणिक कैसे बतलाया जाता है? कैसे विशेषसत्ता विनश्वर है–सविलपक ज्ञान क्योंकर अनित्य है? इस का उत्तर यद्यपि दिया जा चुका है तथापि स्पष्टतया समझ में आ जाने के लिए इनका और भी स्पष्टीकरण कर देते हैं—

आत्मा रसस्वरूप है। इसका सम्बन्ध पुरोऽवस्थित घटपटादि विषयों के साथ होता है। बस, विषयज्ञान का और आत्मा का अर्थात् रस का आत्मा में जब तक सम्बन्ध रहता है–बस, तभी तक वह आनन्द रहता है। आत्मरस का एवं विषयज्ञान का आत्मा के साथ जब तक योग रहता है–रस और विषयज्ञान जब तक एकत्र मिले रहते हैं–बस, तभी तक आनन्द की सत्ता रहती है। जब रस और विषयज्ञान का सम्बन्ध टूट जाता है, तो उसी समय–उस सम्बन्धविच्छेद के साथ ही वह योगज आनन्द भी विनाशभाव को प्राप्त हो जाता है। जब तक हमें नाटक का ज्ञान हो रहा है–नाटक के ज्ञान के साथ

हमारे आत्मरस का सम्बन्ध हो रहा है-तभी तक आनन्द आ रहा है। नाटक-ज्ञान का सम्बन्ध जहाँ टूटा कि आनन्द जी गायब हुए। बस, इसीलिए हम इस समृद्धानन्द को अनित्य-वैकारिक एवं तात्कालिक कहने के लिए तय्यार हैं, अतएव च हम इस समृद्धानन्द को आत्मक्लास से बाहर निकाल देते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसस्य किञ्चिद्विषयावगाहिज्ञानस्य योगो ध्रियतेऽत्र (आत्मनि) यावत्।
तावत् स आनन्द उदेति, पश्चाद् योगे विनष्टे स विनाशमेति" ॥७४॥

अब चलिए-विज्ञान की ओर। मैं घड़ा जानता हूँ-यह प्रत्यय का स्वरूप है। द्रष्टा और दृश्य इनके मेल से **अहं जानामि**-इस प्रत्यय का स्वरूप उत्पन्न होता है। द्रष्टा आत्मा को कहते हैं, दृश्य विषय को कहते हैं। यह द्रष्टा दृश्य के साथ जिस सूत्र के द्वारा मिलता है-उसी सूत्र का नाम है ज्ञान। द्रष्टा शरीर को छोडकर यदि दृश्य के पास चला जाए तो शरीर ही गिर जाए, अतएव द्रष्टा और दृश्य के बीच में दोनों को मिलाने वाला एक तीसरा पदार्थ अवश्य ही मानना पड़ता है-बस, उसी का नाम वृत्यवच्छिन्न चैतन्य एवं विज्ञान है। बस, इस ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के मेल से-एकत्र समवस्थान से **जानामि** इस भान का-प्रत्यय का स्वरूप उत्पन्न होता है। अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य, अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न-चैतन्य एवं विषयावच्छिन्नचैतन्य-इन तीनों के मेल से तात्कालिक-**जानामि**-इस प्रत्यय का-विज्ञान का स्वरूप उत्पन्न होता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं-द्रष्टा अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य दृश्य के साथ अर्थात् विषयावच्छिन्नचैतन्य के साथ वृत्यवच्छिन्नचैतन्य द्वारा मिलकर दृश्य से अनुरज्यमान जो उसकी आकृति है- उसे धारण कर लेता है। अर्थात् द्रष्टा दृश्य के साथ (घटपटादि के साथ) युक्त होकर तदाकाराकारित हो जाता है। द्रष्टा दृश्याकृति में परिणत हो जाता है। बस, इसी का नाम विज्ञान है। परन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि दृश्य के हट जाने पर भी एक अनुभवायित संस्कार बना रहता है। हमारा इस समय घट के साथ सम्बन्ध हुआ। होते ही-हमारा ज्ञान घटाकाराकारित हो गया। अब थोड़ी देर बाद-घड़ा हमारे सामने से हट गया। इस घड़े के हट जाने पर भी घट का जो अनुभव बना रहता है-घट के अभाव में भी हम अपने ज्ञान में हूबहू घट की तस्वीर देखा करते हैं-बस, इसी का नाम अनुभवायित संस्कार है। इसी से घट की वासना उत्पन्न हो जाती है-अर्थात् घट वहीं बस जाता है। बस, बहिःस्थित घट के नष्ट हो जाने पर भी हमें उस वासनात्मक घट का भान हुआ करता है। कहना हमें यही है कि जिसको सांसारिक मनुष्य 'ज्ञान-ज्ञान' कहकर पुकारते हैं, वह द्रष्टा-दृश्य के योग से उत्पन्न होने वाला है-तात्कालिक है-अनित्य है। भला, वह कैसे आत्मस्वरूप में शामिल किया जा सकता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"द्रष्टा हि दृश्येन समेत्य सद्यो दृश्याकृतिं यात्यनुरज्यमानाम्।
तदस्ति विज्ञानमथो वियुक्ते दृश्येपि सांस्कारिकमस्ति भानम्" ॥७५॥

अब लीजिए सत्ता को। सत्ता को सामान्यशब्द से कहा जाता है। घड़ा है-पट है-पर्वत है-यह जो 'है' सामान्य उसी का अर्थात् 'अस्ति' का नाम ही सत्ता है। यह सत्ता भी-अनेक शक्तिप्रपञ्च-स्वरूप है-बहुतों में रहने वाला एक भाव है। हमने बतलाया था कि बल 'मूल-तूल' भेदेन दो प्रकार का है। जो मूलबल है-वह विश्वातीत है-नित्य है-तूलबल का आत्मा है एवं जो तूलबल है-वही विश्व कहलाता है। यह तूलबल क्रियात्मक है। बस, इस क्रिया की समष्टि का नाम ही सत्ता है। संकलित शक्तियाँ ही 'सत्ता' कहलाती हैं। अनेक शक्तियों के झुण्ड का नाम 'सत्ता' पड़ता है। बलसंघात का नाम सत्ता है। 'सत्ता'-यह एकत्वभाव अनेक बलों पर बैठा रहता है, अतएव इस एक सत्ता को हम 'बहुनिष्ठ' कहने के लिए तय्यार हैं। अनन्त बलों के योग की अपेक्षा न रखकर सत्ता का उदय कभी नहीं हो सकता है। अनन्त बलों के योग में 'सत्ता' के स्वरूप का निर्म्माण होता है। जब योग से सत्ता उत्पन्न होती है तो अवश्य ही हम इसे-'तात्कालिक' कह सकते हैं एवं **संयोगा विप्रयोगान्ताः** -यह नियम है तो इस नियम के अनुसार यह विशेषसत्ता अवश्य ही विनाशिनी है।

तात्पर्य्य कहने का यही है कि सामान्य नाम की सत्ता अनेक बलसमूहस्वरूप है। बहुतों पर रहने वाला एक भाव है। अनेकों योगों के विना सत्ता का उदय कभी नहीं हो सकता है। अनेक बल-संघात को ही सामान्य कहते हैं। ऐसी हालत में यह योगजसत्ता अनित्यसत्ता क्योंकर आत्मा बतलाई जा सकती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सत्तापि सामान्यमनेकशक्तिप्रपञ्चरूपं बहुनिष्ठमेकम्।
योगं बहूनामनपेक्ष्य नूनं नोदेति सामान्यमिति प्रपद्ये" ॥७६॥

सम्पूर्ण प्रपञ्च का सारांश यही है कि समृद्धानन्द, सविकल्पक-ज्ञान, सविशेषसत्ता-तीनों योगज हैं। **संयोगा-विप्रयोगान्ताः**-इस नियम के अनुसार तीनों ही विनाशी हैं। अतः इनको आत्मा कथमपि नहीं बतलाया जा सकता।

वादी पूर्वपक्ष करता है कि समृद्धानन्द भी आनन्द है, सविकल्पक-ज्ञान भी ज्ञान है, सविशेषभूता सत्ता भी सत्ता है। तीनों-सत्ता-चेतनाआनन्दस्वरूप हैं। थोड़ा आनन्द आता है-थोड़ा ही सही। है तो आनन्द ही। आनन्द ही तो आत्मा का स्वरूप है-ऐसी अवस्था में क्योंकर समृद्धानन्दादि को आत्मस्वरूप से खारिज किया जा सकता है। वादी के इस पूर्वपक्ष के उत्तर में हमें यही कहना है कि यदि विषयानन्द सत्ता-विज्ञानस्वरूप ही होते तो अवश्य ही हम इन्हें आत्मा कहने के लिए तय्यार थे। परन्तु जिन विषयों को आप आनन्दस्वरूप बतलाते हैं-वे विषय आनन्दादि से सर्वथा पृथक् वस्तु है-जैसा कि उदाहरण द्वारा आपका संशय दूर कर देते हैं।

सांसारिक मनुष्य अत्यन्त सुन्दर स्त्री को देखकर एवं सुवर्ण की ढेरी को देखकर आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। उनको देखने से सांसारिक मनुष्यों को आनन्द आया करता है। स्त्री और सुवर्ण को देखने से आनन्दमात्रा का अनुभव होता है-न कि स्त्री और सुवर्ण आनन्द हैं। अनुभव आनन्द का

होता है । इससे मालूम होता है कि आनन्द अनुभव से पृथक् पदार्थ है । आम खाने से आनन्द आया करता है–न कि आम ही आनन्द है । नाटक से आनन्द आता है–नाटक ही आनन्द नहीं है । हम विषयों को देखकर आनन्द का अनुभव करते हैं । इससे सिद्ध हो जाता है कि आनन्द विषय से पृथक् पदार्थ है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यं कामिनीं काञ्चनमाप्य लोका आनन्दमत्रानुभवन्ति सोऽयम् ।
आनन्दमात्रानुभवोस्ति, न त्वानन्दोस्ति, सोऽन्योऽनुभवात् पदार्थः" ।।७७।।

इसी प्रकार ज्ञान के विषय में लीलिए । विषयाकाराकारित-विषयानुरक्त जो विज्ञान है–उसी का ज्ञान होता है । विना विषय के ज्ञान का कभी प्रत्यक्ष होता ही नहीं है । घट-पट-पर्वत-पुस्तक-शहर-सूर्य्य-चन्द्रमा–इत्यादि यच्चयावत् पदार्थों को आप अपने ज्ञान से निकाल दीजिए–बस, ज्ञान उसी समय गायब हो जाएगा । ज्ञान में ज्ञान नहीं रहता, अतः ज्ञान के ज्ञान के लिए विषय की अपेक्षा है । विना विषय के–ज्ञान कथमपि नहीं जाना जा सकता है । **जानामि**–यही ज्ञान का स्वरूप है । यह स्वरूप विना घट-पटादि के हर्गिज नहीं बन सकता । ज्ञान को स्वस्वरूप से–हम कभी नहीं देख सकते । ज्ञान को जब कभी देखेंगे–विषयस्वरूप में परिणत ही देखेंगे । हम ज्ञान को नहीं देखते-अपि तु, ज्ञान में बैठे हुए विषयों को देखते हैं । ज्ञान में विषय दीखते हैं न कि ज्ञान ही विषय है । घट का ज्ञान होता है न कि घट ही ज्ञान है । ज्ञान विषय से सर्वथा पृथक् है–यही तात्पर्य्य है । ऐसी हालत में क्योंकर सविकल्पक-ज्ञान को आत्मा बतलाया जा सकता है । सविकल्पक-ज्ञान तो योगज है । योगज वस्तु भी कहीं नित्य हुई है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विज्ञानमेतद् विषयानुरक्तं विज्ञायते नो विषयातिरिक्तम् ।
"स्वरूपतो ज्ञानमिदं न वीक्षे ज्ञाने गृहीतान् विषयान् समीक्षे" ।।७८।।

एवमेव सत्ता को लीजिए–'अस्ति' यह ज्ञान होता है–न कि अस्ति ही ज्ञान है । घड़ा है–यह ज्ञान होता है–'है' का ज्ञान होता है–ज्ञान ही 'है' नहीं है । अर्थात् घट-ज्ञान से सत्ता पृथक् है । एवमेव सत्ताश्रय अर्थ है–सत्ता ही अर्थ नहीं है । कोई मनुष्य जब जोर से पुकार कर कहता है–'मेरे पास 'है' । उसी समय प्रश्न होता है कि क्या है ? पुस्तक है । कहने का तात्पर्य्य यही है कि घट-पट–इन पदार्थों से 'है'–यह पृथक् वस्तु है । 'है' से घट-पटादि का निर्वचन किया जाता है । सत्ता के–'है' के आश्रित घट है–घट ही सत्ता नहीं है । तात्पर्य्य यही है कि विषय और सत्ता भी पृथक् वस्तु है ।

इसलिए सत्ता, चेतना, आनन्द–ये तीनों ही केवल तर्कगम्य पदार्थ हैं–लोकातीत हैं । रात-दिन व्यवहार में आने पर भी उनके असलीस्वरूप को नहीं पहचाना जा सकता । तीनों ही का असलीस्वरूप सर्वथा छुपा हुआ है । सामान्यमनुष्य जिन्हें आनन्द, सत्ता, विज्ञान कह रहे हैं–वह तो सर्वथा योगज है–अनित्य है । उन्हें आत्मा हर्गिज नहीं बतलाया जा सकता । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अस्तीति बुद्धिर्नतु बुद्धिरस्तिः सत्ताश्रयोऽर्थो न स एव सत्ता ।
तस्मादिमे केवलतर्कगम्यास्त्रयोऽपि लोकातिगताः पदार्थाः" ॥७६॥

वास्तव में बात सच है । लौकिकमनुष्य जिन्हें सच्चे माने बैठे हैं–वे नितान्त मिथ्या हैं । वे नित्यतत्त्व तो पर्दे में छुपे हुए हैं । लौकिकमनुष्य-यथाजातमनुष्य पदार्थों को जिस निगाह से देखते हैं–उनका जैसा स्वरूप बतलाते हैं–मनस्वी लोग–वैज्ञानिक लोग उनको सर्वथा उपेक्षा दृष्टि से देखते हैं । एवं संसार का जैसा स्वरूप मनस्वी देखते हैं–वे प्राकृत अर्थात् यथाजात–अवैज्ञानिक की दृष्टि में नहीं जचते । सूर्य्य ६ (छह) अँगुल का है, आकाश नीला है, पृथिवी स्थिर है–यह सामान्यमनुष्यों का ज्ञान है । परन्तु विद्वान् इसकी उपेक्षा करते हैं । उनके हिसाब से सूर्य्य पृथिवी से १३ हजार गुना बडा है, आकाश स्वच्छ है, पृथिवी चल है, सूर्य्य स्थिर है । कहना इससे यही है कि सामान्यमनुष्य जैसा समझ रहे हैं–विज्ञान से वह बात मिथ्या साबित हो जाती है । इसी नियम के अनुसार समृद्धादि आनन्दों को साधारण मनुष्यों ने सच्ची चीज समझ रक्खी है–विद्वानों की दृष्टि में वह एकान्ततः मिथ्या है । इसी अभिप्राय से भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" ॥[1]

तात्पर्य्य यही है कि लौकिकमनुष्य जिस सत्ता, चेतना, आनन्द का अनुभव करते हैं–वह शुक्लस्वरूप है–अनित्य है एवं इनका कृष्णस्वरूप अन्तर्निहित है–वही सत्य है–वही विजिज्ञास्य है । जैसा कि कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पश्यन्ति लोका इतरे यथार्थानुपेक्षयन्ते तु मनस्विनस्तान् ।
यथा तु पश्यन्ति मनीषिणोऽर्थास्ते प्राकृतानां न दृशं गताः स्युः" ॥८०॥

—※—

१६–भूमाणिमानौ ।

भूमा-अणिमा—

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है–इसे ही 'आभु' कहा जाता है । इस सच्चिदानन्दस्वरूप आभु से ही–इस सारे विश्व की उत्पत्ति होती है । मायादि बलों के उद्बोध के कारण असीम आभु (रस) ससीम बनता हुआ सृष्टि का कारण बनता है । माया द्वारा ससीम रस परिच्छिन्न होता हुआ–सृष्ट और प्रविष्ट–इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है । वह (रस) अपने एक अंश से (बल अंश से) सृष्ट अर्थात्

१ गीता २।६६ ।

विश्वस्वरूप में परिणत हो जाता है एवं अवशिष्टरूप से विश्व में अन्तःप्रविष्ट हो उस विश्व का आत्मा बन जाता है । चूंकि उस सृष्ट में यह (आत्मा) घुस जाता है, अतएव आत्मा को हम 'प्रविष्टब्रह्म' कहने के लिए तय्यार हैं । यह आत्मा उस विश्व के जर्रे-जर्रे में प्रविष्ट है । ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिसमें कि आत्मा न हो । मनःप्राणवाङ्मय आत्मा छोटे से छोटे एवं बडे से बडे पदार्थ में अनुस्यूत हो रहा है । पदार्थ अनेक प्रकार के हैं । बडे से बडे भी पदार्थ हैं–छोटे से छोटे भी पदार्थ हैं । स्वयम्भू सबसे बडा पदार्थ है, अणु सबसे छोटा पदार्थ है । पदार्थ विना आत्मा के रहता नहीं, अतएव पदार्थभेद से हम उस आत्मा को अणु से अणु भी बतला सकते हैं एवं बडे से बडा भी बतला सकते हैं । महाविश्व में प्रविष्ट आत्मा बड़े से बडा कहलाता है, छोटे से छोटे विश्व में प्रविष्ट आत्मा छोटे से छोटा कहलाता है । वही आत्मा स्थानभेद से छोटा-बडा कहलाने लगता है । वही बडे से बडा है–वही छोटे से छोटा है । उतार-चढाव के[1] अनुसार–पानी से भरे १० पात्र रक्खे हुए हैं । उनमें सूर्य्य प्रतिबिम्बभाव से उत्तरोत्तर छोटी बडी संस्थाएँ बनाए बैठा है । जो सबसे छोटा बर्तन है, उसमें रहने वाला सूर्य्य अणोरणीयान् है–बडे से बडे बर्तन में रहने वाला सूर्य्य महतो महीयान् है । परन्तु क्या सूर्य्य दो हैं या १० हैं–हर्गिज नहीं । वही सूर्य्य आधारभेद से बडे से बडा बना हुआ है एवं छोटे से छोटा बना हुआ है । बस, इसी प्रकार से वही आत्मा बडे से बडा बना हुआ है एवं छोटे से छोटा बना हुआ है । बस; अणोरणीयान् एवं महतो महीयान् वह आत्मा–इस जन्तु के अर्थात् प्राणी के गुहा में बैठा हुआ है । हृदयकेन्द्र में बैठा हुआ वह आत्मा इस जन्तु का सञ्चालन करता रहता है ।[2] इसी गुहाप्रविष्ट आत्मा के लिए भगवान् कहते हैं—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" ।।[3]

जन्तु की गुहा में प्रविष्ट यह आत्मा ही उसका सञ्चालन किया करता है । हमने बतलाया है कि विश्व में अनन्तानन्त पदार्थ हैं । विश्व में अनन्तानन्त पदार्थ नहीं है अपि तु, अनन्तानन्त पदार्थ-समष्टि का नाम ही विश्व है । घट-पट-पुस्तक-शहर-वन-सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-परमेष्ठी-स्वयम्भू–इत्यादि इत्यादि पदार्थ समष्टि का नाम ही तो जगत् है ।

हमने बतलाया है कि पदार्थ छोटे से छोटे हैं एवं बडे से बडे हैं एवं उन सबमें आत्मा रहता है । बस, बडे-छोटे पदार्थों के भेद से अर्थ-अर्थ में–वह आत्मरूप 'भूमा-अणिमा' भेद से नानावृत्तियों में प्राप्त हो गया है । अर्थात् आत्मा यद्यपि एक ही है. परन्तु पदार्थ चूंकि बडे-छोटे सब तरह के हैं एवं विना आत्मा के कोई पदार्थ रहता नहीं है, अतः उनकी भूमा-अणिमा के कारण अर्थात् पदार्थों के बडेपने एवं छोटेपने के कारण आत्मा नानावृत्तियों में बँटा हुआ है । एक ही आत्मा प्रतिअर्थ-प्रतिबिम्बवत्

१ कम या ज्यादा भराव के पात्र ।
२ 'अणोरणीयान् महतो महीयानामा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।' श्वेता० उप० ३।२० ।
३ गीता १८।६१ ।

विभिन्नस्वरूपों में परिणत हो रहा है। इस महाविश्व की गुहा में प्रविष्ट वह आत्मा भूमा-अणिमा भेद से नानास्वरूपों में परिणत हो रहा है। परन्तु कहने को नाना है-वास्तव एक ही आत्मा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तदात्मरूपाण्यनु चार्थमर्थं भूम्नाप्यणिम्नापि च वृत्तिमागुः" ॥८१॥

घट, पट, मनुष्य, पशु, कृमि, कीट, पक्षि, औषधि, वनस्पति, पर्वत-इत्यादि इत्यादि जो पदार्थ हैं-वे सबके सब यद्यपि हैं पृथक्, परन्तु सब भौम हैं-अर्थात् भूमि से उत्पन्न होने वाले हैं। इन सारे पदार्थों की पैदाइश इसी पृथिवी से होती है। प्रतिपदार्थ में आत्मा वृत्तिभेदेन भिन्न-भिन्न है। पशु का आत्मा मनुष्य से भिन्न है-मनुष्य का पशु से भिन्न है। सारे पदार्थों में सर्वथा भिन्नता है। परन्तु जरा आगे बढके देखते हैं तो यह पृथक्त्व न मालूम कहाँ चला जाता है? केवल भूमि ही भूमि रह जाती है। मिट्टी से उत्पन्न होने वाले अनन्त घट वास्तव में जैसे एक मिट्टी ही है तद्वत् भूमि से उत्पन्न होने वाले यच्चयावत् भौम पदार्थ भूमि ही हैं। जो अनन्त भौम पदार्थ हैं-उनके नाना अस्तिवाद को नष्ट कर हम इस सारे प्रपञ्च को-'है'-भूमि है-इस एकत्व द्वारा व्यवहृत कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि सारे भौमपदार्थ एक भूमि ही है। नाना कुछ नहीं है-एक भूमि ही है। एवमेव सूर्य्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र-इत्यादि इत्यादि जितने तैजस पदार्थ हैं-वे वास्तव में एक तेज ही तो है। कहने को अनन्त हैं-वास्तव में सब तेजः स्वरूप हैं। तेज तो एक ही है। तेज नाना थोड़े ही है-उसकी वृत्तिएँ नाना हैं। और भी आगे बढिए। जो भूमि है एवं तेज है। वे कहने को दो हैं, वास्तव में दोनों ही भूत हैं। तेज भी भूत है-भूमि भी भूत है। दोनों एक वस्तु हैं। दोनों ही क्यों? पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश-पाँचों भूत हैं। कहने को पाँच हैं-वास्तव में पाँचों एक वस्तु हैं। पाँचों का अस्तित्व एक 'भूत' अस्तित्व के आधार पर अवलम्बित है, अतएव हम कह सकते हैं कि पाँचपना मिथ्या है। 'भूत है'-इस प्रकार का एकत्व ही सच्चा है। यह हुई-भूत के विषय की चर्चा। अब लीजिए-वसुरुद्रआदित्यादि देवताओं की विवेचना। देवता अनन्त हैं-भूत भी अनन्त हैं। इन भूत और देवताओं की समष्टि का नाम ही तो जगत् है। सारे भूत भूतत्वेन एक हैं एवं सारे देवतात्वेन एक हैं एवं दोनों एक जगत्स्वरूप ही हैं। 'जगत्' है-यह एकत्व ही सच्चा है। इसी के पेट में भूत और देवता नाच रहे हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि यदि आप सूक्ष्मदृष्टि से विचार करेंगे-तो सारे नानाभाव आपको एक 'जगत्' के अस्तित्व के पेट में मिलेंगे क्योंकि ये सब केवल जगत् ही तो है। कहने को नाना अस्तित्व हैं, वास्तव में जगत् स्वरूप एक ही अस्तित्व है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"सन्तीह भौमास्तदिहास्ति भूमिर्ये तैजसाः सन्ति तदस्ति तेजः।
भूम्यस्ति तेजोस्ति तदस्ति भूतं भूतानि देवाश्च जगत् तदस्ति" ॥८२॥

यहीं पर आके गाड़ी नहीं रुक गई है-अभी और भी आगे जाना है। जगत् एक ही नही है, अपि तु, अनन्त जगत् हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। सारे जगत् परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। सारे ब्रह्माण्ड

अपनी-अपनी सत्ता पृथक् रखते हैं। सर्वबलविशिष्टरस में अनन्तानन्त मायाबल उत्पन्न होते हैं एवं प्रत्येक मायाबल का एक एक ब्रह्माण्ड बन जाता है। इस प्रकार उस परात्पर पर अनन्त ब्रह्माण्ड नृत्य करते रहते हैं। कहने को सारे ब्रह्माण्डों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है, वास्तव में उन सबका आत्मा वही सर्वबलविशिष्ट परात्पर है। यह एक है। वही सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। एक सूर्य्य ने सारे ब्रह्माण्ड में प्रकाश कर रक्खा है। पृथिवी के स्थावर-जङ्गम का आत्मा जैसे सूर्य्य है तद्वत् अखिल ब्रह्माण्डों का आत्मा वही परात्पर है-वह एक है।

सर्वब्रह्माण्डाधिष्ठाता वह परात्पर एक सत्तास्वरूप है। सारे ब्रह्माण्डों की परात्परस्वरूप एक ही सत्ता है। बस, वही सबका आत्मा है। कहने को नाना हैं-वास्तव में एक परात्पर के सिवाय और है ही क्या ? वही सब कुछ है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि द्वैतवाद मिथ्या है-अद्वैतवाद सच्चा है। **ब्रह्मैवेदं सर्वं, नेह नानास्ति किञ्चन**-यही हमारा सिद्धान्त है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"जगन्ति सन्तीह बहूनि भिन्नान्येकोयमात्मा स परात्परोऽस्ति।
सैकैव सत्ता स तथैक आत्मा तस्मादभिन्नं द्वयमेतदाहुः" ॥८३॥

यह एक ही सामान्य-एक ही सत्ता-एक ही अस्तित्व घट-पट इत्यादि नानाविषयों में परिणत हुआ प्रतीत होता रहता है-एक ही नाना-भाव से प्रतीत हुआ करता है। आप छोटे से छोटे विशेष को आधार बनाकर उत्तरोत्तर बढते चले जाइए। कल्पना कर लीजिए-घटसत्ता छोटी सत्ता है। अनन्त घट हैं-सबका अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। परन्तु जरा और आगे चलेंगे तो मालूम होगा कि आनन्त्य कुछ नहीं है-वास्तव में एक मिट्टी ही है। मिट्टी-जल-तेज-वायु इत्यादि का अस्तित्व पृथक् है। परन्तु और भी आगे बढेंगे तो मालूम होगा कि द्रव्यत्व ही है। पृथिवी भी द्रव्य है-जल भी द्रव्य है-सब द्रव्य हैं। केवल एक द्रव्य ही है-नाना कुछ नहीं कुछ नहीं है। बस, इस प्रकार बढते-बढते वही विशेष जब अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है तो उस अन्तिम भाव को हम सामान्य कहने के लिए तय्यार हैं। अनेकानुगत जो एक है-उसी का नाम सामान्य है। वह एक ही सामान्य-एक ही सत्ता घट-पटादि नानाभावों में अनुस्यूत हो रही है, अतएव इसे 'सामान्य' कहते हैं। बस, इस अन्तिम सामान्य को हम सत्ता कहने के लिए तय्यार हैं। जो परमसामान्य है-वही 'सत्ता' है। वह एक है-व्यापक है-नित्य है। हमने बतलाया है कि 'अस्ति' यही ज्ञान है। अस्ति का नाम ही उपलब्धि है। इसीलिए तो सत्ता का **उपलब्धिः सत्**-यह लक्षण किया जाता है। अस्ति ही ज्ञान है-सत्ता ही ज्ञान है। वह ज्ञान पिण्ड है। बस, वही यह आत्मा है-जिसे कि हम 'सच्चिदानन्द' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। वही एक अणोरणीयान् महतो महीयान् विभु आत्मा सारे संसार का अधिष्ठाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सामान्यमेकं बहुभिर्विशेषैः प्रतीयते तत् क्रमवर्द्धितं स्यात्।
अन्त्यं तु सामान्यमवैमि सत्तां तज्ज्ञानमेवं विभु सोऽयमात्मा" ॥८४॥

हमने सत्ता और ज्ञान को आत्मा बतलाया है। परन्तु वास्तव में आत्मा का स्वरूप पूछा जाए तो वह आनन्द ही है। आनन्दकन्दल ही आत्मा का स्वरूप है। इसी की रश्मियों का नाम ज्ञान और सत्ता है। आनन्द की रश्मियाँ–जिन्हें कि ज्ञान एवं सत्ता शब्द से व्यवहृत किया जाता है–आनन्द से अभिन्न है, अतएव उन दोनों को भी हम 'आनन्द' ही कह सकते हैं। आत्मा आनन्दस्वरूप ही है। इसी अव्याकृत आनन्द की आनन्द, चेतना, सत्ता–ये तीन व्याकृतियाँ हैं। हमने आभु और अभ्व–ये दो तत्त्व बतलाए थे। इन दोनों में से जो आभु है–वह तो यही आनन्दस्वरूप आत्मा है एवं जो बल है–कर्म्म है–वही 'अभ्व' नाम से प्रसिद्ध है। इस बल की योनि अर्थात् आधार यह आनन्द ही है। रस ही बल की प्रतिष्ठा है। विना रस के बल कभी नहीं रह सकता है। रसाधारेणैव बल की स्थिति रहती है। यह बल अर्थात् कर्म्म चेष्टा अर्थात् क्रिया और बल भेदेन दो प्रकार का है। जो बल है–वह तो इसका मूल है एवं क्रिया अर्थात् चेष्टा तूल है। तूल का मूल–वह बल ही है। उसी में से चेष्टात्मक बल निकला करता है एवं उसी में लीन होता रहता है। बस, चेष्टात्मक कर्म्म है अर्थात् क्रियास्वरूप जो बल है–वह आनन्द के आधार से ही स्थित रहता है। जब तक आनन्द रहता है–तब तक क्रिया होती है। क्योंकि क्रिया बल है–बल का आधार यही आनन्द है। यदि आनन्द एकान्ततः उच्छिन्न हो जाता है–तो हाथ-पैर हिलना बन्द हो जाता है–अर्थात् मनुष्य मर जाता है। आनन्द से चेष्टाकर्म्म होता रहता है।

इस शरीर में जितना शोक एवं जितना भय रहता है, शरीर में बल की–शक्ति की उतनी ही कमी रहती है। भय और शोक बल को उच्छिन्न करने वाले हैं। शोकातुर एवं भयातुर मनुष्यों का शरीर अत्यन्त निर्बल हो जाता है एवं वे शीघ्र ही यमराज के पाहुने बन जाते हैं। बात सच है–बल का आधार तो आनन्द है। जब तक क्रिया होती रहती है अर्थात् हाथ-पैर चलते रहते हैं, तब तक शरीरस्थिति रहती है एवं क्रिया तब तक होती रहती है–जब तक कि आनन्द की मात्रा रहती है। आनन्द नहीं तो बल नहीं। दुःख से, शोक से, भय से बल का विनाश हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

> "आनन्द एवास्ति बलस्य योनिरानन्दतः कर्म्म तु चेष्टितं यत्।
> यावद्भयं यावदिहास्ति शोकस्तावद्बलं नश्यति नूनमस्मिन्" ॥८५॥

यदि दुःख उत्तरोत्तर बढकर पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है–तो आनन्द की मात्रा एकान्ततः उच्छिन्न हो जाती है। बस, ऐसी अवस्था में प्राणि की मृत्यु हो जाती है। दुःख प्रतीति की पराकाष्ठा मृत्यु ही है। परन्तु यदि मृत्यु नहीं और जीवन है तो समझलो-उसमें आनन्द की मात्रा मौजूद है। मृत्यु का अभाव ही आनन्द सत्ता का सूचक है, क्योंकि आनन्द ही से जीवन रहता है। **आनन्देन जातानि जीवन्ति**–यह अटल सिद्धान्त है।

यह आनन्दमात्रा कृमि, कीट, पक्षि आदि में उत्तरोत्तर अधिक रहती है। इसका एकमात्र कारण बल है। बल रस के विना रहता नहीं, अतः जिसमें जितना अधिक बल होगा–उतना ही अधिक

रस होगा। रस ही को आनन्द कहते हैं। जिसकी अर्थसत्ता अर्थात् शक्ति जितनी अधिक होगी, उसमें आनन्द की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। आनन्द की मात्रा को शक्ति के अनुसार उत्तरोत्तर प्रवृद्ध समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"दुःखप्रतीतेः परमा तु काष्ठा मृत्युस्ततो जीवनमस्ति सौख्यम्।
सानन्दमात्रा कृमिकीटपक्ष्यादिष्वेधते शक्तिमनु प्रवृद्धाम्" ॥८६॥

आनन्द की मात्रा शक्तिवृद्धि से अधिक होती है, इसीलिए मनुष्यों के आनन्द से राजाओं का आनन्द अधिक बडा होता है, राजाओं से सम्राटों का अधिक होता है-सम्राटों से स्वाराज्यभोक्ताओं का आनन्द अधिक होता है। उनसे भी अधिक विद्वानों का होता है—उनसे भी अधिक योगियों का होता है—योगियों से भी अधिक देवताओं का आनन्द है। इस प्रकार से उत्तरोत्तर आनन्द की मात्रा बढाते चले जाइए। जो प्रवृद्ध आनन्द की सीमा है—आनन्द की पराकाष्ठा है—जो परम आनन्द है—जिससे कि बडा और कोई आनन्द नहीं है- वही आनन्दसत्ता साक्षात् परमेश्वर का स्वरूप है। आनन्दों के इन्हीं तारतम्यों को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्-साधुयुवाध्यापकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः" ॥[1]

इस प्रकार पितर-देवता-इन्द्रादि के क्रम से अन्त में श्रुति कहती है—

"ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः"।[2]

एक-एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता को प्रजापति किंवा ईश्वर कहा जाता है एवं अखिल ब्रह्माण्ड-नायक को 'ब्रह्म' कहा जाता है। बस, इसी आनन्द की मीमांसा का स्पष्टीकरण करते हुए गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"नृभ्यो नृपाणां नृपतः स्वराजां तेभ्योपि विद्वत्तमयोगिनां च।
तेभ्यः सुराणां क्रमशः प्रवृद्धा याऽनन्दसत्ता परमेश्वरः सः" ॥८७॥

परम भूमा और परम अणिमा के पेट में जो भूमाणिमा हैं—वे अपेक्षया सब अणिमा हैं—सब भूमा हैं। अणिमा भूमा है, भूमा अणिमा है। यह नानात्व बल का है। बस, भूमाणिमात्वक यह बल जिसमें

१. तैत्ति० उप० २।८। २. तैत्ति० उप० २।८।

रहता है, वह भूमा और अणिमा एक ही है । परम भूमा भूमा ही है–वह कभी अणिमा नहीं हो सकता एवं परम अणिमा अणिमा ही है–वह कभी भूमा नहीं हो सकती । बस, यह रस ही आनन्द है । आनन्द ही को आत्मा समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भूमाऽणिमा स्यादणिमा च भूमा पृथग्बलोऽयं बलमस्ति यस्मिन् ।
स एक एवास्त्यणिमा स भूमा रसः स आनन्द इति प्रतीयात्" ।।८८।।

——❋——

१७–आनन्दस्योत्पत्तिस्थितिहेतुत्वम् ।

आनन्द को उत्पत्तिस्थिति का कारण बतलाना—

निखिल विश्व में–वही आनन्द व्याप्त हो रहा है । उसी आनन्द से यह जगत् उत्पन्न होता है–उसी आनन्द पर प्रतिष्ठित रहता है । इसीलिए श्रुति कहती है—

"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति" ।[1]

आनन्द ही जगत् की उत्पत्ति एवं स्थिति का कारण है । यदि आनन्द नहीं रहता है तो प्रजोत्पत्ति सर्वथा नहीं हो सकती है । प्रजोत्पत्ति में एकमात्र आनन्द ही की कारणता है । स्त्री और पुरुष के संयोग से गर्भस्थिति होती है । परन्तु इसमें प्रधान कारण आनन्द है । जिन स्त्री-पुरुषों में आनन्द की मात्रा रहती है–दोनों ही प्रसन्न रहते हैं । ऐसे समय में जब उनका सम्बन्ध होता है, तभी गर्भाधान होता है । आनन्द ही से गर्भस्थिति होती है । जिनमें परस्पर सदा झगड़ा बना रहता है, जो स्त्री-पुरुष गृहक्लेश के कारण सदा दुःखी रहते हैं–ऐसे स्त्री-पुरुषों के संयोग में गर्भस्थिति कभी नहीं हो सकती है । स्त्री पति के वीर्य्य को ग्रहणकर उस वीर्य्य से गर्भवती कहलाती है । **गृह्यते यया (योषया)**–इस व्युत्पत्ति से योषाद्वारागृहीतवीर्य्य ही 'गर्भ' कहलाता है । ग्रहण करने में तदनुकूल क्रिया होती है । क्रिया ही को बल कहते हैं । बल विना आनन्द के रहता नहीं । इसीलिए हम दावे के साथ कह सकते हैं कि जिन स्त्री-पुरुषों में जरा भी आनन्द नहीं–तो ऐसी हालत में गर्भस्थिति हो ही नहीं सकती । संगम के समय यदि दोनों में आनन्द की मात्रा है तो उस समय गर्भस्थिति हो जाएगी, परन्तु बाद में भी यदि विवाद हो गया–स्त्री को किसी प्रकार दुःख हो गया तो उसी समय गर्भपात हो जाएगा अथवा गर्भस्राव हो जाएगा । यदि अनवरत स्त्री विषाद ही करती रहेगी तो उस धारा के कारण–विषादसंस्रव के कारण गर्भच्युति हो जाएगी । बस, इसीलिए हम कह सकते हैं कि संसार भर में जो

१ तैत्ति० उप० ३।६ ।

भी उत्पन्न होता है-आनन्द ही से उत्पन्न होता है। उत्पत्ति का एकमात्र कारण आनन्द ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्त्रीपुंसयोर्यत्र न हर्षसंभवस्तदा न गर्भस्थितिरिष्यते क्वचित् ।
गर्भच्युतिः स्याच्च विषादसंस्रवादानन्दतः सर्वमिदं प्रजायते" ।।८६।।

अपि च-मान लीजिए। आनन्द के कारण उत्पत्ति हो गई, परन्तु उत्पत्ति के बाद भी जिसके जीवन में हर्ष नहीं है-वह भी अधिक दिन नहीं जी सकता है। जिसके जीवन में हर्ष नहीं है-जो सदा दुःखी रहता है, म्लान रहता है, जिसकी तबियत में उल्लास नहीं होता, वह अधिक दिन नहीं जीवेगा-यह सिद्धान्त समझना चाहिए। जीवे कैसे? इसका आत्मा तो सदा दुःख में निमग्न रहता है। आनन्द से बल की स्थिति रहती है। बल के आधार पर-शक्ति के आधार पर जीवन रहता है। भला, जो दुःखी है-उसमें बल की स्थिति कहाँ? दुःखी मनुष्य आनन्द की मात्रा की कमी के कारण बलहीन होता जाता है-निर्बल बनता जाता है। इस प्रकार वह मनुष्य आर्त्तिसंप्लुत होता हुआ-दुःखाक्रान्त होता हुआ अधिक दिन नहीं जी सकता है। भगवान् रामचन्द्र की आयु का अधिक हिस्सा दुःख ही में बीता, अतएव मनुष्यधर्म्मानुसार-मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र ने ६४ वर्ष की आयु में ही इहलीलासंवरण किया। भगवान् रामचन्द्र का प्रायः सारा जीवन दुःख में ही बीता-इसी अभिप्राय से कविगुरुक्षेमेन्द्र कहते हैं—

"भोगार्हे नवयौवनेऽपि विपिने चीराम्बरो राघवः ।
तत्राप्यस्य परेण दारहरणं क्लेशस्तदन्वेषणे ।।
संप्राप्तापि परापवादरजसा त्यक्ता पुनर्जानकी ।
सर्वं दुःखमयं तदस्य चरितं श्लाघ्यो विवेकोदयः" ।।

कहना यही है कि अल्पकाल में मरने का एकमात्र कारण दुःख ही है। इधर भगवान् श्रीकृष्ण सदा प्रसन्न रहते थे। घोर से घोर विपत्ति आ जाने पर भी वह अपनी मधुर-मुरली का सहारा नहीं छोडते थे-इसी कारण **शतं जीव शरदः**[1]-इस वैदिकमर्य्यादानुसार १०० वर्ष से अधिक १२७ वें वर्ष में इन्होंने इहलीलासंवरण की।

संसार में आप आपामर आविद्वत्कुल मनुष्यों पर दृष्टिपात कीजिए-वे सब के सब हर्ष की मात्रा से-आनन्दप्राप्ति से ही जीते हैं। आनन्द से उत्पन्न होने वाले पुतले-आनन्द के आधार से ही जीते हैं। बात सच है-पानी में पैदा होने वाले जीवों को-मत्स्यादि को यदि पानी से बाहर निकाल दिया जाता है तो उनका जीवन कहाँ? वायव्यजीवों को पानी में डुबो दिया जाए तो उनके जीने की

१ ऋग्वेद मं० १०।१६१।४ ।

क्या आश ? जो जिससे उत्पन्न होता है-उसी की प्राप्ति से उसकी स्थिति रहती है । यह आनन्द इन मनुष्यों को मिलता कहाँ से है ? आनन्द का खजाना कौनसा है ? इसका एकमात्र उत्तर है-अन्न । अन्न से यह मनुष्य तृप्ति को खाया करता है । अन्न द्वारा होने वाली तृप्ति ही अर्थात् आनन्द ही इसी स्थिति का कारण है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न जीवने यस्य तु हर्षसंभवश्चिरं न जीवेत् स इहार्तिसंप्लुतः ।
प्रतिक्षणं जीवति हर्षमात्रया स सर्वतोऽन्नादिह तृप्तिमश्नुते" ॥६०॥

जिस अन्न से इसकी तृप्ति होती है-वह अन्न कुल सात प्रकार का है । उन सातों के नाम निम्नलिखित हैं-(१) मिट्टी, (२) पानी, (३) प्रकाश, (४) हवा, (५) आवाज, (६) क्रिया, (७) ज्ञान । जो कि यह मनुष्य ओषधि (मिट्टी), पानी, अग्नि, वायु, वाक्, बल और ज्ञानस्वरूप इन सातों अन्नों को खाता है । बस, इन सातों अन्नों से तृप्ति को प्राप्त कर इन सातों से निरन्तर आनन्द की मात्रा का ग्रहण किया करता है । चूँकि आनन्द से इसकी जिन्दगी रहती है, अतएव हम कह सकते हैं कि आत्मा हर्षस्वरूप ही है । पूर्वोक्त सातों अन्नों में से मिट्टी और पानी-ये दो अन्न तो परिश्रमसाध्य हैं । विना श्रम के जीवनसत्ता नहीं रह सकती, इसलिए परमेश्वर ने दो अन्न तो ऐसे बनाए हैं, जिनमें मनुष्यों को परिश्रम करना पड़ता है । अन्न मिट्टी से ही उत्पन्न होता है । मिट्टी ही अन्नस्वरूप में परिणत होती है । जौ, गेहूँ, बाजरा, उड़द, मूंग, मोठ, चोंला, चना, गुवार, चावल-इत्यादि इत्यादि जितनी भी ओषधियाँ हैं-वे सब मिट्टी से उत्पन्न होती हैं । परन्तु इनमें परिश्रम करना पड़ता है । पहले बीजवपन करना पड़ता है-पानी से सिंचाई करनी पड़ती है-काटा जाता है-सुखाया जाता है-तुष दूर किए जाते हैं-पीसा जाता है-पानी से गीला कर उसे ओसना जाता है-चूल्हा जलाना पड़ता है । बाद में तवे पर उसको बेल कर डाला जाता है-तब जाके रोटी बनती है । बस, खाने लायक-अन्न इतने परिश्रम के बाद में तय्यार होता है । दूसरा अन्न है-पानी । पानी के लिए भी कुआ ही खोदना पड़ता है । **नित्य कुआ खोदते हैं और नित्य पानी पीते हैं**-पानी के लिए तो यह किंवदन्ती अत्यन्त प्रसिद्ध है ही ।

कहना यही है कि मिट्टी और पानी-ये दो अन्न तो परिश्रमसाध्य हैं । अवशिष्ट पाँचों अन्न ईश्वर के घर से-ईश्वर के खजाने पे पैदा होते ही मिल जाते हैं । अग्नि अर्थात् प्रकाश भी हमारी आत्मा की खुराक है । यदि प्रकाश न हो तो यह आत्मा उसी समय शरीर को छोड दे । यदि हमें दो दिन के लिए काल कोठरी में-घोर अन्धकार में बन्दकर दिया जाएँ तो हमारा दम घुट जाए । सम्भव है-मर भी जाएँ । परन्तु प्रकाश में जीवनभर रहने पर भी तबियत नहीं अकुलाती, अपि तु, प्रसन्न रहती है । इससे मानना पड़ता है कि यह प्रकाश हमारी खुराक है-अन्न है । यह प्रकाश-सूर्य्य, चन्द्र, अग्निस्वरूप, वाक् और आत्मभेदेन दो प्रकार का है । पाँचों ज्योतियाँ पाँच मिला करती हैं, अतएव **पञ्चज्योतिरयं पुरुषः**-यह कहा जाता है । दिन में-डरपोक से डरपोक आदमी को भी चाहे कहीं भेज दीजिए-वह चला जाएगा, क्योंकि उसकी खुराक (सूर्य्य) अतिमात्रा में मौजूद है । परन्तु उसी को रात्री में वह भी अंधेरी में कहीं

भेंजे तो न जाएगा। हाँ चन्द्रमा की चाँदनी में फिर भी जाने की हामी भर लेगा। इसीलिए **चाँदनी रात में कांय को डर छै**-यह हमारी जयपुरी भाषा में प्रसिद्ध है। यदि चाँदनी नहीं रहेगी एवं आप उसे जबर्दस्ती भेजना ही चाहेंगे तो-वह एक लालटेन (अग्नि) अवश्य माँगेगा। यदि आप लालटेन से भी इन्कार हो जाएँगे तो-वह कह देगा कि अच्छा साहब! किसी को मेरे साथ और कर दीजिए-अकेला मैं नहीं जा सकता। दो होंगे तो-बातचीत करते चले जाएँगे-बस, यही वाक्-ज्योति है। आप घोर अन्धकार में जा रहे हैं और आपका आत्मा व्याकुल हो रहा है-डर रहा है-उस समय में यदि आप किसी मनुष्य की आवाज सुन लेते हैं तो आत्मा को ताकत मिल जाती है-आत्मा सम्भल जाता है। आवाज भी अन्न है-वह भी आत्मा की खुराक है-इसमें इससे ज्यादा और क्या प्रमाण हो सकता है? अनुभव करने से सारे भाव प्रत्यक्ष समझ में आ जाते हैं।

पाँचवीं ज्योति है-आत्मज्योति। इसका अनुभव होता है-उस समय, जब कि आप घोर जंगल में जा रहे हों एवं अकेले हों। उस समय आपको अपनी आत्मा की ज्योति ही मिला करती है। अरे! मुझे कौन मार सकता है? जो सामने आएगा-उसी से दो-दो हाथ करूँगा। इन शब्दों को मुँह से निकलाने वाली वही-**आत्मज्योति** है। यदि यह भी नहीं हो तो जिसका आत्मा निर्बल होता है-बस, ऐसे समय में वह उसी समय शरीर छोड देता है। विना ज्योति के आत्मा की स्थिति रह ही नहीं सकती। इन पाँचों में से आत्मा तो स्वयं है तथा वाक्-ज्योति के विजातीय होने के कारण अन्नों में हमने उसकी (वाक् की) पृथक् गणना कर डाली है, अतः प्रकाश खुराक है-इससे सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि-तीन ही का ग्रहण समझना चाहिए। तीनों ही वास्तव में अग्नि ही हैं, अतएव प्रकृत में तीनों को अग्निशब्द से कह दिया गया है। कहना इस प्रपञ्च से हमें यही है कि प्रकाश भी आत्मा का अन्न है। चौथी **है-हवा** श्वास-प्रश्वास के अधिष्ठाता तो वायुदेव ही हैं। इनका अन्नत्व तो किसी से भी नहीं छुपा है। पाँचवां अन्न है-आवाज, जिसका विवेचन कर दिया गया है। छठा अन्न है-क्रिया। यह मनुष्य हरवख्त कुछ न कुछ किया करता है। क्रिया इस आत्मा का स्वाभाविक अन्न है। विना क्रिया के यह एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः"॥[1]

जिस दिन क्रिया न रहेगी-उस दिन आत्मा ही न रहेगा। सातवीं (७वीं) खुराक है-ज्ञान। यह मनुष्य हरवख्त कुछ न कुछ जानता रहता है। इस जानने से इसे आनन्द आया करता है। जिसे ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती, जिसे सदसद्विवेक नहीं रहता-वह पद-पद पर ठोकरें खाता रहता है-अन्त में अल्पावस्था में ही शरीर छोड देता है। बस, इस प्रकार मनुष्य की खुराक कुल सात ही हैं-इसीलिए भगवान् वेदपुरुष कहते हैं—

१ गीता ३।५।

"यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् । त्रीण्यात्मनेऽकुरुत । पशुभ्य एकं प्रायच्छत् । तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च" ।।[1]

कहना हमें सारे प्रपञ्च से यही है कि यह आत्मा सदा इन सातों अन्नों को खाया करता है । इनसे जो आनन्द आता है–तृप्ति होती है–उसी से हर्षस्वरूप आत्मा की स्थिति होती है । आत्मा की स्थिति का एकमात्र कारण अन्न से प्राप्त होने वाली तृप्ति ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदोषधीर्वारि यदग्निवायू वाचं बलं ज्ञानमिहान्नमत्ति ।
स सर्वतस्तृप्तिमुपेत्य शश्वद्धर्षं स गृह्णाति स हर्ष आत्मा" ।।६१।।

अन्न कुल सात ही प्रकार के हैं । इन सातों अन्नों में से यदि आनन्द-रस का अनुभव नहीं होता है–सातों में इस आनन्द आत्मा को आनन्द नहीं आता है–उनमें यह व्याप्त नहीं होता है, अपि तु, सातों से एक प्रकार की स्वाभाविक घृणा होने लगती है तो यह न महान् होता है और न तृप्ति को ही प्राप्त होता है । तात्पर्य्य यही है कि आत्मा रसस्वरूप है । इसका आयतन रस से बढता है–आनन्द से बढता है । यदि इन सातों में ही इसे आनन्द नहीं आता है तो न इसका आयतन बढता है–न तृप्त होता है । कहने का तात्पर्य्य यही है कि जब मनुष्य को सातों अन्न फीके लगने लगते हैं–किसी में आनन्द नहीं आता है–तो समझलो वह जल्दी ही मरेगा । क्योंकि आनन्द ही से तो जिन्दगी रहती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एतेषु वा सप्तविधेषु भोग्येष्वन्नेषु नानन्दरसो यदि स्यात् ।
आनन्द आत्मा विभवेन्न तेषु महांश्च न स्यान्न च तृप्तिमेयात्" ।।६२।।

आनन्द ही से आत्मा की स्थिति रहती है । हम आँख खोलकर आकाश की ओर देखते हैं तो तबियत खिल पड़ती है । उस विशालता के राज्य में हमारा आत्मा प्रफुल्लित रहता है । हम आपसे पूछते हैं कि यदि परमेश्वर आपके मस्तक के एक या दो गज ऊपर एक सपाट छत बना देता तो आप दुःख पाते या सुख ? हृदय पर हाथ रखकर यदि आप इस प्रश्न का उत्तर देंगे तो सिवाय 'दुःख' के आपके मुँह से कुछ नहीं निकल सकता । यदि यह आकाश आनन्द न होता तो आत्मा कहाँ विचरता ? कहाँ जाता ? इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" ।।[2]

---

१ बृहदा० उप० १।५।१ ।   २ तैत्ति० उप० २।७ ।

कहाँ तक कहें ? यह मनुष्य जो कुछ सुनता है-जो कुछ देखता है-जो कुछ जानता है-बस, इन सारे कार्य्यों से इसमें एक प्रकार की धृति-धारणात्मक शक्ति उत्पन्न होती है। सुनना-जानना-देखना-इससे अनुभव बढता है। धृति उत्पन्न होती है। बस, वही सुख है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राण्यादिहान्यादपि कः क्षणं वा नानन्दमाकाशमिदं यदि स्यात् ।
शृणोति यत् पश्यति वेत्ति यद्वा धृति तदाप्नोति सुखं तदिष्टम्" ॥६३॥

"आहारतो वाथ विहारतो वा सा निर्वृतिर्यत्र रमेत लोके ।
सर्वत्र लोके रमते हि लोकस्तस्मात् स आनन्द इहास्ति भूमा" ॥६४॥

१८—आनन्दविज्ञानसत्तानां समष्टेरव्याकृतरूपत्वम् ।

आनन्द, विज्ञान, सत्ता—की समष्टि का अव्याकृतत्व—

जो अन्तिम आनन्द है एवं जो परमा सत्ता है-अन्तिम सामान्य है-वह एवं जो परम ज्ञान है-इन तीनों का जहाँ ऐक्य समन्वय हो जाता है-जहाँ तीनों एकत्र हो जाते हैं-वहाँ सत्ता, ज्ञान और आनन्द-तीनों का भेद नहीं किया जा सकता। तीनों उन्मुग्ध रहते हैं। सत्ता, चेतना, आनन्द की समष्टि को-ऐकात्म्य को ही 'आत्मा' कहते हैं। इसमें तीनों का भेद नहीं किया जा सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आनन्द इत्थं परमोऽथ सत्ता परा, परं ज्ञानमिति त्रयाणाम् ।
यत्रैक्यमायाति न तत्र सत्ता ज्ञानं स आनन्द इति प्रभेदः" ॥६५॥

संसार में घटपटादिभेदेन अनन्त ज्ञान हैं एवं ज्ञानभेद से रस भी अर्थात् आनन्द भी अनन्त हैं एवं ज्ञानभेदात् अर्थसत्ता भी अनन्त हैं। बस, जितने भी ज्ञान हैं-जितने भी आनन्द हैं एवं जितने भी अर्थ-सत्ताएँ हैं-इन सबकी कोई समष्टि अवश्य ही माननी पड़ेगी। इनका कोई न कोई खजाना अवश्य ही मानना पड़ेगा-जहाँ से ये निकलते हैं। बस, जो इनका जो खजाना है-वही यह सच्चिदानन्दघन आत्मा है। आत्मा में इन तीनों का भेद नहीं है-अपि तु, विश्व में भेद है। आत्मा एकस्वरूप है-विश्व नानाभावाक्रान्त है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"ज्ञानानि यावन्ति सुखानि यावन्त्येव नु यावत्य इहार्थसत्ताः ।
एषां समष्टिर्ध्रुवमस्ति काचित् स एष आत्माऽत्र न तद्विभेदः" ॥६६॥

आत्मा सच्चिदानन्द है एवं विश्व सच्चिदानन्दवत् है। यही इस प्रकरण का विषय है। इस प्रथम खण्ड में–सच्चिदानन्द का ही स्वरूप बतलाया गया है।

।। इति प्रथमः सच्चिदानन्दखण्डः सम्पूर्णः ।।

अथ

कृष्णत्रिसत्योपनिषत् चतुःखण्डा (द्वितीयं पर्व)

तत्रादौ

द्वितीयो जीवेश्वरखण्डः

२

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ जीवेश्वरखण्डः प्रारभ्यते ।।

१—ईश्वराणां जीवत्वम् ।

इत्थं त्रयाणामविनाकृतत्वात् सत्ताचिदानन्दमयो य आत्मा ।
स एक एव द्विविधोऽयमासीज्जीवोऽयमन्यः परमेश्वरोऽन्यः ।।९७।।

विश्वं यदेतत् प्रतिभात्यनन्तं स एक आत्मा परमेश्वरोऽस्ति ।
अन्तर्भवन्ति प्रमिताङ्गसंस्थास्तत्रात्मभेदा नितरामसंख्याः ।।९८।।

जीवा हि ते तेषु भवन्ति जीवास्तत्रापि जीवा बहवो निविष्टाः ।
जीवैः समाक्रान्तमिदं शरीरं ह्य ेकैकजीवस्य तथेश्वरस्य ।।९९।।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मैः कृमिभिः शरीरं व्याप्तं नराणां पशुपक्षिणां च ।
पृथ्वी जलं तेज इदं स वायुर्व्योमापि जीवैः परितः परीतम् ।।१००।।

व्योमादिभिस्तैरमितैश्च जीवैर्ब्रह्माण्डमेतत्परितः परीतम् ।
हिरण्यगर्भः स हि जीव आद्यस्तथाविधाः सन्ति परेऽप्यनन्ताः ।।१०१।।

हिरण्यगर्भं प्रथमं तु जीवं केचिद्वदन्तीश्वरमीश्वराः स्युः ।
उपासकानां समये प्रसिद्धा अपेक्षितास्ते परमेश्वरस्थाः ।।१०२।।

बहुत्वहेतोः प्रमितत्वहेतोर्जन्मप्रणाशक्रमवत्वहेतोः ।
अन्यात्मगर्भाभिनिवेशहेतोस्त ईश्वराः सन्ति तु जीवतुल्याः ।।१०३।।

य एक आत्मा परमेश्वरोऽन्यः स नान्यगर्भाशयसंनिविष्टः ।
न जन्मनाशौ न च तस्य सीमा जहाति न प्राणमतो न जीवः ।।१०४।।

तत्रास्ति सत्ताऽखिलविश्वसत्ता ज्ञानं तु यावद्विषयैकभानम् ।
रसस्तु पूर्णं जगदस्ति भातं परं न तस्मादखिलात्मनोऽस्ति ।।१०५।।

२—ज्ञानक्रियार्थप्रपञ्चः ।

तत्रेह तावत् परमेश्वरे स्थिताः याः शक्तयोऽशेषविधा घनात्मना ।
त्रिधा विभक्ताः प्रभवन्ति ता इमा ज्ञानक्रियार्थोद्भवनप्रयोजिकाः ।।१०६।।

किञ्चिद्बलं चेतनयाऽनुसंहितं ज्ञानेऽक्रिये वर्तयति क्रियां ततः ।
ज्ञानोदयः स्याद्विषयावगाहनात् सा ज्ञानशक्तिः प्रथिता प्रकाशिका ॥१०७॥
किञ्चद्बलं तु क्षणभङ्गुरां क्रियां गत्यादिरूपां जनयद्विनश्यति ।
प्रत्यर्थचेष्टा यत उद्भवन्ति सा मता क्रियाशक्तिरियं प्रवर्तिका ॥१०८॥
किञ्चिद्बलं प्राप्य रसं तमेकवत् स्थितिं सुविच्छिद्य करोत्यनेकवत् ।
ततोऽर्थसृष्टिर्भवतीह कृत्स्नशस्तामर्थशक्तिं विदुरर्थसर्जिकाम् ॥१०९॥
ता एव वाक्प्राणमनांसि चक्षते प्राणात् क्रिया, ज्ञानमिदं मनोमयम् ।
वागर्थशक्तिर्भवति प्रकाशनं[1] चेष्टा[2] च वस्तुस्थिति[3]रेभिरन्वहम् ॥११०॥
सा चार्थशक्तिस्त्रिविधा प्रसिद्धा विक्षेपकामावरणप्रभेदात् ।
विज्ञानतः काम उदेत्यशान्तानन्दं स विक्षेप्य करोत्यशान्तम् ॥१११॥
शान्ते रसे यावति काचिदिच्छा विक्षेप एतावति रूपमेति ।
विक्षेपसीमावरणं हि वस्तु स्वरूपमुद्भावयतीति मन्ये ॥११२॥
विक्षिप्यमाणो हि रसः प्रशान्ताद् रसाद्विभेदेन विभाति सद्यः ।
यावान् रसः सोऽस्ति ततः परस्तात्समन्ततो नास्ति तथाऽऽवृतिः सा ॥११३॥
इत्थं विभिन्नावरणप्रभावतो विभिन्नवस्तूनि विभान्ति सर्वतः ।
छन्दांसि तान्याकृतयश्च ता इमाः स्युर्जातयो व्यक्तय आसु चान्तराः ॥११४॥
एतैर्विशेषैः कृतया विभिन्नया धिया परिच्छिद्य परिग्रहादयम् ।
रसः स एको बहुधा प्रतीयते तां सृष्टिमाहुः पृथगस्तिताधियम् ॥११५॥
न वस्तुतः काचन सृष्टिरिष्यते रसस्य नैकस्य हि भेदसंभवः ।
विज्ञानमात्रं तु विभिन्नकामजाद्विक्षेपतो भिन्नतया पृथक्त्वकृत् ॥११६॥
एकं जलं छन्दसि भेदतो यथा सरित्सरःसागरनिर्झरादिभिः ।
उल्लोलवीचीभ्रमिफेनबुद्बुदादिभिश्च रूपैः प्रतिपद्यते पृथक् ॥११७॥
तथा स एको रस एव सर्वतः पूर्णः प्रशान्तोऽखिलशक्तिरूपया ।
अस्त्या विभातीति विभिन्नशक्तिभिर्विभिन्नबुद्धया बहुधावसीयते ॥११८॥
इत्थं विभिन्नं प्रतिपन्नमस्य यद्रूपं हि तद्विश्वमिदं प्रसिद्धचति ।
अपोह्य भेदं यदि सर्वमेकवद्वीक्षे स आत्मा परमेश्वरो मतः ॥११९॥

३–क्षोभेऽपि रसस्य शान्त्यभङ्गः ।

विक्षेपकामावरणप्रभावादात्यन्तिकक्षोभ इहास्तु शश्वत् ।
रसः स्वतस्त्वेष परः प्रशान्तः क्षुभ्यन्त्य एता इह शक्तयः स्युः ॥१२०॥

पूर्णोऽयमाकाश इहास्ति वायुग्रामः परिक्षुब्धतरः समन्तात् ।
क्षुभ्यत्सु वायुष्वपि नैव जातु क्षुभ्यत्यमुष्यास्ति न शान्तिभङ्गः ॥१२१॥

प्रत्येकविक्षुब्धमरुत्सु गूढं व्योमास्ति न व्योम्नि तु जातु कम्पः ।
क्षुब्धासु शक्तिष्वभितो रसोऽयं रसे तु न क्षोभ इति स्म केचित् ॥१२२॥

या चोन्नतिर्या च नती रसौ तौ याऽवस्थितिर्या च गती रसौ तौ ।
यदस्ति यन्नास्ति तथा रसौ तौ क्षोभेपि किञ्चिन्न रसात् पृथक् स्यात् ॥१२३॥

दिग्देशकालावयवा रसोऽयं विशेषसामान्यविधा रसोऽयम् ।
भिदा पृथक्त्वाकृतयो रसोऽयं क्षोभेऽपि किञ्चिन्न रसात् पृथक् स्यात् ॥१२४॥

ज्ञानेन तस्मिन् प्रभवन्तु भेदा ज्ञानं रसः सर्वविधा रसः सः ।
रसो रसत्वान्न यदि च्यवेत क्षोभेऽपि किञ्चिन्न रसात् पृथक् स्यात् ॥१२५॥

ज्ञानक्रियालम्बनमन्यदाभ्यां ज्ञानक्रियाभ्यां स रसो रसात्तु ।
ज्ञानक्रिये अव्यतिरिक्तरूपे क्षोभेपि किञ्चिन्न रसात् पृथक् स्यात् ॥१२६॥

ज्ञानक्रियाभूः प्रकृती रसोऽयं ज्ञानक्रियाभ्यां विकृती रसोऽयम् ।
ज्ञानक्रिये ते च यतो रसोऽयं क्षोभेऽपि किञ्चिन्न रसात् पृथक् स्यात् ॥१२७॥

तदित्थमालम्बनवत् प्रतीतो रसः स आनन्द इति प्रसिद्धः ।
सत्तेव विज्ञानमिव प्रतीतः स एक एव त्रिविधो रसः स्यात् ॥१२८॥

४–जीवानां परमेश्वरत्वसंपत्तिः ।

सत्ता चिदानन्दमयो य आत्मा स सच्चिदानन्द इति प्रसिद्धः ।
एको विभुर्यः परमेश्वरोऽयं जीवास्ततः स्युः प्रमिता असंख्याः ॥१२९॥

अर्थक्रियाकारितया तु सत्ता जीवेषु दृष्टा, यदिमे शरीरे ।
रसासृगाद्याः प्रभवन्ति भावास्तमेकमात्मानमनुप्रविष्टाः ॥१३०॥

जीवेषु विज्ञानमिदं प्रकाशि तदक्षसापेक्षमुदेति तस्य ।
क्रियाश्चतस्रो, विषयप्रवलृप्तिस्तद्धारणं तल्लयनप्रबोधौ ॥१३१॥

प्रकल्पनात् सृष्टिरमुष्यरूपं तद्धारणाद्भाति लयात्सुषुप्तिः ।
उद्बोधनाज्जागृतिरस्ति जीवे संभाव्यते तत्परमेश्वरेऽपि ॥१३२॥

ज्ञाता अपीमे निखिला इहार्थाः पर्य्यायतो भान्ति समं न सर्वे ।
य एक उद्बोधति तत्र चान्ये सर्वे प्रसुप्ता इति हि क्रमोऽस्ति ॥१३३॥

अत्यल्पमात्रस्य मितस्य जीवस्यैतस्य वृद्धयै सततोत्सुकस्य ।
शक्त्युन्नतेरात्मनि तत्र सत्ता विज्ञानभूम्ना रसमानवृद्धिः ॥१३४॥

योऽस्तीह जीवः सहजाल्पमात्रावच्छिन्न एषोऽस्ति परेश्वरांशः ।
क्रमेण स स्वावरणं विभिन्दन् भूमानमानन्दरसं प्रयाति ।।१३५।।
अयं स आनन्द इहास्ति जीवे यदा यदा वृद्धिमसावुपैति ।
क्रमात्तदानन्दमुपैति सोऽन्ते निरावृते भूम्नि महेश्वरः स्यात् ।।१३६।।
सत्ता चिदानन्दमयः परेशः सत्ता चिदानन्दमयः स जीवः ।
सत्ता चिदानन्दमयं जगत्तत् तस्मात् त्रिसत्यं प्रवदामि नित्यम् ।।१३७।।
सन्नेष आनन्द इयं तु सत्ताऽसती चिदेषा सदसत्स्वरूपा ।
यत् सच्चिदानन्दमयं समस्तं तेनाहुरेतत् सदसत्पदेन ।।१३८।।

।। इति द्वितीयो जीवेश्वरखण्डः सम्पूर्णः ।।

अथ जीवेश्वरखण्डः प्रारभ्यते—

१–ईश्वराणां जीवत्वम् ।

ईश्वर (भी) जीव ही हैं—

[हिन्दीविज्ञानभाष्य] सर्वबलविशिष्ट रस को परात्पर कहते हैं । जब बल सृष्टिस्वरूप से पृथक् रहता है तो वह सर्वात्मना उस रस में प्रसुप्त रहता है । रस निराकार है–अत्यन्त सूक्ष्म है, अतएव अप्रत्यक्ष है । प्रत्यक्ष बल ही का हुआ करता है । बल ही रस का लक्षण है । बल द्वारा रस को पहचाना जाता है । आँख खोलने के साथ ही हमारी ज्ञानज्योति में अनन्तानन्त बाहर के पदार्थ चमक पड़ते हैं । इसी का नाम शुक्लत्व है । जो पदार्थ ज्ञान में चमक पड़ते हैं–वे बल ही बल हैं । परन्तु जब ये सारे बल सर्वात्मना उस रस में सो जाते हैं तो फिर शुक्लरूप अर्थात् विश्व का स्वरूप गायब हो जाता है । रस में उद्बुद्ध बल का नाम ही संसार है । रस में सुप्त बल का नाम ही संसाराभाव है । बस, सुप्तबलयुक्त जो रस है–उसे परात्पर कहते हैं । बलसुषुप्त्या इस रस का कुछ भी भान नहीं होता, अतएव इसे (सर्वबलविशिष्ट परात्पर को) तमोमयतत्त्व–कृष्णतत्त्व कहा जाता है । जिसका भान होता है–वह 'शुक्ल' नाम से व्यवहृत होता है । विश्व–शुक्लस्वरूप है–विश्वातीततत्त्व कृष्ण-स्वरूप है । सृष्टि के पहले यही तत्त्व रहता है । इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः" ॥[१]

इसी के लिए–**तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे**[२]–यह कहा जाता है । यह जो सर्वबलविशिष्ट रस है जो कि परात्पर नाम से व्यवहृत होता है–मायाबल के प्रादुर्भाव के कारण परिच्छिन्न हो जाता है–ससीम बन जाता है । मायाबल एक नहीं है–अनन्त हैं, अतएव उस परात्पर पर मायाबलों के आनन्त्यात् अनन्त ससीमभाव उत्पन्न हो जाते हैं । बस, मायाबलावच्छिन्न वह प्रत्येक ससीम रस 'ईश्वर' नाम से व्यवहृत होता है । चूंकि ससीम रस अनन्त हैं, अनएव उस परात्पर के पेट में अनन्त ईश्वर होते हैं । ईश्वर का जगत्–जो कि स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा और पृथिवी–इन पाँच मण्डलों में विभक्त रहता है–ब्रह्माण्ड कहलाता है । चूंकि ईश्वरानन्त्यात् जगत् ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं, अतएव इस परमेश्वर को **अखिल ब्रह्माण्ड-नायक** बतलाया जाता है । इन ईश्वरों की अपेक्षा परात्पर कहीं अधिक बडा है, अतएव उसे परमेश्वर कहा जाता है । परमेश्वर अर्थात् परात्पर असीम है एवं ईश्वर अर्थात् महेश्वर ससीम हैं एवं अनन्त हैं । हमें अनन्त ईश्वरों के विषय में कुछ नहीं कहना क्योंकि

---

१ मनुस्मृति १।५ । २ ऋग्वेद मं० १०।१२९।३ ।

उन सबसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा सम्बन्ध एक ब्रह्माण्ड से है न कि अनन्त ब्रह्माण्डों से। हम एक ब्रह्माण्ड के भीतर रहने वाले हैं, अतः हमारे ब्रह्माण्ड का जो अधिष्ठाता ईश्वर है–उससे ही ही हमारा प्रयोजन है। चूंकि हमारी (जीवों की) अपेक्षा से तो हमारा ईश्वर ही बहुत बडा है, अतएव हम अपनी ओर से उसे ईश्वर न कहकर परमेश्वर ही कहेंगे। परात्पर की अपेक्षा से वह ईश्वर है परन्तु हमारी अपेक्षा से तो वह परमेश्वर ही है। वह परमेश्वर उस परात्पर-रस से उत्पन्न होने वाला है। उत्पन्न होने वाला क्या है? मायाबल के कारण जो रस परिच्छिन्न होकर 'मायी' बन जाता है–वही ईश्वर कहलाने लगता है। इसे ही हम अपनी अपेक्षा से परमेश्वर कहते हैं यह परमेश्वर ही आत्मा नाम से व्यवहृत होता है। चूंकि स्वयम्भू आदि एक ब्रह्माण्डान्तर्गत विश्वसृष्टि का कर्त्ता यही परमेश्वर है एवं यह सृष्टि ही इसका शरीर है, अतएव इस शरीरापेक्षया ही–यह परिच्छिन्न रस अर्थात् 'आमु' आत्मा कहलाने लगता है। आत्मा और शरीर दोनों सर्वथा अविनाभूत हैं। विना आत्मा के शरीर नहीं रह सकता–विना शरीर के आत्मा नहीं रह सकता। आत्मा ही उस पञ्चपुण्डीरा वल्शास्वरूप-ब्रह्माण्डस्वरूप शरीर के केन्द्र में रहता हुआ उसका सञ्चालन किया करता है, अतएव इसके लिए–**बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः**–यह कहा जाता है। अपि च–**प्रजापतिश्चरति गर्भे०**–भी इसी के लिए कहा जाता है। यह ईश्वर यह आत्मा जो कि मायाबलोद्भव के पहले असीम था, अतएव एक स्वरूप था–वही मायाबल के कारण ससीम होता हुआ एक ही रस–'सत्ता, चेतना, आनन्द'–इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। इस सच्चिदानन्द आत्मा से उत्पन्न जो यह शरीर है अर्थात् विश्व है–वह इसी से उत्पन्न होता है, अतएव विश्व भी सच्चिदानन्दम् ही है। आत्मा-सत्ता, चेतना, आनन्दस्वरूप है। विश्व सत्-चित्-आनन्दवत् है। विश्व में सत्-चित्-आनन्द का पृथक्त्व प्रतीत हो जाता है, परन्तु आत्म-स्वरूप सच्चिदानन्द को पृथक्त्वेन हर्गिज़ नहीं देखा जा सकता। तीनों की जो उन्मुग्धावस्था है–अविनाभूतभाव है, उसे ही 'आत्मा' कहते हैं एवं तीनों का जो भेद है–वही संसार है। नानाभाव विश्व है–एक भाव आत्मा है। इसी आत्मा को 'चिदात्मा' कहा जाता है। अक्षरद्वारा इस आत्मा पर प्राण-वाक् का चिनाव होता है, अतएव सच्चिदानन्द आत्मा को 'चिदात्मा' कहा जाता है। चूंकि चिनाव अक्षर से होता है, अतएव–**चीयते अनया**–इस व्युत्पत्ति से अक्षर को चेतना कहा जाता है।

सम्पूर्ण कथन से बतलाना हमें यही है कि सत्ता, चेतना, आनन्द- इन तीनों के अविनाकृतत्व से जो सच्चिदानन्दमय आत्मा है–वह एक होता हुआ भी प्रतिबिम्बभाव से जीव और परमेश्वरभेदेन दो प्रकार का हो जाता है। दो हजार पानी भरे घड़ों में एक ही सूर्य्य जैसे दो हजार प्रतिबिम्बस्वरूपों में परिणत हो जाता है तद्वत् महान् पर प्रतिबिम्बित यह चिदात्मा महान् के अनन्तत्वात् अनन्तानन्त-स्वरूप धारण कर लेता है। जो साक्षात् चित् है- वह सूर्य्यवत् एक है एवं चित् के जो प्रतिबिम्ब हैं–वे सूर्य्यप्रतिबिम्बवत् अनन्त हैं। बस, इन चिदाभासों को ही जीव कहते हैं एवं जिसका यह आभास पड़ता है–उसे इन आभासों की अपेक्षा परमेश्वर कहते हैं। प्रतिबिम्ब तरल पदार्थ पर–स्वच्छ पदार्थ पर पड़ा करता है। चूंकि तरल पदार्थ पानी, सोम और हवा- ये तीन ही हैं, अतएव जीव भी आप्य, सौम्य और वायव्य भेदेन तीन ही प्रकार के होते हैं।

महान् ही का नाम सोम है। सोम की ही घन-तरल-विरल अवस्था का नाम पानी, वायु और सोम है। तीनों सोम ही हैं। बस, इस सोम पर ही चित् का आभास पड़ता है। चिदात्मा को ग्रहण करने की शक्ति महान् में ही है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता"॥[1]

कहना यही है कि वह सच्चिदानन्द आत्मा प्रतिबिम्बभेदेन परमेश्वर और जीव दो प्रकार का बन जाता है परन्तु हम इतना फिर स्मरण दिला देते हैं कि इस आत्मा को जीवापेक्षया हमने परमेश्वर कहा है—वस्तुतः यह ईश्वर ही है। परमेश्वर तो परात्पर ही हो सकता है—अन्य नहीं। बस, इसी बात को बतलाते हुए गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इत्थं त्रयाणामविनाकृतत्वात् सत्ताचिदानन्दमयो य आत्मा।
स एक एव द्विविधोऽयमासीज्जीवोऽयमन्यः परमेश्वरोऽन्यः" ॥९७॥

आँख खोलने पर जो एक यह अनन्त बडा विशाल विश्व दिखलाई पड़ता है—जिसमें कि पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य्य-ग्रह-नक्षत्र-परमेष्ठी आदि आदि सारे प्रपञ्च समा रहे हैं—वह सारा विश्व एक आत्मा के आधार पर स्थिर है। इस सारे ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता वह एक आत्मा है—जो कि 'परमेश्वर' नाम से पुकारा जाता है। इस परमेश्वर के पेट में अपनी अंग संस्थाओं को ससीम रखने वाले अर्थात् क्षुद्रशरीर धारण करने वाले अनन्तानन्त आत्मभेद हो जाते हैं। अर्थात् वही परमेश्वर महान् पर प्रतिबिम्बित होकर अनन्तस्वरूपों में परिणत हो जाता है। बस, इन अनन्तचिदाभासों को ही जिनका कि शरीर अतिक्षुद्र है—जीवशब्द से व्यवहृत किया जाता है। चिदाभास जीव कैसे है? महान् पर चित् का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ जाता है? इसका विस्तृत विवेचन हम **जीव-जगत्-संशयवाद-प्रतिवाद** नामक प्रकरण में करने वाले हैं, अतः वहीं देखना चाहिए। यहाँ सिर्फ इतना ही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठाता जो एक आत्मा है—वह तो परमेश्वर कहलाता है एवं उस परमेश्वर के पेट में प्रमिताङ्ग संस्था (परिच्छिन्न क्षुद्रशरीर) वाले अनन्तानन्त चिदाभास ही जीव कहलाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विश्वं यदेतत् प्रतिभात्यनन्तं स एक आत्मा परमेश्वरोऽस्ति।
अन्तर्भवन्ति प्रमिताङ्गसंस्थास्तत्रात्मभेदा नितरामसंख्याः" ॥९८॥

---

१ गीता १४।३-४।

बस, महान् पर प्रतिबिम्बित प्रमिताङ्गसंस्थ चिदाभासस्वरूप जो अनन्त आत्मा हैं-वे ही 'जीव' कहलाते हैं। अस्मदादि ही जीवशब्देन व्यवहृत होते हैं-हमारे शरीर पर यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि डालते हैं तो अनेकानेक जीव पाते हैं। हमारे शरीर में अनन्तानन्त जीव भरे हुए हैं। मांस-मज्जा-शुक्र-असृक् आदि में बे-अन्दाज कीटाणु भरे हुए हैं-जिनकी कि संख्या का पता लगाना मुश्किल ही नहीं बल्कि असाध्य है। इन्हीं जीवों को 'सेल' कीड़ा कहा जाता है। हम अपनी परिभाषानुसार इन कीड़ों को 'इङ्गात्मा' नाम से व्यवहृत करते हैं। ये इङ्गात्मा मरते रहते हैं-उत्पन्न होते रहते हैं। यदि सच पूछा जाए तो इन इङ्गात्माओं की समष्टि का नाम ही 'शरीर' है। अनन्तानन्त इङ्गजीवों की समष्टि को ही 'शरीर' कहते हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि अस्मदादि चिदाभासस्वरूपजीवों में 'इङ्गात्मा' नाम के अनन्त जीव रहते हैं एवं उन प्रत्येक इङ्गात्माओं में भी अनन्तानन्त कीटाणु व्याप्त रहते हैं? कहाँ तक कहें?-एक बिन्दु भी ऐसी नहीं है जहाँ जीव न हों। इसी अभिप्राय से कहा जाता है-

स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथा सूक्ष्मसूक्ष्मात्सूक्ष्मतरैस्तथा।
स्थूलात्स्थूलतरैश्चैव सर्वं प्राणिभिरावृतम्" ॥
"अङ्गुलस्याष्टभागोऽपि न सोऽस्ति मुनिसत्तम।
न सन्ति प्राणिनो यत्र कर्म्मबन्धनिबन्धनाः ॥[1]

कहना हमें यही है कि इन चिदाभासस्वरूप जीवों में अनन्त जीव हैं-जो कि 'सेल' नाम से प्रसिद्ध हैं एवं उनमें भी फिर अनन्त जीव हैं। इस प्रकार से यह हमारा (जीव का) शरीर अनन्तानन्त जीवों से आक्रान्त हो रहा है। हमारा ही नहीं अपि तु, यच्चयावज्जीवों का-प्रत्येक का शरीर इन अनन्त जीवों से आक्रान्त है। बस, जैसे हमारा शरीर अनन्तानन्त जीवों से आक्रान्त हो रहा है-तद्वत्-उस ईश्वर का शरीर अस्मदादि चिदाभासस्वरूप अनन्तानन्त जीवों से आक्रान्त है। जिस प्रकार सेलजीवों की समष्टि हमारा शरीर है तद्वत् हमारी समष्टि उसका शरीर है। उसके शरीर में हम सारे जीव रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"जीवा हि ते तेषु भवन्ति जीवास्तत्रापि जीवा बहवो निविष्टाः।
जीवैः समाक्रान्तमिदं शरीरं ह्यकैकजीवस्य तथेश्वरस्य" ॥६६॥

जो कीड़े खुर्दवीन से ही देखे जा सकते हैं-जो कि शरीरविज्ञान में-कीटाणु नाम से प्रसिद्ध हैं-ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटों से मनुष्यों का एवं पशुपक्षियों का शरीर व्याप्त हो रहा है। मनुष्यों के शरीर में जैसे अनन्त कीटाणु भरे हुए हैं तद्वत् पशु और पक्षियों के शरीर में भी अनन्त कीटाणु भरे हुए हैं। इसी प्रकार पृथिवी-जल-तेज-वायु और आकाश भी चारों ओर से आसमन्तात् अनन्तानन्त जीवों से घिर रहे हैं। सारी पृथिवी अस्मदादि अनन्त जीवों से अभिव्याप्त है। जल भी मत्स्यादि

१ विष्णु पुराण ३।७।३-४।

आप्यजीवों से आक्रान्त है। सूर्य्य एवं चन्द्रमा भी सौर एवं चान्द्र जीवों से अर्थात् देवताओं और गन्धर्वों से अभिव्याप्त है। इसी प्रकार वायु और आकाश भी जीवों से आक्रान्त हो रहा है। तात्पर्य्य यही है कि जैसे–हमारा और पशुपक्षि आदि का शरीर अनन्त जीवों से आक्रान्त है–तद्वत्–पृथिवी–सूर्य्य–चन्द्रमा–वायु–जल–आकाशादि भी अनन्त जीवों से अभिव्याप्त हैं। कोई भी स्थान ऐसा नहीं है–जहाँ जीव न हो। **सर्वं प्राणिभिरावृतम्**–यह अटल सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का बाध त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सूक्ष्मातिसूक्ष्मैः कृमिभिः शरीरं व्याप्तं नराणां पशुपक्षिणां च।
पृथ्वी जलं तेज इदं स वायु र्व्योमापि जीवैः परितः परीतम्" ॥१००॥

जैसे–हम एक प्रकार के जीव हैं–तद्वत्–पृथिवी-जल-तेज-वायु वगैरह भी एक प्रकार के जीव हैं। पृथिवी शरीर में–पृथिवी के केन्द्र में भी हमारे शरीर की तरह आत्मा बैठा हुआ है। मनःप्राण-वाङ्मय आत्मा–जिन्हें जड़ पदार्थ समझा जाता है–उनमें भी है एवं चेतन में तो सभी मानते हैं। वैज्ञानिक परिभाषा में चेतन-अचेतन का व्यवहार ही नहीं है। सब में आत्मा है। **आत्मैवेदं सर्वम्**–यही हमारा सिद्धान्त है। जड़चेतन का जो व्यवहार प्रचलित है–वह केवल इन्द्रिय-अनिन्द्रिय भेद के आधार पर अवलम्बित है। जो पदार्थ सेन्द्रिय होता है–वह चेतन कहलाता है एवं जो निरिन्द्रिय होता है–वह अचेतन कहलाता है। इसी अभिप्राय से चरक संहिता में कहा गया है—

"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्"।[1]

परन्तु आत्मा सब में है। जब यह बात है तो अस्मदादिवत् पृथिवी-आकाशादि को भी हम अवश्य ही आत्मा कह सकते हैं। आत्मा ही को जीव कहते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं–पृथिवी–वायु–आकाशादि से एवं तदन्तर्गत अनन्तानन्त जीवों से यह ब्रह्माण्ड आसमन्तात् घिरा हुआ है। सारा ब्रह्माण्ड असंख्य जीवों से आक्रान्त हो रहा है। बस, जिसमें यह अनन्तानन्त जीव व्याप्त हो रहे हैं–वही जीव–**हिरण्यगर्भ** नाम से व्यवहृत होता है। सर्वबलविशिष्ट रस में–परात्पर में–मायाबल से उत्पन्न होने वाला पहला जीव यही है जो कि हिरण्यगर्भ नाम से व्यवहृत होता है। जीवों में सबसे पहले उत्पन्न होने वाला–हिरण्यगर्भ नाम का यही 'जीव' है। जीव नहीं महाजीव है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

**"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम"॥**[2]

१ चरकसंहिता-सूत्रस्थान–१।४७।
२ ऋग्वेद मं० १०।१२१।१।

जैसे हम अनन्तजीव हैं- तद्वत्-हिरण्यगर्भ जीव भी अनन्त ही हैं। सर्वबलविशिष्ट व्यापक रस का नाम ही परात्पर है। इस परात्पर में मायाबल के कारण ही इस हिरण्यगर्भ जीव की उत्पत्ति होती है। चूंकि मायाबल अनन्त हैं, अतएव प्रत्येक मायाबल के अनुसार एक एक जीव उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार मायाबलानन्त्यात् अस्मदादिवत् हिरण्यगर्भ जीव भी अनन्त ही हो जाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"व्योमादिभिस्तैरमितैश्च जीवैं र्ब्रह्माण्डमेतत् परितः परीतम्।
हिरण्यगर्भः स हि जीव आद्यस्तथाविधाः सन्ति परेऽप्यनन्ताः" ॥१०१॥

पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि जीवसृष्टि का प्रारम्भ हिरण्यगर्भ ही है। सर्वबल-विशिष्ट रसस्वरूप परात्पर से मायाबलवशात् सर्वप्रथम **हिरण्यगर्भ** नाम का ही जीव उत्पन्न होता है। बस, सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले इस हिरण्यगर्भ जीव को ही कई दार्शनिक (रामानुजादि) ईश्वर नाम से व्यवहृत करते हैं। वे दार्शनिक अपनी अपेक्षा से इस मायावच्छिन्न एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ जीव को-'ईश्वर' मानते हैं। चूंकि हिरण्यगर्भ अनन्त हैं, अतएव हम कह सकते हैं कि ईश्वर भी अनन्त ही हैं।

ज्ञानकाण्ड-उपासनाकाण्ड और कर्म्मकाण्ड, निगमागमादि सारा भारतीय शास्त्र-इन्हीं तीन काण्डों में विभक्त है। उपासना ही को 'भक्ति' कहते हैं। वेद में कुल तीन ही विषय हैं। जो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं-उनमें कर्म्मकाण्ड है। आरण्यक में उपासनाकाण्ड है एवं उपनिषदों में ज्ञानकाण्ड है। बस, ब्राह्मण ग्रन्थों की ग्रन्थिएँ सुलझाने वाला-कर्म्मकाण्ड की व्याख्या करने वाला जो दर्शन है, वह 'मीमांसा-दर्शन' कहलाता है। यह १२ अध्यायों में विभक्त है, अतएव पूर्व-मीमांसा को 'द्वादशलक्षणी' कहा जाता है। इसके रचयिता बादरायण के शिष्य महर्षि जैमिनि हैं। दूसरा-काण्ड है-उपासना नामका। इसके प्रतिपादक हैं-आरण्यक। बस, इसका विवेचन अर्थात् उपासना का विवेचन महर्षि शाण्डिल्य ने चार अध्यायों में किया है।[1] उन्होंने उपासना को भक्ति शब्द से भी व्यवहृत किया है। इसीलिए उपासना का लक्षण करते हुए कहते हैं—**सा परा भक्तिरीश्वरे।**

तीसरा है-ज्ञानकाण्ड। उपनिषत् इसी का प्रतिपादन करते है। चूंकि उपनिषत् वेद का अन्तिम भाग है-अतएव इसे वेदान्त भी कहा जाता है। इसकी व्याख्या भगवान् बादरायण ने चार अध्यायों में की है जो कि-'वेदान्त-दर्शन'[2] नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार सारा निगमप्रपञ्च बीस अध्यायों में वर्णित है—

हमें प्रकृत में यही बतलाना है कि हिरण्यगर्भजीव ईश्वर है-यह उपासकों का सिद्धान्त है। उपासना-काण्ड में अवश्य ही हिरण्डगर्भ को ईश्वर मानना चाहिए, क्योंकि उपासना अपरिच्छिन्न की-सर्वबलविशिष्ट रस की कथमपि नहीं हो सकती। उसके लिए तो-**यतो वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा**

१ 'शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र' २ ब्रह्म-सूत्र

सह–यही कहा जाता है । उपासना परिच्छिन्न की हो सकती है–हिरण्यगर्भ की हो सकती है–ईश्वर की हो सकती है न कि परात्पर की । इसीलिए तो उपासना के ग्राचार्य्य-महर्षि शाण्डिल्य-**सा परा भक्तिरीश्वरे**–यह कहते हैं । उपासना काण्ड में–जीव, जगत्, ईश्वर–इस विशिष्टाद्वैत का रामानुज-दर्शन का ही आश्रय लेना पड़ता है । उपासना विशिष्ट की ही हो सकती है । उपासना एक प्रकार की क्रिया है । क्रिया बल पर हो सकती है-न कि रस पर । बल उल्बण तो ईश्वर में ही रहता है । परात्पर में तो बल सूता (सुप्त) रहता है । भला, उसकी उपासना हो ही कैसे सकती है ? अतएव-उपासना के लिहाज से–भगवान् रामानुज का **विशिष्टाद्वैतवाद** एकान्तः उपादेय है । परन्तु ज्ञान-काण्ड में भगवान् शंकराचार्य के ग्रद्वैतवाद ही का आश्रयण करना पड़ता है । इन सारे मतों का विस्तृत विवेचन हम ग्रागे करने वाले हैं, अतएव इस प्रपञ्च को अधिक न बढाकर यहीं समाप्त करते हैं । हमें प्रकृत में केवल इतना ही कहना है कि हिरण्यगर्भजीव उपासकों के समय में ग्रर्थात् सिद्धान्त में ईश्वर नाम से व्यवहृत होते हैं । यह ईश्वर परमेश्वर में ही अर्थात् सर्वबलविशिष्ट रसस्वरूप परात्पर में ही रहते हैं । सारे हिरण्यगर्भजीव जिन्हें कि उपासना के लिहाज से ईश्वर कहते हैं–उसी परात्पर पर स्थित रहते हैं । तात्पर्य्य यही है कि प्रथमोत्पन्न हिरण्यगर्भ को उपासकलोग ईश्वर नाम से व्यवहृत करते हैं । ये ईश्वर ग्रनन्त हैं–एवं सब के सब उस परात्पर में रहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ग्रोझा जी ने कहा है—

"हिरण्यगर्भं प्रथमं तु जीवं केचिद्वदन्तीश्वरमीश्वराः स्युः ।
उपासकानां समये प्रसिद्धा ग्रपेक्षितास्ते परमेश्वरस्थाः" ।।१०२।।

जीव का सामान्य लक्षण है–ग्रनन्त होना, गर्भ में प्रविष्ट होना, परिच्छिन्न होना, जन्म लेना, मरना । बस, मरना–जीना–गर्भ में प्रविष्ट होना–परिच्छिन्न होना–ये ही जीव के धर्म्म हैं । चूंकि ये के ये ही धर्म्म उस हिरण्यगर्भ ईश्वर में मौजूद हैं, ग्रतएव हम उसे भी हमारी तरह–जीव ग्रवश्य ही कह सकते हैं ।

जैसे हम–उस ईश्वर के गर्भ में रहते हैं–तद्वत्–वह हिरण्यगर्भ उस परात्पर के गर्भ में रहता है । जैसे इस ईश्वर के पेट में हम ग्रनन्त जीव हैं तद्वत् परात्पर के पेट में ग्रनन्त ईश्वर हैं । जैसे–हम–परिच्छिन्न हैं–ससीम हैं तद्वत्–वह भी मायाबल से ससीम है । जैसे–हम जन्म लेते हैं तद्वत्–वह भी परात्पर के गर्भ में जन्म लेता है । जैसे–हम मरते हैं–तद्वत्–कभी न कभी–वह ईश्वर भी ग्रवश्य ही मरता है । ईश्वर विनाश ही को तो 'महाप्रलय' कहते हैं । फर्क इतना है कि हम छोटे हैं–वह बहुत बडा है, हम थोड़े दिन तक जीते हैं, वह बहुत दिन तक जीता है । बात सच है–ग्रन्त में कभी न कभी वह माया का बन्धन अवश्य ही टूटेगा । बस, जिस दिन वह माया का बन्धन टूटेगा–उसी दिन उस मायी ईश्वर का नाश हो जाएगा । यह फर्क–ईश्वर के जीवत्व में बाधा नहीं डाल सकता । क्योंकि छोटे-बडे का एवं जल्दी और देर से मरने का ग्रन्तर ग्रस्मदादि जीवों में भी होता ही है । इस प्रकार जब ईश्वर में जीवतुल्य सारे धर्म्म हैं तो ग्रवश्य ही हम उसे जीव कह सकते हैं–तात्पर्य्य यही है कि ग्रानन्त्य के कारण, परिच्छेद के कारण, जन्म होना, मरना, फिर जन्म लेना–फिर मरना–इस क्रम के

कारण एवं परात्परस्वरूप अन्य के गर्भ में प्रविष्ट होने के कारण-वे ईश्वर जीवतुल्य ही है-जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बहुत्वहेतोः प्रमितत्वहेतोर्जन्मप्रणाशक्रमवत्वहेतोः ।
अन्यात्मगर्भाभिनिवेशहेतोस्त ईश्वराः सन्ति तु जीवतुल्याः" ॥१०३॥

इस प्रकार हिरण्यगर्भ नाम के जो अनन्त ईश्वर हैं-वे तो जीवतुल्य ही हैं, परन्तु इन सारे ईश्वरों का जो एक आत्मा है-जो कि सर्वबल विशिष्ट रसस्वरूप परात्पर है-जो कि परमेश्वर नाम से प्रसिद्ध है, वह इन ईश्वरों से सर्वथा भिन्न धर्म्मा है। यह परमेश्वर ईश्वरवत् किसी अन्य के गर्भ में प्रविष्ट नहीं है एवं न इसका जीववत् जन्म एवं विनाश ही है एवं न ईश्वरवत् इसकी सीमा ही है एवं न ईश्वरवत् यह अपने स्वरूप को कभी छोडता ही है, अतएव हम-इस असीम एकस्वरूप-नित्य परात्पर को 'जीव' नहीं बतला सकते। ईश्वर जीवधर्म्मतुल्यधर्म्म के कारण अवश्य ही जीव है, परन्तु चूंकि परात्पर में जीवसदृश एक भी धर्म्म नहीं है, अतः यह परात्पर जीव नहीं हो सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"य एक आत्मा परमेश्वरोऽन्यः स नान्यगर्भाशयसंनिविष्टः ।
न जन्मनाशौ न च तस्य सीमा जहाति न प्राणमतो न जीवः" ॥१०४॥

इस सर्वबलविशिष्ट रसस्वरूप परात्पर की जो सत्ता है अर्थात् अस्तित्व है-वही अस्तित्व-वही सत्ता-अखिलविश्व की सत्ता है। अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों का अस्तित्व इस परात्पर के अस्तित्व के ऊपर ही टिका हुआ है। परात्पर की सत्ता में सारी विश्व सत्ताएँ लीन हो रही हैं। जैसे पृथिवीसत्ता में-हम प्राणिवर्ग हैं एवं ईश्वर की सत्ता में-सूर्य्यचन्द्रपृथिवी आदि सारे प्रपञ्च हैं-तद्वत्-ईश्वरविशिष्ट सारे विश्व उस परात्पर की सत्ता में बैठे हुए हैं। परात्पर की सत्ता ही अखिलविश्वसत्ता है।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य्य यही है कि उस परात्पर से परे कोई भी तत्त्व नहीं है। भला, जब यह स्वयं पर से भी अर्थात् ईश्वर से भी परे है-तो फिर इस से परे और कौन हो सकता है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है -

"तत्रास्ति सत्ताऽखिलविश्वसत्ता ज्ञानं तु यावद्विषयैकभानम् ।
रसस्तु पूर्णं जगदस्ति भातं परं न तस्मादखिलात्मनोऽस्ति" ॥१०५॥

———

२-ज्ञानक्रियार्थप्रपञ्चः ।

ज्ञान, क्रिया, अर्थ-इनका प्रपञ्च—

सारे विश्व में ज्ञान-क्रिया-अर्थ-इन तीन के अलावा कोई चौथी वस्तु है ही नहीं। हो कैसे? जबकि परमेश्वर में ज्ञान-क्रिया-अर्थ के अलावा और कुछ भी नहीं है। परमेश्वर से ही तो सारा विश्व

बना है। फिर ज्ञान-क्रिया-अर्थ के अलावा और हो ही क्या सकता है ? संसार के यच्चयावत् प्राणियों में जो ज्ञान देखा जाता है एवं क्रिया देखी जाती है एवं भिन्न भिन्न अर्थ देखे जाते हैं–इन ज्ञानशक्ति–क्रियाशक्ति–अर्थशक्तियों का घन वही–ज्ञानक्रिया-अर्थमय परमेश्वर है। वह ज्ञानक्रिया अर्थ का समुद्र है। उसी में से जरा जरा सा अंश लेकर–संसार के यच्चयावत् प्राणी ज्ञानक्रिया-अर्थमय हो रहे हैं। सूर्य्य प्रकाशघन है–ज्योतिःपुञ्ज है। इसी में से थोड़ा-थोड़ा प्रकाश लेकर सारे पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं। चन्द्रमा उसी सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। विद्युत् में जो प्रकाश है–वह सूर्य्य का प्रकाश है। सूर्य्य प्रकाशघन है–प्रकाश का खजाना है। उसी खजाने में से–जरा सा अंश लेकर संसार के दीपादि तेजस्वी पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं। सैंकड़ों दीपक जल रहें-उनमें बीसों बुझ जाते हैं। बुझ कर वे गए कहाँ ? इसका एकमात्र उत्तर है–उसी सूर्य्य में। दीपक जल रहा था। जिस संयोग से वह उद्बुद्ध हुआ था–संयोग के हटते ही अपने उसी प्रभव में जा मिला। समुद्र पानी का घन है। सारे बादल इसी घन में से थोड़ा-थोड़ा पानी लेकर सर्वत्र बरसाया करते हैं। एक घन में से अंशरूपेण ग्रहण कर बद्दल विश्व में पानी का राज्य कर देते हैं। ठीक इसी प्रकार–उसी ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्तिघन से अंशरूपेण ले-लेकर सारा विश्व ज्ञान-क्रिया-अर्थमय बन रहा है। इस अशेष शक्तिघन को ही वैदिक परिभाषा में 'परात्पर' कहते हैं–एवं दार्शनिक लोग इसे ही 'परमेश्वर' कहते हैं। सर्वबलविशिष्ट रस का नाम ही परमेश्वर है। हमारा ज्ञान कार्य्य है–क्योंकि उत्पन्न होता है–क्रिया उत्पन्न होती है–अर्थ उत्पन्न होता है–तीनों कार्य्य हैं। इनका कोई न कोई कारण अवश्य ही मानना पड़ता है। अंगुली हिल रही है–क्रिया हो रही है एवं साथ ही में वह निकल कर गायब भी हो रही है। जिसमें गायब होती है–उसी का नाम परमेश्वर है।

संसार में जो अनन्तानन्त शक्तिएँ दिखलाई पड़ती हैं–वे सब की सब उसी परमेश्वर से निकली हैं। परमेश्वर में रहने वाली सारी शक्तिएँ घनरूप हैं। घनरूप हैं–इसका तात्पर्य्य यही है कि हमारे में कोई शक्ति तो है एवं कोई नहीं है एवं जो है–वह भी परिपूर्ण नहीं है। परन्तु परमेश्वर में सारी शक्तिएँ हैं एवं वे पूर्ण मात्रा से हैं, अतएव उन्हें हम **घनात्मना** कहने के लिए तय्यार हैं। अनन्त प्रकार की घनात्मना–परमेश्वर में स्थित जो सारी शक्तिएँ हैं–वे तीन भागों में–तीन स्वरूपों में परिणत होकर संसार में प्रादुर्भूत होती हैं। शक्तिएँ अनन्त हैं–जाति उनकी कुल तीन ही हैं। संसार में उनके तीन ही अवतार होते हैं। ये तीनों शक्तिएँ–ज्ञान, क्रिया और अर्थ–इन तीनों को उत्पन्न करने वाली हैं। उन तीनों कारणों से–कार्य्यस्वरूप ज्ञान, क्रिया और अर्थशक्ति का जन्म होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्रेह तावत् परमेश्वरे स्थिताः याः शक्तयोऽशेषविधा घनात्मना।
त्रिधा विभक्ताः प्रभवन्ति ता इमा ज्ञानक्रियार्थोद्भवनप्रयोजिकाः" ॥१०६॥

परमेश्वर स्थित शक्तियों से–ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और अर्थशक्ति–इन तीन शक्तियों का जन्म होता है। ज्ञानशक्ति प्रकाश करने वाली है–क्रियाशक्ति विक्षेप करने वाली है एवं अर्थशक्ति आवरण

करने वाली है। रस और बल–ये ही दो, जगत् के मूल तत्त्व हैं। इस रसबलसमष्टि का नाम ही परात्पर है। इस परात्पर में–उन अनन्त बलों में से सर्वप्रथम मायाबल का जन्म होता है। मायाबलावच्छिन्न जो रस है–उसका नाम 'अव्ययपुरुष' हो जाता है। चूंकि अपरिच्छिन्न रस परिच्छिन्न हो जाता है, अतएव उस परिच्छेद को तोड़ने के लिए उस अव्यय में एक काम बल उत्पन्न हो जाता है। अव्यय-मन का पहला रेत यह काम अर्थात् इच्छा ही है। अतएव–"**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**"–यह कहा जाता है। इस काम से–अक्षर का प्रादुर्भाव होता है। इस अक्षर का नाम है–चेतना। इस चेतना द्वारा–उस अव्ययनिष्कलमन पर–आनन्द, विज्ञान, प्राण, वाक् का चयन हो जाता है, अतएव–वह अव्ययपुरुष चिदात्मा कहलाने लगता है। चित् में व्यापार नहीं होता। चित् तो अर्थात् अव्यय तो सर्वथा निष्क्रिय है। क्रिया अक्षर में होती है। अक्षर में क्रिया होती है–न कि बल में। चयन-व्यापार इसी अक्षर द्वारा तो होता है। चूंकि यह निमित्त कारण है, अतएव क्रियामय होता हुआ भी यह सृष्टिबन्धन से–सृष्टिप्रपञ्च से अलग रहता है, अतएव इसे 'अक्षर' कह दिया जाता है। **स ऐक्षत स तपोऽतप्यत–सोऽश्राम्यत्**–यह कहा जाता है। वह यही अक्षर है। इच्छा–तप–श्रम–यह अक्षर का ही व्यापार है। कहना यही है कि इस अक्षर का नाम ही चेतना है। बस, चेतनानुसंहित जो बल है–वह अक्रिय ज्ञान में जब क्रिया उत्पन्न कर देता है तो वह ज्ञान–ज्ञानशक्ति नाम से व्यवहृत होने लगता है। शक्ति नाम है–बल का। बल ही का नाम है–क्रिया। जब यह ज्ञान में घुस पड़ती है–तो ज्ञान शक्तिमान् अर्थात् बलयुक्त हो जाता है। ज्ञान सर्वथा निष्क्रिय है–एकान्ततः शान्त है। परन्तु विषयावगाहनात् ज्ञान भी क्रिया मान लिया जाता है। **करोति-गच्छतिवत्**–ज्ञान के लिए भी–**जानाति-अजानात्** इत्यादि प्रयोग होने लगते हैं। निष्क्रियज्ञान–क्रियायुक्त भासित होने लगता है। सूर्य्य के प्रतिबिम्ब पर दृष्टि डालिए–प्रतिबिम्ब हिलता हुआ नजर आएगा। वास्तव में प्रतिबिम्ब जरा भी नहीं हिलता। हिलता पानी है। चूंकि प्रतिबिम्ब उस पर बैठा हुआ है, अतएव प्रतिबिम्ब हिलता हुआ नजर आ रहा है। परन्तु विश्वास रक्खो–प्रतिबिम्ब जरा भी नहीं हिलता है। प्रतिबिम्ब प्रातिस्विकरूपेण सर्वथा शुद्ध है। एकान्ततः असंग है। १० करोड़ वर्ष तक प्रतिबिम्ब को पानी में रक्खो–वह कभी नहीं सड़ेगा। उस पर खूब तलवारें चलाओ–वह कभी नहीं कटेगा। खूब अग्नि रक्खो–प्रतिबिम्ब कभी नहीं जलेगा। इसी प्रकार ज्ञान प्रातिस्विकरूपेण शुद्धज्ञान है–उसमें जरा भी क्रिया नहीं है। अर्थ क्रिया विना नहीं रह सकता। संसार के यच्चयावत् पदार्थ कभी भी निष्क्रिय नहीं रहते। उनमें हरवख्त क्रिया होती रहती है। इसीलिए—

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥[1]

यह कहा जाता है। ज्ञान विना विषय के उद्बुद्ध होता नहीं है। विषयावगाहनात् ही–ज्ञानोदय होता है। ज्ञान का स्वरूप विषय से ही प्रतीत होता है। निर्विषयक ज्ञान–अनिर्वचनीय है–अविज्ञेय है,

१ गीता ३।५।

अतएव लोकवेदोभयानधिकृत है । विषय के साथ चूँकि क्रिया रहती है, अतएव तत्–सम्बद्ध ज्ञान सक्रिय मालूम होने लग जाता है । परन्तु वास्तव में–प्रतिबिम्बवत् ज्ञान सर्वथा अक्रिय है । क्रिया का नाश हो सकता है ज्ञान का नाश नहीं हो सकता । प्रतिबिम्बवत् न इसे तलवार काट सकती है–न अग्नि जला सकती है । यह तो नित्य पदार्थ है । दिग्देशकालानवच्छिन्न है । इसीलिए भगवान् कहते हैं—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" ।।[1]

परन्तु ध्यान रहे–क्रिया से सक्रिय प्रतीत होने वाला ज्ञान–अक्षरज्ञान है–चेतना है न कि अव्यय । अव्यय तो चित् है । वह तो एकदम बेलाग है । चेतना में–ज्ञान-क्रिया दोनों हैं । "अब तक तो बेहोश था, परन्तु अब चैतन्य आया"–इसमें ज्ञानक्रिया दोनों हैं । चेतना ज्ञान का हिस्सा है–'आया' यह क्रिया का हिस्सा है । ज्ञान में क्रिया घुस पड़ती है, अतएव **जानामि**–इत्यादि क्रिया-व्यवहार होने लगता है । प्रकृत में हमें यह बतलाना है कि परमेश्वरस्थ कुछ बल का हिस्सा–चेतना अर्थात् अक्षर से युक्त होकर-ज्ञान में क्रिया उत्पन्न कर देता है । क्रिया में ही नोदनाबल रहता है । परन्तु बल प्रातिस्विकरूपेण जड़ है । बिना चेतना के बल कोई काम नहीं कर सकता । अतएव–**किञ्चिद् बलं चेतनयानुसंहितम्**–यह कहा गया है । बस, चेतनानुसंहित बल से जब–ज्ञान में क्रिया का सम्बन्ध होता है तो विषयावगाहनात्–ज्ञान का उदय हो जाता है । विषय के विना ज्ञान का स्वरूप कदापि नहीं बन सकता । घट–पटादि विषयसम्बन्ध से ही ज्ञान का उदय होता है । जिस दिन सारे विषय ज्ञान में से निकल जाएँगे–उस दिन ज्ञान ही गायब हो जाएगा । परन्तु ध्यान रहे–ज्ञान में क्रिया उत्पन्न कराने वाला बल चेतनानुसंहित है । इसीलिए तो हम–ज्ञानशक्ति को प्रकाशिका कहने के लिए तय्यार हैं । चेतना का नाम ही तो प्रकाश है । बस, विषयावगाहनात्–जिस ज्ञान का उदय होता है, वह क्रियायुक्त ज्ञान ही ज्ञानशक्ति नाम से व्यवहृत होता है एवं यह ज्ञानशक्ति प्रकाशिका है । ज्ञान प्रातिस्विकरूपेण यद्यपि प्रकाशस्वरूप ही है, परन्तु यहाँ किसी क्रिया की अपेक्षा रहती है । चेतनानुसंहित बल जब तक अक्रिय–ज्ञान में क्रिया उत्पन्न नहीं कर देता–तब तक ज्ञानोदय नहीं होता ।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य्य यही है कि–चेतनानुसंहित जो बल है–वह अक्रियज्ञान में क्रिया को उद्बुद्ध कर देता है । तदनन्तर विषयावगाहनात् ज्ञानोदय हो जाता है । बस, इस क्रियायुक्त ज्ञान को–प्रकाशिका ज्ञानशक्ति कहा जाता है । संसार के यच्चयावत् पदार्थों को प्रकाशित करने वाली यह ज्ञान शक्ति ही है । यह सर्वथा विकासस्वरूप है ।

"किञ्चिद्बलं चेतनयाऽनुसंहितं ज्ञानेऽक्रिये वर्तयति क्रियां ततः ।
ज्ञानोदयः स्याद्विषयावगाहनात् सा ज्ञानशक्तिः प्रथिता प्रकाशिका" ।।१०७।।

---

१ गीता २।२३-२४ ।

चेतनानुसंहित जो बल है-जो कि अक्रियज्ञान में-क्रिया उत्पन्न कर देता है-उस बल का नाम-उस शक्ति का साम ही-ज्ञानशक्ति है। उसी ज्ञानशक्ति से-संसार के पदार्थ प्रकाशित होते हैं। एवं उसी बल में से कुछ बलभाग प्रतिक्षण में नष्ट होने वाली क्रिया को उत्पन्न करता हुआ स्वयं नष्ट होता रहता है। इसी क्रिया से संसार के प्रत्येक पदार्थ में क्रिया उत्पन्न होती है। जैसे ज्ञानशक्ति ज्ञानप्रदात्री है तथैव यह क्रियाशक्ति क्रिया की जननी है। इसी क्रियाशक्ति से संसार के यच्चयावत् पदार्थ क्रियामय हो रहे हैं। अमृत और मृत्यु-ये दो ही तत्त्व हैं। अमृत का नाम रस है-मृत्यु का नाम बल है। यह बल अवस्थाभेदेन बल, प्राण और क्रिया-इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। एक ही मृत्युअवस्था-विशेष के कारण अपने तीन स्वरूप धारण कर लेती है। मृत्यु की जो सुप्तावस्था है-उसका नाम तो है-बल एवं कुर्वद्रूपावस्था का नाम है-प्राण एवं विनश्यदवस्था का नाम है-क्रिया। हमारी अँगुली जो हिल रही है-इसके साथ ही वह क्रिया अँगुली से निकल-निकलकर नष्ट हो रही है। रस को छोडते समय की जो बलावस्था है-उसी का नाम क्रिया है। वास्तव में क्रिया नष्ट होती रहती है, अतएव थोडी देर के बाद अंगुली थक जाती है। इसमें-अक्षर में प्रविष्ट जो बल है अर्थात् मृत्यु है, उसी का नाम शक्ति है। सर्वशक्तिमान् अक्षर ही है। परन्तु अक्षर चूंकि विना अव्यय के रहता नहीं, अतएव अव्यय को भी शक्तिमान् बतला दिया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ॥[1]

अव्यय प्रातिस्विकरूपेण सर्वप्रपञ्चरहित है। न उसका कोई कार्य्य है-न करण है। वह तो आलम्बनमात्र है। बस, इस अव्यय के प्रातिस्विक-स्वरूप के अभिप्राय से तो-"**न तस्य कार्य्यं करणं च**"-इत्यादि कहा गया है। यह अव्यय विना अक्षर प्रकृति के रहता नहीं। अक्षर सर्वशक्तिमान् है, अतएव अक्षराभिप्रायेण-"**परास्य शक्तिः**"-इत्यादि कहा गया है। क्षर को अवर कहते हैं-अक्षर को परावर कहते हैं एवं अव्यय को 'पर' कहते हैं। अतएव-"**परास्य शक्तिः**"-यह कहा गया है। अस्तु, कहना इस सारे प्रपञ्च से हमें यही है कि अक्षरसंयुक्त जो यह बल है-चेतनानुसंहित जो बल है, उसी का नाम ज्ञानशक्ति है एवं जो बल क्षणभङ्गुरा क्रिया-गत्यादिरूपा क्रिया को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट होता रहता है, उसी का नाम क्रियाशक्ति है। प्रत्येक पदार्थ में जिस शक्ति के द्वारा क्रिया होती रहती है-वही शक्ति क्रियाशक्ति नाम से व्यवहृत होती है। जैसे ज्ञानशक्ति प्रकाशिका है, वैसे यह क्रियाशक्ति प्रवर्त्तिका है। हर काम में प्रवृत्त कराने वाली जो शक्ति है, उसी का नाम क्रियाशक्ति है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में प्रतिक्षण क्रिया हो रही है। सारे पदार्थ कुर्वद्रूप हैं। जड़-चेतन सब में समानभाव से क्रिया हो रही है। बस, इस क्रिया की प्रवर्त्तिका जो शक्ति है-उसी का नाम क्रियाशक्ति है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि उस परमेश्वरस्थ बल में से कुछ बल का हिस्सा ऐसा है-जो प्रतिक्षण में नष्ट होने वाली क्रिया को-जो कि क्रिया गत्यादिरूपा है, उत्पन्न कर स्वयं नष्ट होता रहता है। बस, जिस क्रिया से

---

१ श्वेताश्वतरोप० ६।८।

चेतनानुसहित जो बल है–जो कि अक्रियज्ञान में–क्रिया उत्पन्न कर देता है–उस बल का नाम-उस शक्ति का साम ही–ज्ञानशक्ति है। उसी ज्ञानशक्ति से–संसार के पदार्थ प्रकाशित होते हैं। एवं उसी बल में से कुछ बलभाग प्रतिक्षण में नष्ट होने वाली क्रिया को उत्पन्न करता हुआ स्वयं नष्ट होता रहता है। इसी क्रिया से संसार के प्रत्येक पदार्थ में क्रिया उत्पन्न होती है। जैसे ज्ञानशक्ति ज्ञानप्रदात्री है तथैव यह क्रियाशक्ति क्रिया की जननी है। इसी क्रियाशक्ति से संसार के यच्चयावत् पदार्थ क्रियामय हो रहे हैं। अमृत और मृत्यु–ये दो ही तत्त्व हैं। अमृत का नाम रस है–मृत्यु का नाम बल है। यह बल अवस्थाभेदेन बल, प्राण और क्रिया–इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। एक ही मृत्युअवस्था-विशेष के कारण अपने तीन स्वरूप धारण कर लेती है। मृत्यु की जो सुप्तावस्था है–उसका नाम तो है–बल एवं कुर्वद्रूपावस्था का नाम है–प्राण एवं विनश्यदवस्था का नाम है–क्रिया। हमारी अँगुली जो हिल रही है–इसके साथ ही वह क्रिया अँगुली से निकल-निकलकर नष्ट हो रही है। रस को छोडते समय की जो बलावस्था है–उसी का नाम क्रिया है। वास्तव में क्रिया नष्ट होती रहती है, अतएव थोडी देर के बाद अंगुली थक जाती है। इसमें-अक्षर में प्रविष्ट जो बल है अर्थात् मृत्यु है, उसी का नाम शक्ति है। सर्वशक्तिमान् अक्षर ही है। परन्तु अक्षर चूँकि विना अव्यय के रहता नहीं, अतएव अव्यय को भी शक्तिमान् बतला दिया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ॥[1]

अव्यय प्रातिस्विकरूपेण सर्वप्रपञ्चरहित है। न उसका कोई कार्य्य है–न करण है। वह तो आलम्बनमात्र है। बस, इस अव्यय के प्रातिस्विक-स्वरूप के अभिप्राय से तो–**"न तस्य कार्य्यं करणं च"**–इत्यादि कहा गया है। यह अव्यय विना अक्षर प्रकृति के रहता नहीं। अक्षर सर्वशक्तिमान् है, अतएव अक्षराभिप्रायेण–**"परास्य शक्तिः"**–इत्यादि कहा गया है। क्षर को अवर कहते हैं–अक्षर को परावर कहते हैं एवं अव्यय को 'पर' कहते हैं। अतएव–**"परास्य शक्तिः"**–यह कहा गया है। अस्तु, कहना इस सारे प्रपञ्च से हमें यही है कि अक्षरसंयुक्त जो यह बल है–चेतनानुसंहित जो बल है, उसी का नाम ज्ञानशक्ति है एवं जो बल क्षणभङ्गुरा क्रिया-गत्यादिरूपा क्रिया को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट होता रहता है, उसी का नाम क्रियाशक्ति है। प्रत्येक पदार्थ में जिस शक्ति के द्वारा क्रिया होती रहती है–वही शक्ति क्रियाशक्ति नाम से व्यवहृत होती है। जैसे ज्ञानशक्ति प्रकाशिका है, वैसे यह क्रियाशक्ति प्रवर्त्तिका है। हर काम में प्रवृत्त कराने वाली जो शक्ति है, उसी का नाम क्रियाशक्ति है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में प्रतिक्षण क्रिया हो रही है। सारे पदार्थ कुर्वद्रूप हैं। जड़-चेतन सब में समानभाव से क्रिया हो रही है। बस, इस क्रिया की प्रवर्त्तिका जो शक्ति है–उसी का नाम क्रियाशक्ति है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि उस परमेश्वरस्थ बल में से कुछ बल का हिस्सा ऐसा है–जो प्रतिक्षण में नष्ट होने वाली क्रिया को–जो कि क्रिया गत्यादिरूपा है, उत्पन्न कर स्वयं नष्ट होता रहता है। बस, जिस क्रिया से

१ श्वेताश्वतरोप० ६।८।

प्रत्येक पदार्थ की क्रिया उत्पन्न होती है–जिस शक्ति द्वारा संसार के यच्चयावत् पदार्थ क्रियामय दिखलाई पड़ रहे हैं, उसी शक्ति का नाम–क्रियाशक्ति है। यही क्रिया को प्रेरित करती है, अतएव इसी को 'प्रवर्त्तिका' भी कहा जाता है। गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"किञ्चिद् बलं तु क्षणभङ्गुरां क्रियां गत्यादिरूपां जनयद् विनश्यति।
प्रत्यर्थचेष्टा यत उद्भवन्ति सा मता क्रियाशक्तिरियं प्रवर्त्तिका" ॥१०८॥

एवं कुछ बल ऐसा है जो उस व्यापक रस को प्राप्त होकर अर्थात् व्यापक रस में उद्बुद्ध हो-कर–उस व्यापक रस का खण्ड-खण्ड कर–उसे नानारूपों में परिणत कर देता है। बस, उसी से अर्थ-सृष्टि होती है। सृष्टि दो के संयोग से ही होती है। एक से सृष्टि हर्गिज नहीं हो सकती। जब तक-दो की स्थिति नहीं होती तब तक सृष्टि भी नहीं होती। सृष्टि शब्द का अर्थ ही इस भाव को सूचित कर रहा है। संसृष्टि को ही सृष्टि कहते हैं। संसर्ग का नाम ही सृष्टि है। संसर्ग-दो में ही उपपन्न होता है, अतएव मानना पड़ता है कि विना दो के सृष्टि नहीं हो सकती। जब दो बल परस्पर मिलते हैं तो उससे सृष्टि होती है। 'रस-बल'–दोनों ही अनन्त हैं-व्यापक हैं। दोनों की समष्टि का नाम ही 'परात्पर' है। परात्पर असीम है। असीम में–द्वैतभाव नहीं है, अतएव इससे सृष्टि नहीं हो सकती है। अतएव मानना पड़ता है कि कोई बल ऐसा अवश्य है–जो इस व्यापक असीम परात्पर को–रस को परिच्छिन्न कर खण्ड-खण्ड में परिणत कर नाना भाव में परिणत कर देता है। बस, इसी बल का नाम-इसी शक्ति का नाम अर्थशक्ति है। इसे ही 'अर्थसर्जिका' कहा जाता है। जब तक रस असीम रहता है–तब तक एकरूप रहता है। एक से सृष्टि हो नहीं सकती। घट-पट-सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-मनुष्य-पशु-पक्षि-कृमि-कीट इत्यादि-इत्यादि नाना भावों की समष्टि का नाम ही संसार है। इसी को सृष्टि कहते हैं। ये ही अर्थ (पदार्थ) कहलाते हैं। ये अर्थ तब तक उत्पन्न नहीं हो सकते–जब तक कि वह व्यापक रस नानाभाव में परिणत न हो जाए। मनुष्य-पशु आदि नाना रस ही तो हैं। इन्हीं का तो नाम सृष्टि है। बस, जो बल एकवत् व्यापक रस को विच्छिन्न कर नानारूप में परिणत कर-बलद्वय का संयोग करवा देता है–उसी का नाम–अर्थशक्ति है। ज्ञानशक्ति जैसे विषय प्रकाशिका कहलाती है, क्रियाशक्ति जैसे विषयप्रवर्त्तिका कहलाती है, तथैव अर्थशक्ति विषयसर्जिका कहलाती है।

तात्पर्य्य यही है कि उस व्यापक परमेश्वर में रहने वाला जो बल है–उसका कुछ हिस्सा रस को प्राप्त कर अर्थात् व्यापक रस से उद्बुद्ध हो–उस एकवत् रस को खण्डस्वरूप में परिणत कर नाना भाव में परिणत कर देता है। इसी से अर्थसृष्टि होती है। बल सम्बन्ध से सृष्टि होती है। दो बलों का जब परस्पर ग्रन्थिबन्धन होता है–तब तीसरी चीज उत्पन्न होती है। सोरा और कोयला-जब ये दो चीजें रासायनिक प्रक्रिया द्वारा मिलेंगी, तभी उनसे नई वस्तु दारू (बारूद) उत्पन्न होगी। रस वास्तव में नाना नहीं होता, परन्तु बल चूंकि विना रस के रहता नहीं, अतएव–बलों के नाना हो जाने से–तदाधारभूत रस को भी नाना भावयुक्त कह दिया जाता है। इन दोनों बलों को संयुक्त कर अर्थसृष्टि का निर्म्माण करने वाली जो शक्ति है, उसे 'अर्थशक्ति' कहते हैं। चूंकि वही पदार्थस्वरूप को उत्पन्न करती है, अत-

एव उसे 'अर्थसर्जिकाशक्ति' कहा जाता है। बस, उस परमेश्वर में प्रकाशिका ज्ञानशक्ति, प्रवर्त्तिका क्रियाशक्ति और अर्थसर्जिका अर्थशक्ति–ये ही तीन शक्तियाँ हैं। इन्हीं तीन शक्तियों से वह विश्वात्मा भगवान्, विश्व का संचालन करता है। ज्ञान, क्रिया, अर्थ–तीन हीं उसकी शक्तियाँ हैं, अतएव उसका विश्व भी ज्ञान-क्रिया-अर्थमय ही है। प्रत्येक पदार्थ ज्ञान-क्रिया-अर्थमय है। पदार्थ एक है–उसमें वस्तुतः-ज्ञान, क्रिया, अर्थ–ये तीन हैं। तीनों अविनाभूत हैं। तीनों में से यदि एक भी निकल जाता है–तो अवशिष्ट दोनों उसी समय निकल जाते हैं। दूध एक है–परन्तु उसमें दधि, घृत, मधु, अमृत और पार्थिव रस–ये पाँच वस्तुएँ हैं। पाँच की समष्टि का नाम दूध है। जिस दिन पाँचों में से एक भी वस्तु निकल जायगी, उस दिन दूध-दूध ही न रहेगा। एवमेव ज्ञान, क्रिया, अर्थ–तीनों की समष्टि का नाम-पदार्थ है। जिस दिन तीनों में से एक भी निकल जाएगा–उस दिन पदार्थ-पदार्थ ही न रहेगा। तीनों सर्वथा लाजिममलजूम हैं। परमेश्वर ज्ञान-क्रिया-अर्थमय है–एवं उसका यह विश्व भी ज्ञान-क्रिया-अर्थमय ही है। जो पदार्थ वहाँ है–वही यहाँ है। वही यहाँ है–यह क्यों कहते हो? वही तो यह है। इसके अलावा और है ही क्या? विश्व ही तो विश्वात्मा भगवान् का शरीर है। आँख खोलने पर जो एक महास्थिर वृक्षवत् आकाश दीख रहा है–वही तो साक्षात् परमेश्वर का स्वरूप है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्-यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ॥[1]

वही पूर्ण ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिघन विश्वनियन्ता का विश्व भी–ज्ञान-क्रिया-अर्थमय ही है। जो वहाँ है–सो ही यहाँ है–इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" ॥[2]

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"किञ्चिद् बलं प्राप्य रसं तमेकवत् स्थितिं सुविच्छिद्य करोत्यनेकवत्।
ततोऽर्थसृष्टिर्भवतीह कृत्स्नशस्तामर्थशक्तिं विदुरर्थसर्जिकाम्" ॥१०६॥

जिनको हमने ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, अर्थशक्ति–इन नामों से व्यवहृत किया है, वैज्ञानिक परिभाषा में–ये तीनों मन, प्राण, वाक्–इन नामों से भी पुकारे जाते हैं। इन तीनों में प्राण से क्रिया उत्पन्न होती है। ईश्वर प्राण-क्रिया का खजाना है। संसार में जहाँ जो कुछ क्रिया देखी जाती है, वह उसी खजाने में से आती है। क्रिया का खजानात्मा प्राण समझना चाहिए। क्रिया से यत्न अभिप्रेत है।

१ श्वेताश्वतरोप० ३।६। २ कठोप० २।४।१०।

प्राणव्यापार का नाम ही–क्रिया है। इसी को अन्तर्व्यापार कहते हैं। अन्तर्व्यापार का अर्थात् यत्नापर-पर्यायक क्रिया का जनक प्राण ही है। एवं ज्ञान मनोमय है। मन ही ज्ञान का खजाना है। इसीलिए तो मन को 'प्रज्ञान' कहा जाता है। ज्ञान का सीगा मन के आधीन है। एवं अर्थशक्ति को ही वाक् कहते हैं। वाक् का नाम-आकाश है। पाँचों भूतों में पहला भूत यही वाक् है। यही वाक्-संचर-क्रम से–ग्रन्थिबन्धन द्वारा वायु-तेज-जल-पृथिवी–इन भूतों में परिणत हो जाता है, अतएव वाक् से हम पाँचों भूतों का ग्रहण कर सकते हैं। पृथिवी-जल-तेज-वायु-सब वाक् ही तो हैं–अर्थात् आकाश ही तो हैं,अतएव–**"वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता"**[1] एवं **अथो वागेवेदं सर्वम्**[2]–यह कहा जाता है। संसार में-जो पदार्थ नाम से व्यवहृत होते हैं–वे वाङ्मय ही तो हैं। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश-समष्टि का नाम ही तो पदार्थ है। अतएव अर्थजात को हम अवश्य ही–वाङ्मय कह सकते हैं। ईश्वर मनः-प्राण-वाङ्मय है। इसी से सारा विश्व बनता है। मन-प्राण-वाक–तीनों में मन, प्राण चूंकि सूक्ष्म हैं, अतएव इन दोनों को आत्मा कहा जाता है। इनसे पहले आकाश अर्थात् वाक् उत्पन्न होती है। फिर आगे-आगे की सृष्टियाँ होती हैं, अतएव श्रुति कहती है–**"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी"**–इति[3] सत्य ईश्वर से अव्ययपुरुष अभि-प्रेत है। अव्यय की–आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्–ये पाँच कलाएँ हैं–इन पाँचों में से-आनन्द-विज्ञान-मन–ये मुक्तिसाक्षीबल हैं एवं मन-प्राण-वाक्–ये सृष्टिसाक्षीबल हैं। बस–इस सृष्टिसाक्षीबल को लक्ष्य में रख कर के ही–**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'**[4] यह कहा जाता है। ज्ञान मनोमय है–क्रिया प्राणमयी है एवं अर्थ वाङ्मय है। ज्ञान, क्रिया, अर्थ के अलावा और है ही क्या ? मन ही इच्छा का जनक है, प्राण तप का जनक है–वाक् अर्थ की जननी है। जिस समय हम कोई नई वस्तु बनाते हैं तो सर्वप्रथम–'मैं यह बना दूं'–यह इच्छा होती है। यह इच्छा मन का धर्म्म है। एवं इच्छा होते ही तदनुकूल आन्तर व्यापार होने लगता है। इसी का नाम है–तप। दार्शनिक लोग इसी को 'कृति' कहते हैं। लौकिक मनुष्य इसी को 'यत्न' कहते हैं। कोशिश का नाम ही 'प्राण-व्यापार' है–एवं प्राण-व्यापार होते ही हाथ-पैर हिल पड़ते हैं। हाथ-पैर पञ्चभूतयुक्त हैं। पञ्चभूतसमष्टि का नाम ही तो–वाक् है, अतएव इस तीसरे श्रम को वाग्-व्यापार कहते हैं। हम इच्छा करते हैं–अंगुली हिले–उसी समय प्राण-व्यापार होता है–उसी समय अंगुली हिल पड़ती है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि नई सृष्टि ज्ञान-क्रिया-अर्थ–इन तीनों की समष्टि पर निर्भर है। इच्छा-तप-श्रम से ही नई वस्तु बनती है, अतएव अभियुक्त कहते हैं—

"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म्म तदेतत् कृतमुच्यते"–इति ॥

---

१ तै० ब्रा० २।८।८।४।	२ नृसिंहोत्तरोप० ८।
३ तैत्ति० उप० २।१।	४ बृहदा० उप० १।५।३।

प्रकृत में हमें सिर्फ इतना ही बतलाना है कि ज्ञान, क्रिया, अर्थ–ये तीनों शक्तियाँ–मन, प्राण, वाक्-नाम से भी व्यवहृत होती हैं। इन तीनों के मन, प्राण, वाक्-तीनों कोश हैं। मनोमय कोश ज्ञान का जनक है। प्राणमय कोश क्रिया का जनक है एवं वाङ्मयकोश अर्थ का जनक है। मन से अर्थात् ज्ञान से वस्तु प्रकाशन होता है। यदि मन कहीं और लगा रहता है तो सामने रक्खी हुई वस्तु का भी ज्ञान नहीं होता, अतएव मानना पड़ता है कि वस्तु को प्रकाशित करने वाला–यह मन ही है एवं प्राण का काम है–चेष्टा करना। यदि प्राण अर्थात् दम होता है तो चेष्टा होती है। यदि हाथ-पैर में जान नहीं होती तो चेष्टा-वेष्टा धरी रहती है एवं वाक् से ही अर्थ-स्थिति रहती है। पृथिवीजलादि पञ्चभूतसमष्टि का नाम ही वाक् है। यदि इन पाँचों में से एक भी वस्तु निकल जाती है तो शरीर का पता भी नहीं रहता है। बस, इस प्रकार मन, प्राण, वाक्–से ही प्रकाशन, चेष्टा और वस्तुस्थिति रहती है। संसार के प्रत्येक पदार्थ में ये तीनों रहते हैं। मन-प्राण-वाक् की समष्टि का नाम ही वस्तु है। यदि तीनों से से एक भी नहीं रहता है तो पदार्थ ही नहीं रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ता एव वाक्प्राणमनांसि चक्षते प्राणात् क्रिया, ज्ञानमिदं मनोमयम्।
वागर्थशक्तिर्भवति प्रकाशनं चेष्टा च वस्तुस्थितिरेभिरन्वहम्" ॥११०॥

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और अर्थशक्ति–हमने शक्तियाँ तीन प्रकार की बतलाई हैं। इन तीनों में से जो अर्थशक्ति है–वह काम, विक्षेप, आवरण–इन भेदों से–तीन नामों से प्रसिद्ध है। अर्थशक्ति में तीनों रहते हैं। तीनों की समष्टि का नाम ही अर्थ है। काम नाम है–इच्छा का। अर्थशक्ति का पहला काम यही इच्छा है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में यह इच्छा-धर्म्म अनुस्यूत रहता है। जिन्हें आप जड़ समझ रहे हैं, उनमें भी इच्छा हो रही है। उनमें आवरण इतना आ गया है कि–उनकी इच्छा का प्रकाश नहीं होता। जड़-चेतन व्यवहार सर्वथा अशुद्ध है। चूंकि विज्ञान के हिसाब से त्रैलोक्य में कोई जड़ पदार्थ है ही नहीं–सब चेतन ही चेतन हैं। **चिदात्मानिन्द्रियेष्वपि**–यह अटल सिद्धान्त है। इसीलिए कहा जाता है–

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्"।[1]

वस्तुओं को जड़ मानना ईश्वर को व्याप्त न मानना है। ईश्वर तो व्यापक है। फिर चेतना-स्वरूप इस ईश्वर से कोई स्थान खाली क्योंकर हो सकता है? अस्तु, कहना हमें यही है कि प्रत्येक पदार्थ में काम रहता है अर्थात् इच्छा रहती है एवं विक्षेप अर्थात् क्रिया रहती है। संसार के यच्चयावत् पदार्थ क्रियाशील हैं। यदि पत्थर में क्रिया न होती तो वह कभी मिट्टी न बनता। परन्तु कालान्तर पाकर पत्थर मिट्टी बन जाता है, अतएव मानना पड़ता है कि संसार के यच्चयावत् पदार्थ विक्षेप से अर्थात् क्रिया से आक्रान्त हैं एवं तीसरा धर्म्म है–आवरण। हम देखते हैं कि जिस आत्मा के लिए दार्शनिक चिल्लाया करते हैं–उस आत्मा का तो कहीं पता भी नहीं है। न मालूम, वह किस गुहा में

---

१ ईशावास्योप० १।

छुपा हुआ है । उस पर अस्थि, मांस, मज्जा का आवरण ही आवरण चढा हुआ है । आवरण के कारण आत्मयुक्त पदार्थ अनात्मवत् प्रतीत होने लगता है । एक पत्थर में भी वही आत्मा है–परन्तु काम द्वारा उत्पन्न विक्षेप से उस पर इतना आवरण चढ गया है–इतना आवरण चढ गया है कि आज पत्थर निर्जीव मालूम होने लग गया है । लकड़ी का आत्मा भी इसी आवरण के कारण निर्जीव प्रतीत हो रहा है । यदि उपायों से यह आवरण तोड़ दिया जाता है–लकड़ी का आत्मा उद्‌बुद्ध हो जाता है । जिस लकड़ी को आपने जड़ समझ रक्खा है–उसे पानी में डाल दीजिए । दो-तीन दिन बाद लकड़ी चेतनामय हो जाएगी । सारी लकड़ी कीड़ों से युक्त हो जाएगी । इसी प्रकार मनुष्य देवता बन सकता है । संसार के सारे पदार्थ सब बन सकते हैं । जड़ को चेतन बनाया जा सकता है–चेतन को जड बनाया जा सकता है । इसीलिए—

"ब्रह्म विद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः" ।

यह कहा जाता है । यही आत्मा इच्छा द्वारा क्रिया उत्पन्न करता है एवं क्रिया से आवरण उत्पन्न कर आप स्वयं उस आवरण में छुप जाता है । आत्मा से उत्पन्न अस्थिमांसादि ही आज आँखों से दिखलाई दे रहे हैं । आत्मा का कहीं पता भी नहीं है । इस 'काम' के उदय होने का कारण है–परिच्छेद । यह आत्मा असीम था–वही मायाबल के कारण आज ससीम बन गया है । बस, उसी बन्धन को तोड़ने के लिए इसमें काम उत्पन्न होता है । काम ज्ञान से अर्थात् मन से उत्पन्न होता है । उत्पन्न होकर वह विक्षेप उत्पन्न करता है । बस, वही काम उस शान्त रस को अशान्त बना डालता है । काम होते ही क्षोभ उत्पन्न होता है । क्षोभ से यह रस अर्थात् आत्मा हिल पड़ता है । बस, इसी का नाम अशान्ति है । अशान्ति का कारण है–क्षोभ । क्षोभ का कारण है–काम । काम का कारण है–विज्ञान अर्थात् मन । यदि किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती है तो आत्मा तृप्त रहता है–उसमें व्यग्रता नहीं रहती । परन्तु यदि किसी की इच्छा हो जाती है तो आत्मा क्षुब्ध हो जाता है । वह क्षोभ तब तक नहीं मिटता, जब तक कि आत्मा को ऐच्छिक वस्तु नहीं मिल जाती । अतएव मानना पड़ता है कि अशान्ति का एकमात्र कारण यही काम है ।

तात्पर्य्य यही है कि प्रत्येक पदार्थ में काम, विक्षेप और आवरण–ये तीन भाव रहते हैं । तीनों में मन से काम उदय होकर रस में विक्षेप उत्पन्न कर शान्तानन्द को अशान्त बना डालता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सा चार्थशक्तिस्त्रिविधा प्रसिद्धा विक्षेपकामावरणप्रभेदात् ।
विज्ञानतः काम उदेत्यशान्तानन्दं स विक्षेप्य करोत्यशान्तम्" ।।१११।।

उस शान्त रस के जितने प्रदेश में इच्छा की लहर उठ जाती है, उतने ही प्रदेश में विक्षेप अपना स्वरूप कायम कर लेता है । हाथ से ताली बजाइए–जहाँ तक वह शब्द ध्वनि जाएगी, उतनी दूर का एक गोलसा गुम्बज बन जाएगा । एवमेव शान्त रस में काम के उदय होते ही एक क्षोभ उत्पन्न

होता है । बस, जहाँ तक क्षोभ जाता है, वहाँ तक का रस घिर जाता है एवं वही एक वस्तु बन जाती है । विक्षेप की जो सीमा है-उसका जो आवरण है-घेरा है, हमारे खयाल से वही वस्तुस्वरूप को उत्पन्न करता है । समुद्र भरा हुआ है-उसमें वायु प्रविष्ट होता है । जितनी दूर में वायु प्रविष्ट होता है, उतना ही बडा बुद्बुद बनता है । यदि हवा थोडी दूर में होगी तो छोटा बुद्बुद बनेगा । ज्यादा दूर में होगी तो बडा बुद्बुद बनेगा । एवमेव शान्त रस में जहाँ तक जितने प्रदेश में इच्छा की लहर जाती है, इच्छा से उत्पन्न विक्षेप-उतनी ही दूर तक अपना घेरा लगा लेता है । बस, जहाँ तक उस विक्षेपावरण की सीमा रहती है-उतनी बडी ही वस्तु बन जाती है । विक्षेपावरण ही वस्तु का उद्भावक है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"शान्ते रसे यावति काचिदिच्छा विक्षेप एतावति रूपमेति ।
विक्षेपसीमावरणं हि वस्तु स्वरूपमुद्भावयतीति मन्ये" ॥११२॥

विक्षेप से विक्षिप्यमाण जो रस है, वह उस विक्षेपावरण के कारण उस प्रशान्तरस से उसी क्षण अलग भासित होने लगता है । पानी से भरे हुए शान्त तालाब पर दृष्टि डालिए । एक मनुष्य जो कि उसके तट पर खड़ा हुआ है, उसमें एक पत्थर डालता है । बस, पत्थर के डालते ही पानी में लहर पैदा होती है एवं जहाँ तक वह लहर जाती है, वहाँ तक का पानी अशान्त हो जाता है एवं उस आखिरी सीमा के आगे का जो शान्त पानी है, उससे यह अशान्त पानी अलग सा छँट जाता है । ठीक इसी प्रकार से विक्षेप से विक्षिप्यमाण जो रस है, वह विक्षेप के कारण उस अवशिष्ट प्रशान्तरस से पृथक्त्वेन प्रतीत होने लग जाता है । बल के घेरे में आया हुआ जो विक्षिप्यमाण रस है, उससे बाहर आसमन्तात् वह अशान्त रस नहीं है । उसके बाहर तो शान्त ही शान्त है—बस, वही इस अशान्त रस का आवरण है । पदार्थस्वरूप आवरण से ही बना करता है । आवरण का कारण है-भावाभाव । पुस्तक पर हाथ रखकर अस्ति-अस्ति करते चले जाइए-जहाँ जाके आप का हाथ नास्ति का अनुभव करे, वहाँ से लौट आइए । इस प्रकार जब चारों ओर 'नास्ति' हो जाएगी तो उसी समय अस्ति का स्वरूप बन जाएगा । पुस्तक का अस्तित्व 'नास्ति' पर अवलम्बित है । हाथ लगाते चले जाइए-यदि 'अस्ति' का अन्त न होगा तो वस्तुस्वरूप ही नहीं बनेगा । वस्तु स्वरूप बनाने वाली केवल नास्ति ही है । अभाव ही भाव की सत्ता है । इसी का नाम है-आवरण । यहाँ भी अशान्त रस है-यहाँ भी है, परन्तु यहाँ नहीं है, बस, यही तो इस अशान्त रस की आवृत्ति है-यही तो परिच्छेद है । इसी से तो वस्तुस्वरूप बना है । विक्षेप की धारा में पड़ा हुआ जो जितना रस है-वह तो विक्षिप्यमाण है अर्थात् अशान्त है । उसके चारों ओर अशान्त रस नहीं है । यही तो इसकी आवृति है अर्थात् आवरण है । नास्ति ने ही तो **अशान्तमस्ति** स्वरूप बना रक्खा है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विक्षिप्यमाणो हि रसः प्रशान्ताद् रसाद्विभेदेन विभाति सद्यः ।
यावान् रसः सोऽस्ति[1] ततः परस्तात्समन्ततो नास्ति तथाऽऽवृतिः सा" ॥११३॥

१ 'विक्षिप्यमाणः' ।

चूंकि इच्छाएँ सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, अतएव इच्छाजन्य विक्षेपावरण भी भिन्न-भिन्न ही हैं। विक्षेपावरण से ही वस्तुस्वरूप बनता है, अतएव कामवशात् विभिन्नावरण प्रभाव से ही- इस विश्व में चारों ओर विभिन्न-विभिन्न वस्तुएँ प्रतिभासित हो रही हैं। इस विभिन्नता का एक मात्र कारण विक्षेपावरणभेद है एवं विक्षेपावरण के भेद का कारण-इच्छा है एवं इच्छा-भेद का कारण-वही ज्ञान-क्रियार्थमय सच्चिदानन्द भगवान् हैं।

इन आवरणों को ही 'छन्द' कहते हैं। लौकिक भाषा में जिसे आवरण कहते हैं-वैदिक भाषा में उसे ही 'छन्द' कहते हैं। हद्बन्दी-पैमाना-अन्दाज-इन्हीं का नाम छन्द है। सारा विश्व वाङ्मय है। उसी को विक्षेपावरण ने-नाना भाव में परिणत कर दिया है, अतएव-**"वाक्परिमाणं छन्दः"**-छन्द का यह भी लक्षण किया जाता है। इसी को दार्शनिक-'आकृति' शब्द से व्यवहृत करते हैं। इन्हीं आकृतियों का नाम जाति है। बैल की आकृति बैलजाति कहलाती है-जिसकी ऐसी आकृति होगी, वे सबके सब 'बैल' कहलायेंगे। इसीलिए-**'आकृतिग्रहणा जातिः'** यह कहा जाता है एवं प्रत्येक जातियों में अनन्तानन्त व्यक्तिएँ होती हैं। इसी नाना भाव का नाम विश्व है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इत्थं विभिन्नावरणप्रभावतो विभिन्नवस्तूनि विभान्ति सर्वतः।
छन्दांसि तान्याकृतयश्च ता इमाः स्युर्जातयो व्यक्तय आसु चान्तराः ॥११४॥

इस नानात्व का कारण-एकमात्र विज्ञान ही है। विज्ञान से मन अभिप्रेत है। मन ही तो ज्ञान-स्वरूप है। इसी से इच्छा का प्रादुर्भाव होता है। इच्छाएँ चूंकि अनन्त हैं, अतएव इच्छा से उत्पन्न विक्षेपावरण भी अनन्त हो जाते हैं। विक्षेपावरण से ही वस्तु-स्वरूप बनता है। एवं यह है-अनन्त अतएव अनन्त पदार्थ हो जाते हैं। विभिन्न बुद्धिकृत अर्थात् निर्म्मित जो अनन्तानन्त विशेष हैं अर्थात् ज्ञाननिर्म्मित जो घट-पटादिस्वरूप अनन्त व्यक्तिएँ हैं, उनसे परिच्छिन्न होकर इस परिग्रह से अर्थात् लिमिट से वह एक ही रस बहुधा प्रतीत होने लग जाता है। अर्थात्-प्रत्ययमात्रेण क्लृप्त नाना व्यक्तियों से गृहीत यह व्यापक रस नाना भाव में परिणत हुआ सा दिखलाई पड़ने लगता है। इसी नानात्व का नाम-सृष्टि है। 'इदमस्ति-इदमस्ति-घटोऽस्ति-रूपा' जो पृथगस्तितावुद्धि है, इसी का नाम-संसार है। नाना ही सृष्टि का स्वरूप है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एतैर्विशेषैः कृतया विभिन्नया धिया परिच्छिद्य परिग्रहादयम्।
रसः स एको बहुधा प्रतीयते तां सृष्टिमाहुः पृथगस्तिताधियम्" ॥११५॥

यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो सृष्टि-वृष्टि कोई वस्तु नहीं है। सारी सृष्टि अर्थात् सारा नाना भाव एकान्ततः मिथ्या है। क्योंकि रसभेद से नानात्व होता है। रसनानात्व पर ही-सृष्टि की बुनियाद है। परन्तु रस का भेद कभी हो ही नहीं सकता। रस व्यापक है-परिपूर्ण है-शान्त है-असीम है। उसका भेद कैसा? जब भेद नहीं तो नानात्व कैसा? नानात्व नहीं तो सृष्टि कैसी?

विभिन्न-विभिन्न कामनाओं अर्थात् इच्छाओं के कारण जो विक्षेप होता है, उससे एकरस भिन्नतया पृथक्-पृथक् हो गया है, यह केवल विज्ञानमात्र है। अर्थात्-'रस भिन्न हो गया'-यह तुम्हारा खयाल ही खयाल है। वस्तुतः-रस कभी भिन्न हो ही नहीं सकता। इच्छाएं विभिन्न हैं-यह भी तुम्हारा खयाल है। वास्तव में इच्छाएँ भिन्न नहीं हैं। इच्छा भी रस ही है। एवं विक्षेप अनन्त हैं-यह भी तुम्हारा प्रत्यय ही प्रत्यय है एवं आनन्त्य भी खाली खयाली-पुलाव ही है। सिवाय प्रत्यय के और कुछ नहीं है। प्रत्यय रस है एवं प्रत्यय एक है, फिर नानात्व कैसा? नानात्व नहीं तो सृष्टि कैसी? केवल प्रत्यय ही सच्चा कैसे है?-इसका विस्तृत विवेचन हम **प्रत्ययैकसत्योपनिषत्** में करने वाले हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न वस्तुतः काचन सृष्टिरिष्यते रसस्य नैकस्य हि भेदसंभवः।
विज्ञानमात्रं तु विभिन्नकामजाद्विक्षेपतो भिन्नतया पृथक्त्वकृत्" ॥११६॥

एक तालाब पर दृष्टि डालिए। जल एक है। वह एक ही जल छन्द में अर्थात् आयतन में भेद होने के कारण सरित्-सर-सागर-निर्झर-उल्लोल (महातरंगें)-वीचियाँ (छोटी तरंगें)-भँवर-फेन-बुद्-बुद-इत्यादि नानारूपों में परिणत हो जाता है। पर्वत से गिरने के कारण वही पानी-निर्झर-कहलाने लगता है। एक बडे से चौड़े खड्डे में जाकर वही पानी 'सर' कहलाने लगता है। हम पूछते हैं? क्या पानी बदल गया? हर्गिज नहीं। पानी अपने प्रातिस्विकरूपेण एक ही है। प्यास बुझाना-शान्ति करना इत्यादि पानी के धर्म्म सर्वत्र समान हैं-केवल आयतन-भेद से पानी के नाना नाम हो गए हैं। तो जिस प्रकार आयतन में भेद होने से पानी पूर्वोक्तादि पृथक् पृथक् नानारूपों से व्यवहृत होने लगता है-जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है-

"एकं जलं छन्दसि भेदतो यथा सरित्सरःसागरनिर्झरादिभिः।
उल्लोलवीचीभ्रमिफेनबुद्बुदादिभिश्च रूपैः प्रतिपद्यते पृथक् ॥११७॥

बस, ठीक इसी प्रकार वह एकरस ही सर्वतः पूर्ण है। पूर्णतया सर्वत्र वही शान्त रस व्याप्त हो रहा है। वह पूर्ण प्रशान्त रस अखिलशक्तिस्वरूप अस्ति से अर्थात् सत्ता से भासित हो रहा है। अस्ति-सत्ता से उसका भान हो रहा है। रस का अर्थात् आनन्द का डायरेक्ट भान नहीं होता। रस का भान-'है'-इस सत्ता रूप से ही होता है। सत्ता अखिलशक्तियुक्त है-इसका तात्पर्य्य यही है कि सत्ता-मनःप्राणवाङ्मय है। मनप्राणवाक्समष्टि का नाम ही 'है' है। उस आनन्द के दर्शन-'है' इस सत्तारूप से ही होते हैं। चूँकि शक्तिएँ अनन्त हैं, अतएव विभिन्न शक्तियों से एवं विभिन्न बुद्धियों से एक ही रस नाना प्रकार से व्यवहृत किया जाता है। वस्तुतः वह रस नाना नहीं है, अपि तु, एक ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है-

"तथा स एको रस एव सर्वतः पूर्णः प्रशान्तोऽखिलशक्तिरूपया।
अस्त्या विभातीति विभिन्नशक्तिभिर्विभिन्नबुद्ध्या बहुधावसीयते" ॥११८॥

बुद्धि और शक्ति भेद से नानास्वरूपेण प्रतिपन्न जो एक, इस रस का स्वरूप है–वह नानात्व ही–विश्व इस नाम से प्रसिद्ध है । सारे भेदों को तोड़कर यदि सारे प्रपञ्च को एकवत् देखा जाता है–तो वही आत्मा है–वही परमेश्वर है । नाना भाव का नाम 'विश्व' है– एकत्व का नाम परमेश्वर है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है

"इत्थं विभिन्नं प्रतिपन्नमस्य यद्रूपं हि तद्विश्वमिदं प्रसिद्ध्यति ।
अपोह्य भेदं यदि सर्वमेकवद्वीक्षे स आत्मा परमेश्वरो मतः" ।।११९।।

——❀——

३–क्षोभेऽपि रसस्य शान्त्यभङ्गः ।

क्षोभ रहने पर भी रस की शान्ति का कुछ नहीं बिगड़ता—

सारे विश्व में शान्त और अशान्त–ये दो ही भाव दिखलाई पड़ रहे हैं । प्रति पदार्थ में इन दोनों भावों का प्रत्यक्ष हो रहा है । अशान्ततत्त्व का नाम बल है । संसार के यच्चयावत् पदार्थ प्रतिक्षण बदल रहे हैं । जो वस्तु आज है–वह कल नहीं–कल थी, वह आज नहीं । यही नहीं–किन्तु क्षण-क्षण में परिवर्त्तन होता रहता है । इसी परिवर्त्तन के कारण पर्वत मिट्टी बन जाता है । मिट्टी पत्थर बन जाती है । पानी आग बन जाता है, आग वायु बन जाता है । वायु आकाश बन जाता है । रात-दिन अनवरत इस महा-माया का चक्र चलता ही रहता है । बस, इस अशान्तिस्वरूप क्रिया का नाम ही "बल" है । इस अशान्ति में एकशान्ति–आनन्द तत्त्व के भी दर्शन होते रहते हैं । वही 'रस' नाम से व्यवहृत होता है । इस रस का स्वरूप 'है'–यही है । अस्तिभाव ही रस का स्वरूप है । संसार के यावन्मात्र पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, परन्तु इस सत्ता का विनाश नहीं होता । 'है'–इस अस्तितत्त्व का कभी अपलाप नहीं होता । घड़ा है, तो भी 'है' है, घड़ा नहीं है, तो भी 'है' है अर्थात् नहीं जाता । नहीं के आगे भी-है-लगा ही रहता है । 'है'–यह सर्वथा नित्यतत्त्व है । यह सर्वथा निष्क्रिय है । यही 'है'–अर्थात् यह निष्क्रिय रस–उस क्रियामय बल का आलम्बन है । क्रिया की उपपत्ति तब तक नहीं बन सकती, जब तक कि इसका कोई निष्क्रिय आधार नहीं मान लिया जाए । क्रिया परिवर्त्तनीया है । परिवर्त्तन तभी बन सकता है–जब कि उसका आलम्बन कोई अपरिवर्त्तनीय हो । जो कि वही रस है । वह सर्वथा शान्त है । समष्टिरूपेण विश्व सर्वथा शान्त है–व्यष्टिरूपेण सर्वथा अशान्त है । संसार के यावन्मात्र पदार्थ बदल रहे हैं । यहाँ तक कि आज के दस हजार वर्ष पहले के जो मनुष्य–कृमि-कीट-वृक्षादि थे–उनका इसी परिवर्त्तनीया क्रिया के कारण कहीं पता भी नहीं है, परन्तु संसार तब भी संसार था–अब भी संसार है–आगे भी वही संसार रहेगा । गंगा में जो सलिल धारा आती है–पता नहीं–वह कहाँ चली जाती है ? प्रतिक्षण पानी बदलता रहता है । परन्तु,–'गंगा'–यह शान्तभाव भी साथ में ऐसा लगा हुआ है–जिसका कि कभी विनाश ही नहीं हो सकता । १०० वर्ष पहले भी वही गंगा थी–आज भी वही गंगा है । १०० वर्ष बाद भी वही गंगा रहेगी । कहने का तात्पर्य्य यही है–कि शान्त और अशान्त तत्त्व का परस्पर अविनाभूत सम्बन्ध है । न

शान्त विना अशान्त रह सकता है एवं न अशान्त विना शान्त रह सकता है। अमृत में मृत्यु घुसा हुआ रहता है, मृत्यु में अमृत घुसा हुआ रहता है। दोनों में दोनों ओतप्रोत रहते हैं। रस और बल कभी अलग हो ही नहीं सकते। अतएव–**"तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः"**[1] एवं **"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्"**[2]–यह कहा जाता है।

इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि इस शान्त रस में अशान्त बल हरवक्त नाचा करता है, परन्तु इससे रस की शान्ति का जरा भी भङ्ग नहीं होता। विक्षेप, काम और आवरण- ये तीन ही अर्थ-शक्तिएँ हैं। तीनों ही क्षोभ के जनक हैं। तीनों ही उस रस में रहते हैं। इन तीनों के प्रभाव से इस रस में–चाहे आत्यन्तिक क्षोभ ही क्यों न होता हो–इससे रस का कुछ भी नहीं बिगड़ता। रस तो प्रातिस्विक-रूपेण सर्वथा शान्त है। आप जो रस में क्षोभ देख रहे हैं–वह रस का क्षोभ नहीं है, वह क्षोभ है–उन शक्तियों का–बन बलों का–जो कि रस पर रहते हैं। शक्तिएँ रात-दिन क्षुब्ध रहती हैं। परन्तु रस सर्वथा शान्त रहता है। विक्षेप, काम, आवरण के कारण पदार्थस्वरूप और का और हो जाता है। इसी विक्षेप आवरण के कारण आज वही आत्मा–पुस्तक बन गया है। आज आवरण के कारण–आत्मा के अन्तप्रविष्ट रहते हुए भी पुस्तक को 'जड़' कहा जाता है। यह इसी विक्षेपावरण की महिमा है। इसी विक्षेप के कारण–पर्वत मिट्टी बन जाता है। वही पर्वतकाठिन्य–पानी द्वारा जौ-गेहूँ में घुस पड़ता है। जौ में–गोधूम में जो कठिनता प्रतीत होती है, वह इसी पर्वत का अंश है जो कि उस विक्षेप के कारण आज इनमें घुसा हुआ है। कालान्तर पाकर सारे (पदार्थ) जो मिट्टी बन जाते हैं वह मिट्टी कालान्तर पाकर वापस पत्थरादि बन जाती है। इस प्रकार अनवरत क्रिया का चक्र चलता रहता है। पत्थर को आप बडा मजबूत मानते हैं, परन्तु इसी विक्षेपक्रिया के कारण पानी की नन्हीं-नन्हीं बूंदें कालान्तर में जा के पत्थर में खड्डा कर डालती हैं। क्या संसार में–कोई इस क्रिया के आक्रमण से बचा हुआ है? हर्गिज नहीं। कहना इससे यही है कि प्रत्येक पदार्थ में क्रिया हो रही है। एक क्षण भी यह चुपचाप नहीं बैठती, अतएव मानना पड़ता है कि क्रियामय पदार्थों में इच्छा भी अवश्य ही है। यदि इच्छा न हो तो विक्षेप के कारण क्षणमात्र में पदार्थ नेस्तनाबूद हो जाएँ। यह विक्षेप इतना प्रबल है–इतना प्रबल है कि यदि इच्छा द्वारा आदान न हो तो–क्षण मात्र में–वस्तु का पता भी न लगे। इच्छा से ही आदान होता है। क्रिया से खर्च होता है, परन्तु साथ ही में इच्छा द्वारा आदान भी होता रहता है–अतएव पदार्थ नष्ट नहीं होने पाता। बस, इस आदान-विसर्ग से बाल्य-युवा-वृद्ध–ये तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। प्रारम्भ में चूंकि इच्छा प्रबल रहती है, अतएव आदान अधिक होता है एवं विसर्ग कम होता है। इसी अवस्था का नाम है–बाल्यावस्था। एवं जब आदान-विसर्ग समान रहता है–तो वही युवावस्था कहलाती है एवं आमद कम होती है और खर्च अधिक होता है तो इसी को 'वृद्धावस्था' कहते हैं। कहना इस प्रपञ्च से यही है कि विक्षेप-काम और आवरण–तीनों ही आत्यन्तिक हैं। इतना होने पर भी रस का कुछ नहीं बिगड़ता। रस तो सर्वथा शान्त है। बल ही नाचता है। बल का आश्रय चूंकि रस है, अतएव रस नाचता हुआ दिखलाई पड़ता है। वस्तुतः रस सर्वथा शान्त है। पानी के हिलने से प्रति-

१ ईशोप० ५। २ शत० ब्रा० १०।५।२।४।

बिम्ब हिलता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में प्रतिबिम्ब सर्वथा शान्त है। प्रतिबिम्ब का कुछ नहीं बिगड़ता।

तात्पर्य्य यही है कि विक्षेप-काम-आवरण के प्रभाव से चाहे रस में आत्यन्तिक क्षोभ ही क्यों न हो, परन्तु, रस प्रातिस्विकरूपेण सर्वथा शान्त रहता है। क्षोभ बल का धर्म्म है। शक्तिएँ-नाचती रहती हैं। वस्तुतः रस सर्वथा शान्त है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विक्षेपकामावरणप्रभावादात्यन्तिकक्षोभ इहास्तु शश्वत्।
रसः स्वतस्त्वेष परः प्रशान्तः क्षुभ्यन्त्य एता इह शक्तयः स्युः" ॥१२०॥

इस पर भी यदि आप रस के शान्ति तत्त्व को नहीं समझे-तो दृष्टान्त द्वारा समझिए-यह आकाश सर्वथा पूर्ण है-यह आप अवश्य ही मानते होंगे। आकाश से कोई भी स्थान खाली नहीं है। सर्वत्र यह आकाश व्याप्त हो रहा है। जो वस्तु पूर्ण होती है-उसमें गति नहीं हुआ करती। स्थानान्तरित होने का नाम गति है। जब आकाश से कोई स्थान खाली ही नहीं है-तो फिर वह जा कहाँ सकता है? यदि नहीं जा सकता तो फिर आकाश में अशान्ति कैसी? अशान्ति नाम है-विचालीभाव का। जब आकाश विचलित ही नहीं होता तो फिर यहाँ अशान्ति का क्या काम? इस पूर्ण एवं शान्त आकाश में-वायुग्राम (वायु समूह) जो कि क्षुब्धतर है-क्षोभयुक्त है, आसमन्तात् भरा रहता है। वायु पूर्ण नहीं है-अपि तु, अपूर्ण है-खण्डयुक्त है। वायु एक नहीं है, अपि तु, नाना हैं। इसीलिए भगवान् कणाद कहते हैं-**वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम्**"[1]। जिसमें खण्ड होता है, उसमें गति होती है। वायु खण्डयुक्त है, अतएव उसे गतिशील मानना पड़ता है। वायु एक मिनट भी गतिहीन नहीं रहता। हरवक्त क्षोभाक्रान्त रहता है, इसीलिए वायु को 'सदागति' भी कहा जाता है। वायु क्षुब्ध ही नहीं है, अपि तु, क्षुब्धतर है। यह आकाश के-जर्रे-जर्रे में-आसमन्तात् व्याप्त रहता है। इस प्रकार आकाश में वायु खूब क्षोभ करता रहता है। परन्तु वायु के क्षुब्ध होने पर भी आकाश जरा भी क्षुब्ध नहीं होता। हो कैसे? जब कि वह पूर्ण है-व्यापक है। वायु कितना ही क्षोभ करे, परन्तु इससे आकाश की शान्ति का भङ्ग नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं—

**"यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय" ॥[2]**

'मत्स्थानि' का **'रसस्थानि'**-यही अभिप्राय है। एवमेव-रस सर्वथा शान्त है। इसकी शान्ति कभी नष्ट नहीं होती। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ वै० दर्शन २।१।१४।   २ गीता ९।६।

"पूर्णोऽयमाकाश इहास्ति वायुग्राम: परिक्षुब्धतर: समन्तात् ।
क्षुभ्यत्सु वायुष्वपि नैव जातु क्षुभ्यत्यमुष्यास्ति न शान्तिभङ्ग:" ।।१२१।।

विक्षुब्ध होने वाले प्रत्येक वायु में–व्योम अन्तर्निहित है । ऐसा कोई भी वायु नहीं है, जिसमें आकाश न हो । जब कि आकाश व्यापक है तो फिर उसका अभाव हो ही कैसे सकता है ? यह सब कुछ होते हुए भी आकाश में कभी कम्प नहीं होता । कम्प होता है–वायु में, न कि आकाश में । आकाश तो सर्वथा शान्त है । तो जिस प्रकार वायु में अन्तर्निहित आकाश सर्वथा शान्त रहता है तथैव क्रिया स्वरूप-क्षोभस्वरूप बलों में अन्तर्निगूढ आसमन्ताद्-व्याप्त जो रस है–उसमें कभी क्षोभ नहीं हो सकता–यही दार्शनिकों का सिद्धान्त है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रत्येकविक्षुब्धमरुत्सु गूढं व्योमास्ति न व्योम्नि तु जातु कम्प: ।
क्षुब्धासु शक्तिष्वभितो रसोऽयं रसे तु न क्षोभ इति स्म केचित्" ।।१२२।।

संसार में पदार्थ कुल दो ही प्रकार के हैं–मूर्त्त और अमूर्त्त । इसीलिए–"**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च**"[१]–यह कहा जाता है । मैटिरियल पदार्थ को मूर्त्त कहते है, अनमिटीरियल को 'अमूर्त्त' कहते हैं । ज्ञान अमूर्त्त पदार्थ है । अमूर्त्त पदार्थ दिग्देशकालानवच्छिन्न है एवं मूर्त्त पदार्थ दिग्देशकाल से अवच्छिन्न है । इतना होने पर भी यह मानना पड़ता है कि यह अमूर्त्त पदार्थ ही बलसम्बन्धेन मूर्त्त बन जाता है । बल का नाम है–छन्द । सीमा कायम करना–हद्‌दबन्दी कायम करना–यह बल का काम है । बस, इस परिच्छेद के होते ही इसमें रस भर जाता है । अपरिच्छिन्न अमूर्त्तरस बलसम्बन्धेन-मूर्त्त एवं परिच्छिन्न बन जाता है । रस बल का आलम्बन है, अतएव जहाँ बल ने सीमा कायम की नहीं कि रस उसमें बैठा नहीं । रस भी अमूर्त्त है एवं एक प्रकार से बल भी अमूर्त्त है । मूर्त्त है–दोनों की समष्टि । रस, जब बल की पकड़ में आ जाता है तो, मूर्त्ति का जन्म हो जाता है । संसार में जिसे मूर्त्ति कहा जाता है, वह रस ही है । रस ही से मूर्त्ति बनती है । बल क्रियास्वरूप है । क्रिया का कभी प्रत्यक्ष थोड़े ही हो सकता है । प्रत्यक्ष तो रस का ही हो सकता है । रस अमूर्त्त होते हुए भी बल द्वारा मूर्त्त बन जाता है । बलानवच्छिन्न रस का नाम अमूर्त्त है–बलावच्छिन्न रस का नाम मूर्त्त है । अमूर्त्त ही मूर्त्त बन जाता है । जब तक बल सहचरभाव से रस में रहते हैं, तब तक वह रस 'परात्पर' नाम से व्यवहृत होता है । सहचरभावयुक्त सुप्तबलविशिष्ट रस का नाम ही 'परात्पर' है । यह सर्वथा अमूर्त्त है–अतएव अनिर्वचनीय है । एवं बलावच्छिन्न जो रस है, उसका नाम 'अव्यय' है । इसी का नाम 'ईश्वर' है । यह चूँकि दिग्देशकालावच्छिन्न है अतएव–अव्ययक्षराक्षरस्वरूप ईश्वर को हम 'मूर्त्त' कहने के लिए तय्यार हैं । विश्व ही तो उस विश्वात्मा का शरीर है । जैसे हमारा यह शरीर है, वैसे ही उस महानात्मा का यह महाविश्व ही शरीर है । यही ईश्वराव्यय सारे लोकों का पालन-पोषण करता है । जैसे हमारा

---

१ बृहदा० उप० २।३।१ ।

शरीर हमारे आत्मा पर प्रतिष्ठित रहता है तथैव यह महाविश्व उस महानात्मा पर प्रतिष्ठित रहता है, अतएव श्री कृष्ण भगवान् कहते हैं—

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" इति ॥[1]

इस सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि संसार में जो मूर्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं—वे यह रस ही तो है। क्षोभ कुल ६ प्रकार का होता है—ऊँचा चढ़ना-नीचे उतरना। चलना-ठहरना। होना-न होना। बस, सारे विश्व में क्षोभ कुल ६ ही प्रकार का है। ये ६ओं ही—रस हैं। उन्नति और अवनति किसी वस्तु की होती है। वस्तु का नाम है—मूर्त्ति। मूर्त्ति को ही तो 'रस' कहते हैं। यह उन्नति है और यह अवनति है—आपको यह भेदग्रह हो रहा है। यह भेदग्रह—वस्तुभेदमूलक ही तो है। वस्तु ही का नाम तो रस है। फिर क्यों न हम उन्नति और अवनति को रस कहें। एवमेव जो स्थिति है, वह भी रस ही है एवं गति भी रस ही है। वायु ऊपर चढा तो वहाँ भी आकाश है। ठहर गया तो वहाँ भी आकाश है। स्थिति-गति किसी वस्तु की होती है। वस्तु का नाम ही ती रस है एवं जो है और नहीं है, वह भी तो रस ही है। नहीं में भी 'है' है और है में तो 'है' है ही। 'अस्ति' सर्वत्र है। 'अस्ति' का नाम ही तो रस है। उन्नति का भी भान होता है, अवनति का भी भान होता है। उन्नति भी है—अवनति भी है। 'अस्ति' सत्ता है—भान ज्ञान है एवं जो है और जिसका भान होता है-वही तो रस है। इस सत्ता—ज्ञान—रस के अलावा और है ही क्या ? उन्नति-अवनति, स्थिति-गति, अस्ति-नास्ति-सर्वत्र वह रस मौजूद है। रस का बिगड़ा क्या ? क्षोभ होने पर भी रस से पृथक् कोई वस्तु नहीं रह सकती। रस व्यापक है। उससे वस्तु अलग वास्तव में कैसे रह सकती है ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"या चोन्नतिर्या च नती रसौ तौ याऽवस्थितिर्या च गति रसौ तौ ।
यदस्ति यन्नास्ति तथा रसौ तौ क्षोभेपि किञ्चिन्न रसात् पृथक् स्यात्" ॥१२३॥

भेद करवाने वाले दिग्देशकाल ही तो हैं। फलानि दिशा में है—फलाने समय में है—फलाने स्थान में है। इस प्रकार दिग्देशकाल ही से तो भेद प्रत्यय होता है। हम कहते हैं—दिग्देशकाल भी तो रस ही है एवं गति और विशेष भी तो रस ही है। एवं नाना प्रकार की जो आकृतियाँ हैं वे भी तो रस ही हैं फिर क्षोभ होने पर भी—रस से पृथक् रहा क्या ? रस तो सर्वत्र व्याप्त है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"दिग्देशकालावयवा रसोऽयं विशेषसामान्यविधा रसोऽयम् ।
भिदा पृथक्त्वाकृतयो रसोऽयं क्षोभेऽपि किञ्चिन्न रसात् पृथक् स्यात् ॥१२४॥

१ गीता १५।१७ ।

ज्ञान से ही पदार्थ-भेद होता है। घठ-ज्ञान, पट-ज्ञान, मठ-ज्ञान–यह जो भेद ग्रह है, उसका एकमात्र कारण ज्ञान ही तो है। परन्तु ज्ञान से चाहे अनन्त भेद होते रहें परन्तु ज्ञान भी तो रस ही है। ज्ञानजनित जो सारे भेद हैं–वे भी तो रस ही हैं। ऐसी अवस्था में रस यदि अपने रसस्वरूप से कभी च्युत नहीं होता है तो–क्षोभ होने पर भी रस से कुछ भी पृथक् नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ज्ञानेन तस्मिन् प्रभवन्तु भेदा ज्ञानं रसः सर्वविधा रसः सः।
रसो रसत्वान्न यदि च्यवेत क्षोभेऽपि किञ्चिन्न रसात् पृथक् स्यात्" ॥१२५॥

॥ इति द्वितीयो जीवेश्वरखण्डः सम्पूर्णः ॥ *

---

* नोटः–'कृष्णत्रिसत्योपनिषत्' के अन्तर्गत 'जीवेश्वर' नामक इस द्वितीय खण्ड के १–ईश्वराणां जीवत्वम्, २–ज्ञानक्रियार्थप्रपञ्चः, ३–क्षोभेऽपि रसस्य शान्त्यभङ्गः, ४–जीवानां परमेश्वरत्वसम्पत्तिः–ये चार विषय हैं–इनमें से १, २, ३, पर ही शास्त्री जी का भाष्य मिला है, इसमें भी तीसरे के १२५ नम्बर तक के श्लोक का भाष्य ही है–शेष १२६ से १२८ तक के श्लोक एवं चौथे विषय 'जीवानां परमेश्वरत्वसम्पत्तिः' के १२९ से १३८ तक के श्लोकों का भाष्य उपलब्ध नहीं हुआ है। [सं०]

अथ

कृष्णत्रिसत्योपनिषत् चतुःखण्डा (द्वितीयं पर्व)

तत्रादौ

तृतीयो दुःखप्रतिपत्तिखण्डः

३

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ दुःखप्रतिपत्तिखण्डः प्रारभ्यते ।

१–आत्मनो नित्यानन्दत्वम् ।

आत्मा सदानन्दमयोऽस्त्ययं वा स सर्वदा दुःखमयोऽस्ति किंवा ।
भयं स दुःखं लभते कथं वा किमस्ति दुःखं किमिदं भयं वा ।।१३९।।

अत्रोच्यते द्वैधमिदं निरुक्तं रसो बलं चेति पृथक्स्वभावम् ।
रसोऽयमात्मा बलमात्मशक्तिः स नित्यमानन्दमयो रसत्वात् ।।१४०।।

सर्वो जनः कामयते हि सौख्यं प्रीणाति यत्कामयते तदैव[1] ।
तत्रात्मने कामयते हि कामान् कामः स आत्मैव ततः सुखं सः ।।१४१।।

उपप्लवं दस्युभिरेव लब्ध्वा स्त्रीपुत्रवित्ताद्यखिलं विहाय ।
आत्मानमादाय पलायतेऽयं तस्मात् प्रियः सर्वत एष आत्मा ।।१४२।।

यदल्पमल्पं तदिहार्तमार्तं यथा तु भूमा सुखमिष्यते तत् ।
परस्तु भूमाऽस्त्यमृतेऽतिमात्रे ततः परानन्दमयः स आत्मा ।।१४३।।

भयं हि कम्पः स्थितिविच्यवोऽसौ तत्कर्म्ममृत्युः स इहापदिष्टः ।
ध्रुवं प्रशान्तं त्वमृतं ततोऽन्यत् ततः सदानन्दमयः स आत्मा ।।१४४।।

भयं मितस्य प्रबलाद् द्वितीयादिदं त्वमात्रामृतमद्वितीयम् ।
न कम्पयोग्यं न ततो वरिष्ठं ततोऽभयानन्दमयः स आत्मा ।।१४५।।

रसोऽन्नमाधीयत आत्मने यत् तृप्तिर्गतिस्तस्य रसस्य दृष्टा ।
विज्ञानमानन्द इतीह तृप्तौ तत्तृप्तिजानन्दमयः स आत्मा ।।१४६।।

सुखं रसो हीति वदन्ति विज्ञा रसं हि लब्ध्वा सुखिता भवन्ति ।
रसोऽमृतं कार्य्यरसानुभावात् ततो रसानन्दमयः स आत्मा ।।१४७।।

२–आत्मत्रैविध्ये पराक्षरयोर्दुःखाभावः । क्षरस्य दुःखयोगित्वम् ।

आत्मा द्विधा कश्चिदखण्ड एकः स निष्कलः कर्म्मभिरस्ति तस्मात् ।
नायं विचाली न भयं न दुःखं तस्यास्ति शोको न जरा न कामः ।।१४८।।

---

१ स्व० शास्त्री जी ने 'तदेव' पाठ रक्खा है ।

कर्मात्मनाम्ना त्ववरो य आत्मा स सर्वकामः सकलः सकर्मा ।
क्षरोऽक्षरश्च द्विविधः स तत्राक्षरोऽविचाली न स दुःखयोगी ॥१४९॥

यः प्रज्ञ आत्मा क्षर एष कामाद् विचाल्यतेऽल्पज्ञतया हि सोऽज्ञः ।
तस्यैव दुःखं च भयं च मन्ये प्रज्ञस्य स द्वन्द्वमयो निरुक्तः ॥१५०॥

३–दुःखादिस्वरूपाणि ।

आत्मा विचाल्येत भयं तदुक्तं या चात्महानिः खलु तन्नु दुःखम् ।
स्वास्थ्यं हि तस्याविचलत्वमुक्तं यात्वात्मवृद्धिः सुखमुच्यते तत् ॥१५१॥

[1]प्रज्ञप्रकम्पः प्रथमं हि दुःखं [2]प्रज्ञाङ्गकम्पा भयमुग्रदुःखम् ।
[3]प्रज्ञावसादोऽतिशयेन दुःखं दुःखस्य काष्ठा [4]परमात्मनाशः ॥१५२॥

दुःखं चतुःसंस्थमिति ब्रुवन्ति तत्र द्वितीयं भयमेव [1]दुःखम् ।
प्रज्ञस्य कम्पे यदिवाऽवसादे [2]शून्यात्मता दुःखमिदं न भीतिः ॥१५३॥

[1]कामावसादस्तु दरिद्रताख्यं स्यादा[2]त्मकम्पो भयनाम दुःखम् ।
[3]आत्मावसादः किल शून्यदुःखमित्थं त्रिधा केचन दुःखमाहुः ॥१५४॥

४–आत्मनि भोग्यान्तरायाद् दुःखोपपत्तिः ।

चिरं स तिष्ठत्यपि यत्र देशे तत्रैव भूयो रमते स्वभोगैः ।
ततो बहिष्कारकृतौ त्वमुष्य प्रतीयते चेतसि दुःखभावः ॥१५५॥

तत्रात्मनस्तस्य सतः स्वभोग्ये विज्ञानतो या ममता निविष्टा ।
निवर्तते सा तदिहात्मनस्तद् भोग्यं पृथक् स्यात् तदिहास्ति दुःखम् ॥१५६॥

यान्येव भोग्यानि पुरा सुखानि तान्येव संप्रत्यसुखानि भान्ति ।
भोग्यस्थितात्मस्थितयोश्च तस्मादानन्दयोरन्तरमेतदाहुः ॥१५७॥

तेनायमानन्दमयः स आत्मा तेनेदमानन्दमयं च भोग्यम् ।
एकं पुरासीदुदरेऽन्तरे तु कृते भयं स्यात् तदवैति दुःखम् ॥१५८॥

सुखेन भोग्येन सुखोऽयमात्मा न संभवेदेकमयः क्वचिच्चेत् ।
विशेषदोषादुदरेऽन्तरे तु कृते न तस्मिन् रमते स दुःखी ॥१५९॥

बहिष्कृतस्त्वेष पुनः प्रदेशे यत्रैव गच्छेन्न रमेत सद्यः ।
अथ क्रमाद् भोग्यकुले स आत्मा ममत्वयोगाद्विभवन् रमेत ॥१६०॥

न केवलं तत्सुखमात्मनीनं तस्याविशेषादसुखाप्रसङ्गात् ।
आत्मेव तस्मादिह भोग्यवर्गोऽप्यानन्द एवेति मतः स भूमा ॥१६१

५-आत्मभिन्नानामानन्दमयत्वे पूर्वोत्तरपक्षौ ।

अथाहुरानन्दमयोऽयमात्मैवाःये तु भोग्या न तथा स्युरेते ।
आत्मीयमानन्दमयांशुमेवाभिव्याप्तमीक्षे मम तु प्रियेऽर्थे ॥१६२॥

विद्वेष्टि योऽस्मानथ यं वयं वा द्विष्मो न नस्तत्र तथांशुरेति ।
न स प्रियस्तेन, सदोषदृष्टया दृष्टः प्रदुष्टः प्रतिभाति दृग्वत् ॥१६३॥

मूर्छां प्रयन्नेष मुमूर्षुरात्मा पश्यन्निरानन्दमुपैति सर्वम् ।
तस्मान्निजानन्दमयांशुयोगादेव स्युरानन्दमयाः परेऽर्थाः ॥१६४॥

अत्रोच्यते यद्वदयं द्विषन्तोऽप्यानन्दपूर्णोऽहमिवारित किन्तु ।
नानन्दमात्रास्य विभाति तद्वद् भोग्योऽर्थ आनन्दमयो न भाति ॥१६५॥

जीवा यथानन्दमया अशेषास्तथैव भोग्या अपि सर्व एते ।
प्रियस्तु सर्वोपि स दृष्टिदृश्यानन्दद्वियोगेन तदेकतायाम् ॥१६६॥

कामोऽयमात्मांशुरनेन कामेनात्मा परस्मिन्नुपसृप्य भक्त्या ।
आसज्यते तेन च स प्रियः स्यान्नास्य प्रियः कोपि सचेदकामः ॥१६७॥

कामानपेक्षस्त्वथवायमात्मैवानन्द आनन्दमयाखिलार्थैः ।
एकीभवन् पश्यति विश्वमेवानन्दं स आत्मास्ति विदेहमुक्तः ॥१६८॥

६-आत्मन्यज्ञानावरणाद् दुःखोपपत्तिः ।

यदोषधीरत्ति जलं च तेजो वायुं च वाचं श्रमतो बलं च ।
ज्ञानं च पञ्चेन्द्रियसंप्रयोगात् प्राप्नोति शिक्षावशतश्च किञ्चित् ॥१६९॥

एषां सुयोगात् सुखमल्पमिथ्यातियोगतो दुःखमुदेत्यनल्पात् ।
अथास्ति सप्तस्वशितेषु तेषु प्रसादकिट्टद्विविभागसिद्धिः ॥१७०॥

प्रत्यर्थमेवास्त्यमृतं च मृत्युर्मृत्युर्बहिर्धाऽन्तरतोऽमृतं च ।
किट्टं तु मृत्योरमृतात् प्रसादः स्वभावतः स्याद् द्विविभागसिद्धिः ॥१७१॥

रसः प्रसादस्तत आत्मनो यद् विरूस्यते तत् परिपूर्तिमेति ।
किट्टं मलं नात्महितं तदात्माऽनुत्सृज्य यद् यौति तदस्य दुःखम् ॥१७२॥

पुरीषमूत्राद्युपसर्गबाधे त्यक्तुं हठादिच्छति सद्य आत्मा ।
नोत्सृज्यते यावदिदं स तावत् प्रपीड्यते योगत एति रोगम् ॥१७३॥

कर्म्म प्रसादः सुखकृद् विकर्मा कर्म्मद्वयं दुःखकृते तु किट्टम् ।
ज्ञानं प्रसादः सुखकृन्मलात् त्वज्ञानान्यथाज्ञानत एति दुःखम् ॥१७४॥

सप्तान्नभोगेऽपि सुयोगहेतुर्ज्ञानं तथा ज्ञानकृतं च कर्म्म ।
प्रज्ञापराधात् त्वतिहीनमिथ्यायोगा विकर्म्माणि ततोऽस्य दुःखम् ॥१७५॥

तथा च सर्वत्र सुखोदयेस्ति ज्ञानं निमित्तं न विना ततस्तत् ।
अज्ञानतः सर्वविधानि दुःखान्युद्यन्त्यतो भीर्भवतीति सिद्धम् ॥१७६॥

७–अन्नसुयोगाभावाद् दुःखोपपत्तिः ।

यदन्नमात्माऽऽयतनेऽशनायया संगृह्यते तत्र सुयोगतः सुखम् ।
अयोगहीनातिविरुद्धयोगतः प्रज्ञापराधात् त्विह दुःखमुद्भवेत् ॥१७७॥

अन्नं जलं तेज इदं स वायुर्वाग् वा बलं ज्ञानमजस्रमत्र ।
प्रयुज्यते तेष्वतिहीनयोगाद् विरुद्धयोगाच्च भयं च रोगः ॥१७८॥

तेजो रवेर्वायुमथान्तरिक्षाद् वाचं श्रुताच्च स्वत एव भुङ्क्ते ।
बलं तु कर्मेन्द्रियतः श्रमाच्च ज्ञानं प्रगृह्णाति च धीन्द्रियेण ॥१७९॥

सर्वत्र हीनाप्तिविरुद्धयोगादनिष्टमुत्पद्यत इत्यवैमि ।
अन्नग्रहे चान्न[1]विसर्जने वा प्रज्ञापराधो भयहेतवे स्यात् ॥१८०॥

मनः प्रभृत्यात्मनि मृत्तिकान्तं यदस्ति तत्संयुतमन्यदन्नम् ।
विरुध्यते चेत् तदनिष्टकृत् स्यात् रुग्भीतिकृद्ध्यात्मविरुद्धमेतत् ॥१८१॥

वागर्थमश्नाति बलं भुनक्ति प्राणो मनो ज्ञानमलं भुनक्ति ॥
विरुद्धविज्ञानमवाप्य सद्यः क्षुभ्णाति विद्वेष्टि बिभेति हन्ति ॥१८२॥

यथाल्पसारः प्रबलाक्रमेण प्रपीड्यते तद्वदिहाल्पचेताः[2] ।
विरुद्धविज्ञानमवाप्य सद्यो धैर्य्यच्युतः स्यान्न तथा विपश्चित् ॥१८३॥

सप्तस्वपि व्याहृतिषु प्रसन्नाप्रसन्नभेदाद् बहवो विशेषाः ।
कांश्चिद् विरुन्धन्ति च केचिदेषां मेद्यन्ति केपीति पृथक् प्रविद्यात् ॥१८४॥

८–आत्मनि कामासक्तया दुःखोपपत्तिः ।

आत्मा ह्ययं काममयोस्ति यस्मान्निवर्तते स्वत्वममुष्य कामात् ।
आत्मांशकामव्यपघातहेतोरात्मा विहन्येत तदस्य दुःखम् ॥१८५॥

---

१ पूज्य ओझा जी के मूल ग्रन्थ में 'चात्मविसर्जने वा' पाठ छपा हुआ है ।

२ पूज्य ओझा जी के मूल ग्रन्थ में 'तद्वहादिहाल्पचेताः' पाठ छपा हुआ है ।

अथाहुरेतन्मतमस्ति रिक्तं यत्कामहान्याह तदात्महानिम् ।
आत्मा हि गृह्णाति जहाति कामं कुतो विहीयेत स कामहान्या ॥१८६॥
अत्रोच्यते कामसमर्पितः स्यादासक्त्यनासक्तिवशाद् द्विधायम् ।
कामप्रसक्तस्य सकाम आत्मा कामानुगः काममयस्वरूपः ॥१८७॥
कामात्मनः काममयस्य चात्मा कामेषु तेष्वेव विभक्त आस्ते ।
कामोऽस्य यावानुपहन्यतेऽयं तावांस्तदात्माऽप्युपहन्यतेऽस्य ॥१८८॥
अथापि वा तस्य विभूतिरस्मिन् कामेऽस्ति कामे विहते हता सा ।
आत्मोदरेऽभूदिदमन्तरं यत् कामस्य हान्या तदवैति दुःखम् ॥१८९॥
अप्राप्तकामं यदि कामयेत तत्रापि कामावपनार्थमात्मा ।
संवर्द्धते तत्र न यावदेति कामं स तावत् समुपैति दुःखम् ॥१९०॥

९–दुःखस्य भयपूर्वकत्वनियमः ।

भयं नु दुःखेन भयेन दुःखं समन्वितं रूपमुदेति तस्मात् ।
दुःखं न चेन्नास्ति भयं भयं वा न चेन्न दुःखं समुदेति तत्र ॥१९१॥
अथाहुरेतन्मतमस्ति रिक्तं दुःखं न चोदेति भयं विनेति ।
आकस्मिकाघातवशात् स्वहानौ मृतौ च दुःखं क्रमते न भीतिः ॥१९२॥
अत्रोच्यते नास्ति भयादृते तद्दुःखं न कम्पेन विनावसादः ।
स्यादात्मनोऽथास्ति न कामहानौ चेदात्मकम्पो न तदास्ति दुःखम् ॥१९३॥
किन्त्वात्मनः सप्तपरिग्रहस्थे कम्पे भयस्यानुभवो धियास्ति ।
प्रकम्पिते त्वात्मनि न प्रसादो द्रष्टुस्ततो नानुभवो भयस्य ॥१९४॥
तत्कालमृत्यौ तु भयं क्षणेन स्थानेषु सप्तस्वपि सर्प्यमाणम् ।
गृह्येत नात्यन्तिकवेगहेतोर्न गृह्यते दुःखमपीह तद्वत् ॥१९५॥
अथास्तु वा दुःखमिदं समस्तं भयस्वरूपं पृथगात्मकं वा ।
यथा तथा वास्तु तथापि कामासक्त्यात्मनो दुःखमिदं भयं च ॥१९६॥

१०–प्रज्ञाशरीरोपष्टम्भभेदाद् दुःखद्वैविध्यम् ।

द्वेधा च तद्दुखमिह प्रवर्तते प्रज्ञामुपक्रम्य शरीरमेति वा ।
भूतान्युपक्रम्य धियं समेति वा रुजैव तत्रास्ति भयं न दृश्यते ॥१९७॥

११–अनासक्तौ स्थितप्रज्ञता ।

कामेष्वनासक्तिमितो य आत्मा न कामधातादयमेति घातम् ।
नायं विचाल्येत विचालहेतोरभावतः संस्थितधीरिहोक्तिः ॥१९८॥
आत्मा स्थिरो यस्य न तस्य दुःखं स्थिरो विचालीति विरुद्धमेतत् ।
ततः स्थितप्रज्ञ इह स्ववित्तादिकामहान्यापि न दुःखमेति ॥१९९॥

१२–अज्ञानमूलासक्तिः, ज्ञानमूलाऽनासक्तिः ।

आसक्तिरज्ञानवशात्तु तस्मिन् प्रवर्तते ज्ञानवशात् त्वसक्तिः ।
अज्ञानमेवास्ति भयस्य हेतुर्विज्ञानमेव त्वभयं वदामः ॥२००॥
कामानुषक्तो हि बलाधिकं यत् पश्यत्यकस्मादगृहीतपूर्वम् ।
बिभेति तस्माच्चकितोऽपसर्पत्यसौ पुनः शान्तिमुपैति बुद्ध्वा ॥२०१॥
अन्तःप्रवेशे नियमं न वेत्ति यो बिभेति धीमान् प्रविशन्नृपालये ।
अज्ञातदेशे प्रविशन् बिभेत्यसौ दुर्गेऽपि निःशङ्कमुपैति शिक्षितः ॥२०२॥
भयं ततोऽज्ञानवशात् प्रजायते भयस्य मात्रा तदबोधमात्रया ।
प्रशान्तिमात्रापि च बोधमात्रया सर्वत्र दृश्येत विवेकशालिनाम् ॥२०३॥
प्रज्ञा भयेऽस्मिन् विचलत्यवश्यं शान्तौ पुनः सा स्थिरतामुपैति ।
प्रज्ञा यदुत्सीदति चात्मनः सा भयस्य काष्ठा म्रियते तदासौ ॥२०४॥

१३–भयस्य मरणान्ता अष्टौ भेदाः ।

यदा ह्यधिप्रज्ञमुदेति कम्पनं तस्या विभूतिर्विषयेभ्य उत्क्रमेत् ।
नाभौ प्रकम्पात्तमसा प्रसङ्गतः स्युः प्राणवागादिषु विक्रियाः क्रमात् ॥२०५॥
प्राणः सकम्पो भवतीति दुर्बलोऽप्यसौ भयोद्भूतबलात् पलायते ।
वाग् वा सकम्पा भवतीति बिभ्यतो मुखादकस्माद् भयवागुदीर्यते ॥२०६॥
वायुः सकम्पो भवतीति कम्पनं गात्रेऽधिकं श्वास उदेति भूयसा ।
तेजः सकम्पं भवतीति शोषणं मुखेऽनुतप्तश्वसनोष्णवर्त्मणः ॥२०७॥
जलं सकम्पं भवतीति विग्रहः प्रस्वेदपूर्णः सहसाभिजायते ।
मृद्वा सकम्पा भवतीति गौरवात् स्तब्धाऽसृगुत्सन्नगतिश्च मूर्छितः ॥२०८॥
इत्थं चिरायात्र भयोपसर्पणे चिरं विकारक्रमतोऽतिदुर्बला ।
निर्मूलमुत्सन्नतरा यदात्मनः प्रज्ञा भवेत् तर्ह्यचिरान्म्रियेत सः ॥२०९॥

प्रज्ञाल्पमात्राल्पबला श्लथास्य चेदाभासते तत्र चिदल्पवत् ततः ।
प्रज्ञाल्पमात्राऽविधृतप्रतिष्ठिता विचाल्यतेऽज्ञानबलप्रणोदिता ॥२१०॥
विचाल्यमाने जलवन्न भाति चेत् प्रज्ञे चिदात्मा मरणं तदुच्यते ।
प्रज्ञां नितान्तप्रचलान्तरामनु स्युर्नो चिदाभासविभूतयस्तदा ॥२११॥
अज्ञानतोऽल्पे तु भये प्रवर्तिते प्रज्ञानकम्पादुदियन्ति विक्रियाः ।
सा प्राप्य विज्ञानमिह प्रतिष्ठिता तेनैव चालं विधृता प्रसीदति ॥२१२॥

१४–भयमज्ञानमूलकं ज्ञानमूलकं वेति विचारः ।

अथाहुरेतन्मतमस्ति रिक्तं भयं यदज्ञानकृतं वदन्ति ।
पश्यामि तु ज्ञानकृतं भयं स्यादज्ञानतो निर्भयतामुपेयात् ॥२१३॥
वटेऽत्र यक्षो वसतीति जानन् बिभेति भूयो वटमागतस्तम् ।
अजानता निर्भयमत्र रात्रौ सुस्थीयते नापि दिवात्र भीतिः ॥२१४॥
राज्ञो गृहे सर्वजनः प्रवेशं नार्हत्यथो साहसिकः प्रविश्य ।
दण्डेन निस्ताडनमर्हतीति जानन् प्रवेशाय बिभेति भूयः ॥२१५॥
यो बालिशो दीनजनस्य भूपतेर्नेहान्तरं वेत्ति न वा नृपालये ।
वेत्ति प्रवेशे नियमं स निर्भयं स्वैरं प्रवेशाय मतिं करोति हि ॥२१६॥
तस्माद्भयं ज्ञानत एव संभवत्यज्ञानमास्ते शरणं जडात्मनः ।
ज्ञानाद्भयं चेत्कथमुच्यतेऽमृतं विज्ञानमानन्दमयं किलाभयम् ॥२१७॥

१५–अज्ञानावृतज्ञानाद्भयमिति सिद्धान्तः ।

अत्राहुरज्ञानकृतं न तद्भयं न त्वेव विज्ञानकृतं क्वचिद्भयम् ।
ज्ञानं यदज्ञानकृतं तदागमान्मुह्यन्ति सर्वे भयहेतुरस्ति तत् ॥२१८॥
विज्ञानमात्मा हि यथास्ति यस्य तत्तथैव तिष्ठत्यपहन्यते न तत् ।
अज्ञानकालेऽपि तदप्रणोदितं कथं विचाल्येत कुतो भयं भवेत् ॥२१९॥
विज्ञानमात्मा हि यथास्ति यस्य तद्विज्ञानमन्यत् परिगृह्य वर्द्धते ।
तदात्मवृद्धया रसमश्नुते तथाऽऽनन्दः स तस्मान्न भयं तदा भवेत् ॥२२०॥
ज्ञानं यदज्ञानत आवृतं भवेत् तदागमादिन्द्रियमार्गतः क्रमात् ।
प्रज्ञा श्लथाङ्गाल्पबला प्रतिष्ठया च्यवेत चाज्ञानबलावृताऽऽहता ॥२२१॥

१६-प्रज्ञानबलानुसाराद्भयतारतम्यम् ।

द्वैधं हि मात्राकृतबन्धने भवेत् क्व च श्लथत्वं दृढताथवा क्वचित् ।
वज्रेऽस्ति बन्धोऽति दृढोऽथ तूलके श्लथः स एवं निखिलेषु कल्प्यताम् ।।२२२।।

श्लथः स बन्धो विपुलोपि दुर्बलो दृढस्तु कार्श्येऽपि बली घनास्थिवत् ।
बलाधिकश्चेच्छ्लथबन्धनोऽप्ययं काले ध्रुवं स्याद् दृढबन्धनक्रमात् ।।२२३।।

प्रज्ञस्य बन्धोऽपि शिशोः श्लथः पुरा ततो बिभेत्यल्पबिभीषयाऽप्यसौ ।
यदा तु विज्ञानमुपार्जते क्रमात् सहैव तेनात्र विधीयते बलम् ।।२२४।।

यथा यथा ज्ञानवशाद् बलोदयः प्रज्ञस्य बन्धोऽपि बलैर्दृढीभवेत् ।
यावत्तु बन्धे दृढता ततः क्रमात् प्रज्ञो विचाल्येत न वा बिभीषया ।।२२५।।

१७-विज्ञानयोगमूलकप्रज्ञानप्रतिष्ठातारतम्याद् भयतारतम्यम् ।

विज्ञानसङ्गेन बलं यदागतं प्रज्ञं तदा योजयति प्रतिष्ठया ।
अज्ञानसङ्गेन बलं यदागतं प्रज्ञप्रतिष्ठा च्यवते ततः क्रमात् ।।२२६।।

तदेतदज्ञानकृतो भयोदयोऽनन्तो मतो ज्ञानकृतः शमक्रमः ।
विज्ञानतः प्रज्ञधृतौ बलोदयान्नोद्वेगशोकाकुलतार्तिसंभवः ।।२२७।।

१८-प्रज्ञानप्रतियोगिकविज्ञानसंबन्धात् प्रज्ञानबन्धनबलदार्ढ्यम् प्रज्ञानानुयोगिकविज्ञानसंबन्धात् प्रज्ञानबन्धनमुक्तिः ।

विज्ञानतो बन्धनमुक्तिरिष्यते न बन्धनं क्वापि तथापि संप्रति ।
प्रज्ञस्य विज्ञानवशेन बन्धनं यदुच्यते तन्न च नोपपद्यते ।।२२८।।

विकाशि विज्ञानमिदं विकाशनस्वभावतो बन्धनमोचनं भवेत् ।
तच्चानुगृह्णाति विशिष्य कर्म्म यत् तदेव विस्फोटयतीति निश्चितम् ।।२२९।।

प्रतिग्रहेणैतदनुग्रहेण प्रवर्ततेऽनुग्रहतस्तमोनुत् ।
प्रतिग्रहादस्य तु मर्त्यकार्य्यानुयोगयोग्यामलरूपसिद्धिः ।।२३०।।

प्रज्ञस्य विज्ञानमिदं पराङ्मुखं कामान् पराचो हि सदाऽवभासयेत् ।
प्रज्ञे परावर्तितमानखादिदं गच्छेत् तदात्मज्ञतया स मुच्यते ।।२३१।।

१९-निरन्नविज्ञानवर्धनात् प्रज्ञानबन्धनमुक्तया दुःखाभावः ।

विज्ञानमाकाशममुष्य वर्द्धनादन्नादमन्नं च विसारि जायते ।
विवृद्धमाकाशमनुप्रसारणादन्नस्य बन्धः क्रमशो विहीयते ।।२३२।।

सहैव चान्नेन यदा तु वर्द्धते विज्ञानमस्मिन् न तदान्नबन्धनम् ।
विशीर्य्यतेऽन्नस्य च न प्रसारणं तद्बन्धमुक्त्यै तु निरन्नवर्द्धितम् ।।२३३।।

सहैव चान्नेन यदा तु वर्द्धते विज्ञानमेतद्विधृतान्नसंचयः ।
प्रज्ञस्य संवर्द्धयते धृतिं क्रमाद् धृतेश्च मात्रामनु तद्धृयक्षयः ।।२३४।।

तथा च विज्ञानमिदं हि बाह्यानर्थान्दधत् प्रज्ञसमर्थताकृत् ।
अन्तर्मुखं प्रज्ञगतं तु मुक्त्यै तमस्तदुत्साद्य रसं तनोति ।।२३५।।

।। इति तृतीयो दुःखप्रतिपत्तिखण्डः सम्पूर्णः ।।

अथ दुःखप्रतिपत्तिखण्डः प्रारभ्यते ।

१–आत्मनो नित्यानन्दत्वम् ।

आत्मा नित्यानन्दस्वरूप है—

[**हिन्दीविज्ञानभाष्य**] आत्मा-आत्मा नाम से जो एक शब्द सुना जाता है–वह बडा ही खतरनाक है–अत्यन्त ही पेचीला है। जो इस भूल-भुलैय्या में घुस गया–बस, घुसे बाद वह इसी का हो गया। आत्मा क्या है ? यदि इस प्रश्न का उत्तर पूछा जाए तो 'अनिर्वचनीय कोई तत्त्व विशेष है'–इसके अलावा दूसरा उत्तर नहीं मिल सकता–**यतो वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह**[1]–आत्मतत्त्ववेत्ताओं का यही घण्टाघोष है। वे कहते हैं कि–जो मनुष्य 'इसको मैं जान गया'–यह दावा करता है–समझलो ! उसने अभी आत्मा को नहीं पहचाना एवं जो कहता है कि–मैंने कुछ नहीं जाना–समझलो–वह जान गया। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्"–इति ॥[2]

वास्तव में बात सच है। संसार के पदार्थों पर अंगुली रखते चले जाइए–एवं **इति न इति न**–कहते जाइए। यच्चयावत् पदार्थों पर–'इति न' की मोहर लगा दीजिए। बाद में जो कुछ बचे–वही आत्मा है। इन्द्रियगोचर अंगुलीनिर्देश का अधिकारी **इदमस्ति**–इस प्रकार से निर्वचन किए जाने वाला बल है–विश्व है, आत्मा नहीं है। शिष्य गुरु से पूछता है–आत्मस्वरूप। गुरु उत्तर देते हैं–**नेति नेति (नेति नेतीत्याह)**। तो क्या फिर आत्मचर्चा छोड दें। क्योंकि जो जानने की चीज ही नहीं है–उसमें क्यों माथा-मारी करें ? खूब सिर खपाने पर भी जब सिवाय नेति-नेति के कुछ फल नहीं मिलता तो फिर पहले से मौजूद ही नहीं पर क्यों न विश्वास करके चुप बैठ जाएँ।

नहीं-नहीं ! महर्षि उपदेश देते हैं कि ऐसी कायरता कभी पैदा मत होने दो। आत्मा अवश्य ही ही जानने की चीज है। सूर्य्य को नहीं पहचान सकते–सूर्य्य के प्रतिबिम्ब को तो पहचान सकते हो। सर्वबलविशिष्टव्यापक रस को–उस परात्पर को नहीं पहचान सकते, क्योंकि वह वाङ्मनसातीत है–अतएव अगोचर है। परन्तु मायाबलद्वारा परिच्छिन्न जो प्रविष्ट आत्मा है–उसे तो अवश्य ही पहचान सकते हैं। प्रविविक्त शास्त्रानधिकृत है, प्रविष्ट और सृष्ट तो शास्त्राधिकृत ही हैं। इस अर्वाचीन तत्त्व को क्यों नहीं पहचान सकते–अवश्य ही पहचान सकते हैं।

---

१ तैत्ति० उप० २।४।   २ केनोप० २।३।

"पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः" ।[1]

गन्धर्वराज पुष्पदन्त का यह कथन तो अवश्य ही सच्चा हो सकता है । हो क्या सकता है ? सत्य ही है । बस, हम इसी आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए एवं समझ कर समझाने के लिए-प्रविष्ट आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष करके दिखलाने के लिए तय्यार हैं ।

यह आत्मा जिसका कि हमने पूर्व प्रकरण में स्वरूप बतलाया है एवं आगे भी बतलाने वाले हैं-कि वह आनन्दस्वरूप है-अथवा दुःखस्वरूप । यह आत्मा अर्थात् जीवात्मा सदा आनन्दमय रहता है-अथवा सदा दुःखमय ही रहता है ।' कदाचित् कहो कि 'आत्मा और दुःख'-यह तो वदतोव्याघात है-आत्मा तो सर्वथा सर्वदा आनन्दमय ही रहता है । आनन्दमय नहीं रहता, अपि तु, आनन्दस्वरूप है । सच्चिदानन्दघन है, ऐसी हालत में आत्मा को क्योंकर दुःखमय बतलाया जाता है । बस, इसी पर-अनात्मवादी दार्शनिक (बौद्धादि) बिगड़ पड़ते हैं । उनका कहना है कि यह आत्मा आनन्दस्वरूप कभी हो ही नहीं सकता । सारा प्रपञ्च दुःखमय है । अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है । जरा संसार की ओर दृष्टिपात कीजिए और फिर सच्चे हृदय से कहिए-संसार सुखी है या दुःखी है । दुःखी है-इसके अलावा इस प्रश्न का आपके पास कोई उत्तर नहीं है । जिसे आप सुखी से सुखी समझते हैं-अत्यन्त वैभवशाली समझ रहे हैं-उनसे जाके पूछिए-कहिए-'आपको तो किसी प्रकार का कष्ट नहीं है ?' उत्तर मिलेगा कि भाई ? संसार का नाम ही दुःख है-इसमें शान्ति कहाँ ? अधिक कहना ढीठता है, परन्तु कहे विना काम भी नहीं चलता है । जो आत्मवादी हैं, वे भी जिस समय मुर्दे को श्मशान में ले जाते हैं तो रास्ते में 'संसार का नाम ही दुःख' है-हम तो दुःखी हुए सो हुए-उस बिचारे को तो शान्ति मिली-इसका तो दुःख मिटा । भला, ऐसी हालत में आत्मा को क्योंकर आनन्दस्वरूप बतलाया जा सकता है ? आत्मा आनन्दस्वरूप ही है तो फिर उसे दुःख एवं भय क्यों होता है ? चूंकि हम प्रत्यक्ष ही आत्मा को दुःखी एवं भयभीत देखा करते हैं, अतः आत्मा कथमपि आनन्दरूप नहीं माना जा सकता । यही अनात्मवादियों का-क्षणिकवादियों का पूर्वपक्ष है । इसका उत्तर यद्यपि हमने पूर्व के सच्चिदानन्दखण्ड में दे दिया है, अनेक युक्तियों द्वारा-अनुभव द्वारा बतला दिया है कि आत्मा आनन्दस्वरूप ही है । परन्तु जो प्रतिनिवेशी हैं-हठी हैं, वे समझने पर भी अपनी अड़ को नहीं छोडते । परन्तु हम उनकी अड़ छुडाएँ विना मानने के नहीं । आनन्दस्वरूप यदि आत्मा है तो उसे दुःख एवं भय क्यों होता है ? यही उनका बडा जबर्दस्त प्रश्न है । दूसरा प्रश्न उनका यह भी है कि भय और दुःख हैं क्या चीज ? भय और दुःख कहते किसे हैं ? बस, इन्हीं दो प्रश्नों का समाधान कर देना है ।

आनन्दस्वरूप आत्मा को दुःख और भय क्यों होता है ? इसके पहले हम पुनरुक्ति का खयाल न कर-वादी के सन्तोष के लिए आत्मा के नित्यानन्दत्व का प्रतिपादन और कर देते हैं । बाद में दुःख क्यों होता है ? दुःख क्या चीज है ? यह बतलाएँगे । तात्पर्य्य यही है कि आत्मा सदा आनन्दमय है अथवा सदा दुःखस्वरूप ही रहता है । मालूम तो दुःखमय ही होता है । यदि आप (आस्तिक) इसे आनन्दस्वरूप

---

१ महिम्नस्त्रोत २ ।

मानते हैं तो फिर इसे दुःख और भय क्यों होता है ? एवं दुःख और भय है क्या चीज ? क्षणिकवादियों का जो पूर्वपक्ष है–बस, दुःखप्रतिपत्ति नाम के प्रकरण में इसी पूर्वपक्ष का उत्तर दिया जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है ।

"आत्मा सदानन्दमयोऽस्त्ययं वा स सर्वदा दुःखमयोऽस्ति किंवा ।
भयं स दुःखं लभते कथं वा किमस्तिदुःखं किमिदं भयं वा" ॥१३९॥

इस प्रश्न के विषय में हम आपका ध्यान 'मूलोपनिषत्' की ओर दिलाते हैं । हमने इस विश्व के रस और बल–ये दो तत्त्व बतलाए हैं । रस ही का दूसरा नाम 'आभु' है, बल ही का नाम 'अभ्व' है । रस ही को 'ब्रह्म' कहते हैं, 'बल' ही को कर्म्म कहते हैं । रस व्यापक है–शान्त है–एक है–दिग्देशकाल से अनन्त है अर्थात् व्यापक है । बल–दिग्देशकाल से परिच्छिन्न हैं, अशान्त हैं, संख्या से अनन्त हैं–अनित्य हैं । रस आनन्दस्वरूप है–बल दुःखस्वरूप है । रस पूर्ण है, बल शून्य है । रस बललक्षण है–बल स्वलक्षण है । इसीलिए बल के अभिप्राय से–**शून्यं शून्यं, क्षणिकं क्षणिकं, स्वलक्षणं स्वलक्षणम्**–कहा जाता है । रस बल से सर्वथा पृथक् धर्म्मा है । दोनों का स्वभाव परस्पर सर्वथा भिन्न है । बस, यही दो–इस विश्व के मूल हैं । प्रतिक्षण विश्व में परिवर्त्तन के दर्शन हो रहे हैं । हर वस्तु प्रतिक्षण बदल रही है । परन्तु साथ ही एक अपरिवर्त्तनीय अस्तित्व का भी प्रत्यक्ष हो रहा है । घड़ा हरवख्त बदलता है, परन्तु घड़ा है–यह 'हैपना' सदा एकरूप रहता है । यहाँ तक कि जब घड़ा नहीं रहता है, तब भी घड़ा नहीं है–यह 'है' नहीं के आगे तो लगा ही रहता है । बस, यह जो नित्य, अनित्यभाव इस विश्व में देख रहे हैं–इनके मूल ये ही रस और बल हैं । रस इस 'अस्ति' प्रतीति का मूल कारण है एवं क्षणिकभाव का–परिवर्त्तन का मूल कारण बल है । दोनों सर्वथा विरुद्ध धर्म्म होते हुए भी साथ रहते हैं । एक मृत्यु है–एक अमृत है । दोनों सदा साथ रहते हैं । न मृत्यु (बल) अमृत के (रस के) विना रहता है, न अमृत विना मृत्यु के रहता है । इसीलिए तो–**अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्**[1]–यह कहा जाता है ।

कहना हमें यही है कि इन रस और बल में से जो रस है–उसे तो हम आत्मा कहते हैं एवं बल को आत्मा की शक्ति कहते हैं । जितने बल हैं–वे विना रस के नहीं रहते । बल-रस अन्योन्याविनाभूत हैं । आत्मा रस स्वरूप है–इसका तात्पर्य्य यही है कि रसभाग उल्बण है–न कि बल का अभाव ही है । क्योंकि रस तो विना बल के रह ही नहीं सकता, एवमेव विश्व बलस्वरूप है । इसका तात्पर्य्य यही है कि विश्व में बलभाग उल्बण है–रसभाग अनुल्बण है । आत्मा में जब किसी बल का अर्थात् सम्पत्ति का प्रवेश होता है–तो उस बल के साथ आने वाले रस से रसस्वरूप आत्मा का आयतन बढ जाता है । जो आत्मा निर्बल था–वह सबल हो जाता है । बनावटी बात नहीं है–बात वास्तव में सच्ची है । जिसके पास हाथी-घोड़ा-धन–इत्यादि इत्यादि बल अधिक होगा–उसका आत्मा–उतना ही अधिक शक्तिमान्

१ शत० ब्रा० १०।५।२।४ ।

होगा। इसीलिए बलसमूह को अर्थात् सम्पत्ति समूह को आत्मा की शक्ति कहा जाता है। रस आत्मा है, बल आत्मा की शक्ति है। इस कथन से बतलाना हमें यह है कि पदार्थ धर्म्म के आलोडनेन जब रस आनन्दस्वरूप सिद्ध हो जाता है एवं बल दुःखस्वरूप सिद्ध हो जाता है तो फिर रसस्वरूप आत्मा को आनन्द की लाइन से कैसे अलग किया जा सकता है? आत्मा रसस्वरूप है। रस नित्य पदार्थ है। रस ही को आनन्द कहते हैं। अतः रसत्वात् अवश्य ही आत्मा नित्यानन्दमय है। आत्मा के आनन्दत्व का कभी विनाश नहीं होता है। आनन्द ही आत्मा है-यदि आनन्द नहीं तो आत्मा ही नहीं।

तात्पर्य्य यही है कि रस और बल-ये ही दो जगत् के मूल हैं। रस आनन्दस्वरूप है-बल दुःखस्वरूप है। आत्मा रसस्वरूप है-बल आत्मा की शक्ति है। चूंकि आत्मा रसमय है-रसस्वरूप है अतएव विज्ञानदृष्टि से हम कह सकते हैं कि आत्मा नित्यानन्दमय है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अत्रोच्यते द्वैधमिदं निरुक्तं रसो बलं चेति पृथक्स्वभावम्।
रसोऽयमात्मा बलमात्मशक्तिः स नित्यमानन्दमयो रसत्वात्" ।।१४०।।

पदार्थधर्म्म के अनुसार-विज्ञान के अनुसार आत्मा नित्यानन्दस्वरूप है-यह बात यद्यपि सिद्ध हो जाती है। परन्तु वादी इस समाधान को नहीं मानता। वह कहता है कि हम पदार्थधर्म्म-वर्म्म को नहीं मानते-जब कि हम आत्मा को प्रत्यक्ष में दुःखी देख रहे हैं। संसार के प्राणीमात्र दुःखी रहते हैं-इस प्रत्यक्ष प्रमाण को तो न माने और आपके कपोलकल्पित पदार्थधर्म्म को मान बैठे-यह हर्गिज नहीं हो सकता।

हमें हँसी आती है-उन दुःख के उपासकों की क्षुद्र दलीलों पर-तर्कों पर। कृपानिधान! क्या आपको दुःख ही दुःख नजर आता है? क्या संसार में 'मैं सुखी हूँ'-यह कहने वाला कोई न मिला? हमें तो-कम से कम आप ही ऐसे मिले हैं-जो दिन में पचास बार आनन्द का अनुभव करते हैं। भोजन करते है-और साथ ही में बोलते हैं-आह! भोजन में बडा आनन्द आया। रास्ते में कोई तमाशा होता है तो-खड़े हो जाते हैं और कहने लगते हैं-आह! कैसा आनन्द आ रहा है? सायंकाल बाग में हवा खाने जाते हैं-तो किसी अच्छे पुष्प की गन्ध आते ही बोल उठते हैं-आह! इसने तो मस्त कर दिया। कहाँ तक बतलावें-क्या कहें? आप आनन्द का प्रतिक्षण अनुभव करके आनन्दित रहते हैं और साथ ही में भोले मनुष्यों को बहकाने के लिए कहते जाते हैं कि-**सर्वं दुःखं दुःखम्, शून्यं शून्यम्।**

आप जरा संसार के अन्य मनुष्यों पर दृष्टि डालिए। आपको मालूम होगा कि यच्चयावत् प्राणिमात्र सुख को चाहते हैं। हर प्राणी सदा सुख की वाञ्छा किया करता है-कौन दुःख चाहता है? बस, प्राणिमात्र की जो यह सुख-वाञ्छा है-वही इस बात का सबसे बडा भारी सबूत है कि इनका आत्मा आनन्दस्वरूप है। यदि आत्मा दुःखस्वरूप होता तो कभी सुख न चाहता। वायु से पैदा होने वाले जीव सदा वायु की इच्छा किया करते हैं। यदि उनको बन्द मकान में बन्द कर दिया जाता है—

अथवा पानी में डुबो दिया जाता है तो वे थोड़ी देर में अकुला कर मर जाते हैं। एवमेव जो पानी के जीव हैं-मत्स्यादि हैं-उन्हें सदा पानी ही अच्छा लगा करता है। वे पानी ही की इच्छा किया करते हैं। इच्छानुसार पानी मिल जाने पर वे अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं। प्रसन्न ही नहीं रहते, अपि तु, उनकी जिन्दगी ही-पानी से बनी हुई है। जिस दिन उन्हें पानी न मिलेगा, उनकी सत्ता ही न रहेगी। इच्छा उसी पदार्थ की हुआ करती है-जिसका अंश आत्मा में रहता है। जिसका अंश आत्मा में नहीं रहता-उसे उसकी इच्छा ही नहीं रहती-यह सामान्य नियम है। हमारे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियाँ मौजूद हैं। बस, जो शक्ति हमारे पास है-उसी का बहिस्थित वस्तु द्वारा अनुभव होगा। मान लीजिए-हमारे में मिठास का अंश मौजूद है-बस, तभी हमें साँठें मीठे लगते हैं। यदि मिठास-मात्रा हमारे में नहीं होती-न हमें मीठे पदार्थ की इच्छा होगी और न वह खाने में मीठा ही लगेगा। कहने की बात नहीं है-हँसी में टालने की बात नहीं है-अनुभव करने की बात है। किसी को किसी की अधिक इच्छा होती है-किसी को किसी की। इस तारतम्य का एकमात्र कारण-आत्मस्थितशक्ति का तारतम्य है। बस, इसी वैज्ञानिक नियम को आधार मानकर हम कह सकते हैं कि आत्मा आनन्दस्वरूप ही है। क्योंकि प्राणिमात्र सुख की कामना किया करते हैं। चूँकि सभी सुख की कामना करते हैं, अतएव सभी का आत्मा आनन्दस्वरूप ही मानना पड़ता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्वो जनः कामयते हि सौख्यम्"।

अपि च-जिसकी वह कामना करता है-जिस वस्तु की यह आत्मा इच्छा करता है-वही वस्तु उस आत्मा को प्रसन्न करती है। हमारी इच्छा आम खाने की होती है। बस, जिस समय हम इच्छानुसार आम चूसते हैं-तो वह आम हमारी तबियत खुश कर देता है। आम ही क्या-जिसकी भी हमें इच्छा होती है-बस, इच्छानुसार भुक्त वह पदार्थ हमें तृप्त कर देता है-आत्मा को प्रसन्न कर देता है।

"प्रीणाति यत् कामयते तदेव"।

इस शरीर में आत्मा के लिए, आत्मा की रश्मियाँ-नाना प्रकार की वस्तुओं की कामना किया करती हैं। आत्मा में से एक प्रकार की इच्छा-शक्ति उठती है। वह इच्छा नाना वस्तुओं की हुआ करती है। कभी रामनिवास बाग देखने की इच्छा होती है, कभी दूध पीने की होती है-कभी नाटक देखने की इच्छा होती है, कभी गाना सुनने की इच्छा होती है-कभी परदेश की सैर करने की इच्छा होती है-इस प्रकार हजारों प्रकार की इच्छाएँ हुआ करती हैं। इन हजारों कामों की अर्थात् पदार्थों की इच्छा इन आत्मरश्मियों द्वारा हुआ करती हैं। आत्मा की तृप्ति के लिए-यह इच्छाशक्ति नाना प्रकार के कामों की (वस्तुओं की) इच्छा किया करती है। इच्छाशक्ति आत्मा की रश्मियों का नाम है। जैसे सूर्य्य रश्मियाँ सूर्य्य से अभिन्न हैं, अतएव वे सूर्य्य ही हैं-तद्वत् आत्मा की रश्मिरूप वह इच्छा जिसे कि 'काम' भी कहते हैं-आत्मा से अभिन्न है, अतएव इस काम को हम आत्मा कह सकते हैं। चूंकि यह आत्मा अपने लिए अनन्तपदार्थों को चाहा करता है एवं उन पदार्थों को प्राप्त कर प्रसन्न हुआ करता है। इच्छानुसार पदार्थ प्राप्त होने पर आत्मा आनन्दित हुआ करता है, अतएव हम दावे के साथ कह

सकते हैं कि आत्मा अवश्य अवश्य सुखस्वरूप है। यदि आत्मा आनन्दस्वरूप न होता तो न इसे उन पदार्थों से आनन्द आता न उनकी इच्छा होती। तात्पर्य्य यही है कि संसार के प्राणिमात्र सुख चाहा करते हैं एवं जिस वस्तु की वे इच्छा करते हैं–वही वस्तु उन्हें आनन्द पहुँचाती है। आत्मा के लिए आत्म-रश्मियाँ नाना प्रकार की वस्तुओं की इच्छा किया करती हैं एवं इच्छानुसार वस्तु मिलने पर आत्मा प्रसन्न हुआ करता है, अतएव हम कह सकते हैं कि आत्मा अवश्य ही आनन्दस्वरूप है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्वो जनः कामयते हि सौख्यं प्रीणाति यत्कामयते तदेव"।
तत्रात्मने कामयते हि कामान् कामः स आत्मैव ततः सुखं सः" ।।१४१।।

आत्मा अत्यन्त ही प्रिय वस्तु है। यदि वह दुःखस्वरूप होता तो इससे सारे आदमी परहेज करते–इसे छोडने की कोशिश में रहते। परन्तु हम देखते हैं कि आत्मा एक अबोधजन्तु को भी ऐसा प्यारा लगा करता है कि वह भी उसकी रक्षा के लिए रात-दिन त्रस्त रहता है। एक कीड़े को अथवा छोटी चींटी को आप पकड़ने की चेष्टा कीजिए। देखिए ! आपको उस समय आत्मप्रियता के कैसे दर्शन होते हैं ? हाथ के पास होते ही चींटी अपने आत्मा को बचाने के लिए इतनी व्यग्र हो जाती है कि जिसका अनुभव प्रत्यक्ष देखने से ही मालूम हो सकता है।

यदि किसी समय डाका पड़ता है–चोर-धाड़ेती लूटने के लिए घर में आ घुसते हैं–तो गृहाधिपति उन दस्युओं से आक्रान्त होकर ऐसे मौके पर स्त्री-पुत्र-भाई-बहिन-धन-दौलत सबका मोह छोडकर के उन्हें वैसे के वैसे छोड अपने आत्मा को बचा ऐसा भागता है, कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। चूँकि यह अपने आप को बचाने के लिए सबको छोड भागता है, अतएव हम कह सकते हैं कि संसार के यच्चयावत् पदार्थों से चाहे वे जड़ हों या चेतन हों–यह आत्मा ही प्रिय है। आत्मा पुत्र से प्रसन्न रहता है, स्त्री से आत्मा प्रसन्न रहता है, इसीलिए पुत्र और स्त्री एवं सम्पत्ति आदि अच्छे लगा करते हैं। यदि आत्मा को इनसे सुख की बजाय कष्ट मिलता है–तो वे ही जहर लगने लगते हैं। स्त्री पति से प्यार करती है–किस लिए ? स्त्री की आत्मा प्रसन्न रहती है इसलिए। यदि उसकी आत्मा पति से दुःखी है तो स्त्री उससे कभी प्रसन्न नहीं रहेगी। पति के लिए–पति को खुश रखने के लिए–पति अच्छा नहीं लगा करता–अर्थात् मेरा पति प्रसन्न रहेगा–इसलिए मैं इससे प्यार करूँ–इस ख़याल से स्त्री पति से प्यार नहीं करती, अपि तु, मेरी आत्मा को–इनसे आनन्द मिलता है–इस खयाल से पति से प्यार करती है–इससे मानना पड़ता है कि आत्मा ही सर्वापेक्षया प्रिय है। इसी लोकसिद्ध आत्मतत्त्व को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"स होवाच याज्ञवल्क्यः–न वाऽअरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति-आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वाऽअरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति-आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वाऽअरे पुत्राणां

कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति-आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वाऽअरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति-आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति" ॥[1]

इस प्रकार कहते-कहते अन्त में उपसंहार में श्रुति कहती है—

"न वाऽअरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति-आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" ॥[2]

हमें कहना इस प्रपञ्च से यही है कि किसी भी मनुष्य को जहर अच्छा नहीं लगता। विष को पीना या विष की रक्षा कर उसे बचाना किसी भी प्राणी को अभीप्सित नहीं। कोई भी प्राणी दुःख को सुरक्षित रखने के लिए तय्यार नहीं। जिससे पूछोगे यही कहेगा कि भाई! हमारा जो यह दुःख है—यह पीड़ा है—कृपा कर हमसे दूर कर दो। जब यह बात है तो फिर आत्मा को दुःखस्वरूप क्योंकर बतलाया जा सकता है? आत्मा तो ऐसा प्यारा लगता है कि उसके छोडने की तो बात दूर रही—उसके लिए—उसे बचाने के लिए मनुष्य सब कुछ छोडने के लिए तय्यार है। तात्पर्य्य यही है कि दुःख से सब परहेज करते हैं—सुख की रक्षा करने में—प्रिय वस्तु को बचाने में प्राणिमात्र कटिबद्ध रहते हैं। संसार में हम देखते हैं कि प्राणिमात्र सबसे अधिक प्यारी वस्तु आत्मा को समझते हैं। आत्मरक्षा के लिए वे सर्वस्व-न्योछावर करने के लिए तय्यार रहते हैं, अतएव हम आत्मा को नित्यानन्दस्वरूप कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उपप्लवं दस्युभिरेष लब्ध्वा स्त्रीपुत्रवित्ताद्यखिलं विहाय।
आत्मानमादाय पलायतेऽयं तस्मात् प्रियः सर्वत एष आत्मा" ॥१४२॥

आनन्द दो प्रकार के होते हैं—(१) क्षुद्रानन्द, (२) परानन्द। जो आनन्द छोटा है—अल्प है, वह क्षुद्रानन्द कहलाता है। जो आनन्द उत्तरोत्तर बडा होता जाता है, परानन्द कहलाता है। सूली पर सोने की बजाय काँटों में सोना सूली की अपेक्षा अच्छा है। काँटों की अपेक्षा—पत्थरों में सोना अच्छा है। पत्थरों की अपेक्षा बालू मिट्टी में सोना अच्छा है। मिट्टी की अपेक्षा पलंग पर सोना अच्छा है। उसकी भी अपेक्षा—झूलती हुई पुष्पशय्या में सोना अच्छा है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि उत्तरोत्तर आनन्द की मात्रा बढती जाती है, अतएव पूर्व की अपेक्षा से उत्तरानन्द को हम परानन्द करने के लिए तय्यार हैं।

हमारा आत्मा क्षुद्रानन्द स्वरूप नहीं है अपि तु, परानन्दस्वरूप है। इस आत्मा की अर्थसत्ता जितनी अधिक बढती जाती है—जितनी ही अधिक सम्पति इसके पास आती जाती है—यह

१ शत० ब्रा० १४।५।४।५। २ शत० ब्रा० १४।५।४।५।

उतना ही अधिक आनन्दित होता जाता है–इसका स्वरूप उतना ही अधिक बढता जाता है। परन्तु ठीक इसके विपरीत ज्यों–ज्यों इसकी बढी हुई सम्पत्ति घटती जाती है–त्यों–त्यों इसे दुःख हुआ करता है। इसका विस्तृत विवेचन–'सच्चिदानन्दखण्ड' के **दुःखानुभव हेतु** नाम के ६वें सूत्र में बतला दिया गया है। आत्मा रस स्वरूप है। ज्यों–ज्यों सम्पत्ति बढती जाती है–त्यों–त्यों उस सम्पत्ति के साथ अर्थात् बल के साथ आने वाले रस से इसका आयतन बढता जाता है। एवं साथ ही में **ममेदम्** एवंरूपा आसक्ति होती जाती है। बस, आसक्ति एक प्रकार का गोंद है–श्लेषण द्रव्य है। इससे आत्मा उन विषयों के साथ चिपक जाता है। बस, ज्यों ज्यों विषयों की अल्पता होती है त्यों–त्यों उनके साथ चिपका हुआ आत्मा खिंचता है। बस, इस खिंचाव का नाम ही दुःख है। कहना यही है कि ज्यों ज्यों आत्मा में अल्पता आती है–अर्थसत्ता का अर्थात् पुत्र–स्त्री–पौत्र–धन–धान्यादि सम्पत्ति का ज्यों ज्यों विनाश होता है–त्यों त्यों आत्मा दुःख ही दुःख के सागर में निमग्न होता जाता है। परन्तु ठीक इसके विपरीत ज्यों ज्यों भूमा होती जाती है, त्यों त्यों रस बढने के कारण आत्मा के आनन्द की मात्रा बढती जाती है। रस का बढना ही तो आनन्द का बढना है। चूंकि अल्पता से दुःख होता है, अतः अल्प को हम दुःख शब्द से व्यवहृत करेंगे, एवं भूमा से (बढाव से) सुख होता है, अतएव 'भूमा' को सुख शब्द से व्यवहृत करेंगे। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यो वै भूमा तत् सुखं-यदल्पं तद् दुःखम्"।[1]

भूमा से ही सुख होता है–अल्पता से दुःख होता है, अतएव सन्तोष का खण्डन करती हुई श्रुति आज्ञा देती है–

"अजितं जेतुमनुचिन्तयेत् न क्वचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्"।

हमें यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि अल्पता को दुःख कहते हैं एवं भूमा को सुख कहते हैं।

इस भूमा को आप उत्तरोत्तर बढाते चले जाइए। जहाँ अमृत अतिमात्रा में पहुँच जाता है अर्थात् बढते बढते रस परम सीमा पर पहुँच जाता है–तो उस अतिमात्रा में प्रवृद्ध रससीमा को **परभूमा** शब्द से कहा जाता है। अन्तिम जो अमृत की मात्रा है, वही परभूमा है। चूँकि आत्मा रसस्वरूप है–उत्तरोत्तर बढने में आनन्द का अनुभव करता है–रस की परम सीमा को–परभूमा कहते हैं। भूमा को ही सुख अर्थात् आनन्द कहते हैं, अतएव हम इस आत्मा को परानन्दमय कहने के लिए तय्यार हैं। तात्पर्य्य कहने का यही है कि आत्मा व्यापक है–परानन्दमय है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है–

"यदल्पमल्पं तदिहार्तमार्तं यथा तु भूमा सुखमिष्यते तत्।
परस्तु भूमाऽस्त्यमृतेऽतिमात्रे ततः परानन्दमयः स आत्मा" ॥१४३॥

---

१ छान्दोग्योप० ७।२३।१।

इस प्रकार तर्क से–अनुभव से–प्रमाण से–सभी तरह से यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा नित्यानन्द स्वरूप है। अब प्रश्न बाकी रह जाता है–वह यह है कि, जब आत्मा आनन्दस्वरूप है- आनन्दस्वरूप ही नहीं, अपि तु, परानन्दस्वरूप है–तो फिर इसे दुःख एवं भय क्यों होता है एवं भय और दुःख कहते किसे हैं ? बस, अब इसी का विवेचन किया जाता है।

कम्पन को 'भय' कहते हैं। कम्पन कहते हैं स्थितिविच्युति को। एक आदमी बिल्कुल स्थिर रूप से खड़ा हुआ है। यदि वह उस स्थिति को छोडकर इधर उधर हिलने लगता है–उसके स्थित हाथ पैर, मुँह इत्यादि स्थितिभाव को छोडकर हिलने लगते हैं तो उस समय 'यह मनुष्य काँप रहा है' यह व्यवहार होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि स्थितिविच्युति का नाम ही कम्पन है। कम्प ही को भय कहते हैं। आत्मा जब स्थिरभाव में रहता है–अपनी जगह को नहीं छोडता है तो उसके लिए निडर शब्द का व्यवहार होता है। जो मनुष्य निडर–भयरहित होता है उसके लिए कहा जाता है कि अजी ! वह विचलित होने वाला मनुष्य थोड़े ही है–वह तो डटे रहने वाला वीर पुरुष है। परन्तु जो स्थिरता को छोडकर विचलित हो जाता है उसके लिए कहा जाता है कि 'यह तो डर गया'। कहने का तात्पर्य्य यही है कि स्थितिविच्युति का नाम ही 'कम्प' है एवं कम्प का नाम ही भय है।

यह जो स्थितिविच्यव है अर्थात् कम्पन है, वह कर्म्म नाम से व्यवहृत होता है अर्थात् काँपना-यह क्रिया है। क्रिया ही को बल कहते हैं। हमने बतलाया था कि रस और बल ये दो ही तत्त्व हैं। दोनों में से 'रस' स्थिर है, बल चल है। रस निष्क्रिय है–एक है–व्यापक है–विभु है, बल सक्रिय है–अनेक है–परिच्छिन्न है। चूंकि काँपना यह क्रिया है, क्रिया ही को अर्थात् कर्म्म ही को मृत्यु कहते हैं। मृत्यु ही का नाम बल है एवं इस कम्पनक्रिया का नाम ही भय है। ऐसी हालत में रस–स्वरूप अतएव शान्त आत्मा भयस्वरूप कैसे माना जा सकता है ? भय कम्प का नाम है। कम्प क्रिया है–स्थितिविच्युति है, अतएव भय बल का स्वरूप है। जो अमृत है अर्थात् रस है–वह तो स्थिर धर्म्मा है–अचल है–बिल्कुल प्रशान्त है, अतएव बल से सर्वथा विजातीय पदार्थ है। चूंकि आत्मा अमृतस्वरूप है–अमृत की कभी स्थितिविच्युति चूंकि नहीं होती एवं स्थितिविच्युति का नाम ही है भय, अतएव हम कह सकते हैं कि यह आत्मा सदा सर्वदा नित्यानन्दस्वरूपयुक्त ही रहता है। भय बल का स्वरूप है न कि रस का।

तात्पर्य्य यही है कि भय कम्प को कहते हैं कम्प स्थितिविच्यव को कहते हैं। स्थितिविच्यव ही 'कर्म्म' कहलाता है। कर्म्म ही को वैज्ञानिक परिभाषानुसार 'मृत्यु' कहा जाता है। एवं जो अमृततत्त्व है, वह ध्रुव है–शान्त है, अतएव मृत्यु से सर्वथा विजातीय वस्तु है। आत्मा चूँकि अमृतस्वरूप है अतएव वह नित्यानन्दस्वरूप है। भय शब्द का अधिकारी बल है, क्योंकि कम्प बल में होता है न कि रस में। आत्मा तो रसस्वरूप है–शान्त है उसमें कम्प कैसा ? कम्प नहीं तो फिर भय की कथा ही क्या है ? जब भय नहीं है तो आत्मा के नित्यानन्दस्वरूप का कौन प्रतिवाद कर सकता है ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भयं हि कम्पः स्थितिविच्यवोऽसौ तत्कर्ममृत्युः स इहापदिष्टः।
ध्रुवं प्रशान्तं त्वमृतं ततोऽन्यत् ततः सदानन्दमयः स आत्मा" ॥१४४॥

भय नाम है-स्थितिविच्युति का-यह बात हम कह आए हैं। स्थितिविच्युति-दूसरे के कारण हुआ करती है। जो वस्तु व्यापक है-सर्वत्र असीमभावेन व्याप्त है, वह कभी अपनी स्थिति से हट नहीं सकती। जब कोई खाली स्थान होगा, तभी तो न उस वस्तु को हिलने का मौका मिलेगा। यदि किसी वस्तु को संदंश पतित कर दिया जाता है तो इधर उधर के स्थानों के अवरुद्ध हो जाने के कारण संदंश-पतित वस्तु हिल नहीं सकती। एवमेव-जो वस्तु-सब जगह फैली हुई है-वह हिले किस स्थान पर? एक वस्तु के इधर उधर झुकने का नाम ही तो हिलना है। जब इधर-उधर-सब और वही है-उसके अलावा कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं तो-कम्प कैसा? कम्प नहीं तो भय कैसा? भय तो दूसरे से हुआ करता है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"द्वितीयाद्वै भयं भवति"।[1]

बात वास्तव में सच है। डर दूसरे से लगा करता है। घोर जंगल में जहाँ कि कोई दूसरा नहीं है-वहाँ चले जाइए। वहाँ जो डर लगा करता है-वहाँ भी दूसरा व्यक्ति ही कारण है। कोई आकर हमला न कर बैठे-इस प्रकार जंगल में-एकाकी रहने पर भी-भय दूसरे से ही हुआ करता है। जो वस्तु मित होती है-अर्थात् ससीम होती है, उसको अपने से बडी दूसरी वस्तु से भय हुआ करता है। निर्बल मनुष्य को सबल मनुष्य से भय हुआ करता है। तात्पर्य्य यही है कि भय का कारण-'दूसरा' है अर्थात् व्यक्ति-भेद है-तभी तो स्थितिविच्यव हो सकता है। परन्तु रसस्वरूप जो यह आत्मा है, वह तो अपरिच्छिन्न है-अमृतस्वरूप है-अतएव अद्वितीय है। दूसरे से भय हुआ करता है। जब रस के अलावा कोई दूसरी वस्तु नहीं है तो फिर भय कैसा? कम्प मितवस्तु का हुआ करता है, न कि अमित का। जब इधर उधर चारों ओर वह आत्मा (रस) भरा हुआ है तो फिर भय कैसा? जब इधर उधर चारों ओर कोई स्थान खाली ही नहीं जहाँ पर कि आत्मा हिले-ऐसी अवस्था में आत्मा कम्पयोग्य क्यों कर हो सकता है? एवं भय अपने से जो बडा होता है-उससे हुआ करता है। निर्बल को सबल से-अपने से बडे से भय हुआ करता है। जब इस आत्मा से कोई बडा नहीं है-अमृतत्व से बडा कोई तत्त्व ही नहीं है, जिसे-बल-बल कहकर पुकारा जाता है-वह भी जब इसके पेट में है तो ऐसी अवस्था में क्यों कर आत्मा में भय का सम्बन्ध माना जा सकता है? बस, इन्हीं वैज्ञानिक उपपत्तियों के कारण हम इस आत्मा को अभय एवं आनन्दमय कहने के लिए तय्यार हैं। तात्पर्य्य यही है कि लिमिट (सीमित) वस्तु को-अपने से जो बडा होता है, उससे भय हुआ करता है। चूँकि आत्मा अमृतस्वरूप है, अतएव अद्वितीय है, अतएव हम इसे भयरहित एवं नित्यानन्दमय कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ बृहदा० उप० १।४।२।

"भयं मितस्य प्रबलाद् द्वितीयादिदं त्वमात्रामृतमद्वितीयम् ।
न कम्पयोग्यं न ततो वरिष्ठं ततोऽभयानन्दमयः स आत्मा" ॥१४५॥

जाने दो सारे विज्ञान-प्रपञ्च को । प्रतिदिन होने वाली भोजनक्रिया से आत्मा के आनन्द-स्वरूप को पहचानो ! जिसका कि आपामर आविद्वज्जन सबको समान बोध है ।

जिस समय हम अन्न खाते हैं तो वह भुक्त अन्न अन्त में तृप्ति का कारण बनता है । अर्थात्-उस अन्नरस की अन्तिम गति-'तृप्ति' ही होती है । पेट भर के जब अन्नरस का आत्मा में आधान कर लिया जाता है-तो उस आधान का अन्तिम परिणाम 'तृप्ति' ही है । भोजन का चरमफल 'तृप्ति' ही है । आत्मा के लिए जिस अन्नरस का आधान किया जाता है-मनुष्य आत्मा के लिए जिस अन्न-रस का अपने उदर में आधान करता है-उस अन्नरस की गति तृप्ति देखी गई है, अर्थात्-तृप्ति ही इस अन्नरस का अन्तिम परिणाम है । भोजन किया और तृप्ति हुई । इस तृप्ति का अनुभव-एक पाँच वर्ष के बच्चे को भी होता है एवं महावृद्ध को भी होता है । दो वर्ष का अबोध बालक भूख से चिल्लाने लगता है और कहने लगता है-'भूत लदी है-लोती थाऊँगा' । उस समय जब उसे रोटी खिला दी जाती है-अथवा दूध पिला दिया जाता है-तो वह कह बैठता है-बस, पेट भर गया-अब नहीं पीऊँगा । दूध पीने से पहले-जो अकुलाहट-जो दुःख बालक में देखा जाता था-वह दूध पीते ही न मालूम कहाँ भाग जाता है ? दूध पीते ही बच्चा प्रसन्न हो जाता है-एवं इधर उधर प्रसन्न हो खेलने-कूदने लग जाता है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि अन्नरस से होने वाला जो तृप्तिस्वरूप अन्तिम परिणाम है-उसका अनुभव आबालवृद्ध सबको है । इस तृप्ति ही को आनन्द कहते हैं । तृप्ति का अनुभव होता है-आनन्द का अनुभव होता है-अनुभव ही को ज्ञानकहते हैं, अतएव-'तृप्ति' में विज्ञान और आनन्द-दोनों अंश मानने पड़ते हैं । आनन्द का अनुभव होता है-इसी का नाम 'तृप्ति' है ।

यजमान ब्राह्मण को भोजन करा के-अन्त में हाथ जोड़कर विनयपूर्वक पूछता है-ब्रह्मन् ! आप तृप्त हुए या नहीं ? ब्राह्मण उत्तर देता है-कि यजमान ! आनन्द हो गया । आज के भोजन में तो बडा ही आनन्द आया । बस-'आया' अंश विज्ञान का है-आनन्द अंश रस का है । इस प्रकार तृप्ति में आनन्द और विज्ञान-दोनों बातें रहती हैं । बस, अन्नरस से होने वाली जो जो तृप्ति है-उससे उत्पन्न होने वाला-तृप्तिजन्य जो आनन्द है-वही आत्मा की स्थिति का कारण है । तृप्ति से उत्पन्न होने वाले आनन्द की मात्रा जब तक आत्मा में पहुँचती रहती है-अर्थात्-अन्न जब तक आत्मा में आहुत होता रहता है एवं आहुत अन्न तृप्तिरस बनता हुआ-आनन्द को उत्पन्न करता रहता है-तभी तक आत्मा की स्थिति रहती है । जिस दिन अन्न फीका लगने लगता है-तृप्ति का भाव जिस दिन अन्न में से हट जाता है-समझलो-यह मनुष्य अधिक दिन नहीं जीवेगा । तात्पर्य्य यही है कि आत्मा के लिए जिस अन्नरस का आधान किया जाता है-उसका चरम फल तृप्ति ही है । तृप्ति में आनन्द और विज्ञान-दोनों

अंश रहते हैं। चूँकि इसी तृप्तिज आनन्द से आत्मा की स्थिति रहती है-अतएव हम कह सकते हैं कि आत्मा आनन्दमय ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसोऽन्नमाधीयत आत्मने यत् तृप्तिर्गतिस्तस्य रसस्य दृष्टा।
विज्ञानमानन्द इतीह तृप्तौ तत्तृप्तिजानन्दमयः स आत्मा" ॥१४६॥

विज्ञ लोग-पदार्थतत्त्ववेत्ता महर्षि-सुख को ही-'रस' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। हर एक वस्तु में से रस को प्राप्त कर मनुष्य सुखी हुआ करते हैं। रस से उन्हें सुख मिला करता है। जिस मनुष्य को जिस वस्तु से अधिक आनन्द प्राप्त होता है-जिससे वह अधिक सुखी होता है-उसके लिए कहा करता है-मत पूछो। इसमें तो बडा ही रस आता है, इस लौकिक-व्यवहार से भी रस का अर्थ सुख किंवा आनन्द ही होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यद्वैतत्सुकृतम्-रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।
को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।
एष ह्येवानन्दयति" ॥[1]

रस को प्राप्त कर ही वह सुखी होता है रस ही का नाम आनन्द है रस ही को अमृत कहते हैं बस, इसीलिए हम आत्मा को आनन्दमय कहने के लिए तय्यार हैं। तात्पर्य्य यही है कि रस से आत्मा को आनन्द आया करता है। रस को प्राप्त करके आत्मा सुखी हुआ करता है। **रसो वै सः** से सिद्ध होता है कि रस और आनन्द पर्य्याय हैं। चूँकि आत्मा भी रस स्वरूप है एवं अन्नरस को एवं अन्यान्य पदार्थों के रस को प्राप्त कर यह सुखी हुआ करता है, अतएव हम कह सकते हैं कि यह आत्मा रस स्वरूप है आनन्दमय है। ऐसे आत्मा के साथ भय एवं दुःख का क्या सम्बन्ध? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सुखं रसो हीति वदन्ति विज्ञा रसं हि लब्ध्वा सुखिता भवन्ति।
रसोऽमृतं कार्य्यरसानुभावात् ततो रसानन्दमयः स आत्मा" ॥१४७॥

——❀——

२—आत्मत्रैविध्ये पराक्षरयोर्दुःखाभावः। क्षरस्य दुःखयोगित्वम्॥

(अव्ययक्षराक्षर भेदेन) तीन आत्माओं में से अव्यय और अक्षरात्मा को दुःख नहीं होता—किन्तु, क्षर-आत्मा के साथ दुःख का सम्बन्ध है—

१ तैत्ति० उप० २।७।

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसमें दुःख का किंवा भय का सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता है। यही पूर्व प्रकरण का विषय था, परन्तु इससे दुःख एवं भयविषयक जिज्ञासा ज्यों की त्यों बनी रहती है। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है–यह हम आपके कहे अनुसार मान सकते हैं। आनन्द के कारण ही चूँकि आत्मसत्ता रहती है, अतएव आत्मा आनन्दस्वरूप है–यह बात हम मानने के लिए तय्यार हैं। परन्तु दुःख होता है– आनन्दाभाव में–आत्मा अधिक दिन नहीं रह सकता–यह बात तो आप (आस्तिक) भी मानते हैं। ऐसी अवस्था में क्या कारण है कि दुःख होता है। आत्मा ही तो दुःख का अनुभव करता है ? आप प्रत्यक्षसिद्ध इस सर्वानुभूत दुःख को अपने विज्ञानमात्र के बल से कैसे काट सकते हैं। इसलिए या तो आत्मा को दुःखस्वरूप मानिए अथवा आनन्दस्वरूप आत्मा को भी दुःख होता है– इसकी कोई उपपत्ति बतलाइए।

प्रश्न वास्तव में बिलकुल ठीक है–१६ आना नहीं सवा सौलह आना सही है। आत्म-प्रपञ्च बडा गहन है–जैसा कि प्रकरण के प्रारम्भ में ही हम बतला आए हैं। जब तक इसके सारे विभागों से वाकिफ नहीं होते, तब तक–एकान्ततः संशयनिवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसलिए–आत्मा को दुःख होता है या नहीं–इसके पहले आत्मस्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

आत्मा दो प्रकार का है–अखण्ड और सखण्ड। जो अखण्ड आत्मा है–वह चूंकि सदा एक रूप में रहता है–कभी विकृत नहीं होता है, अतएव–इसे 'अव्यय, कहा जाता है—

"सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्" ॥[१]

रस और बल हमने ये दो तत्त्व बतलाए हैं। यह रस सर्वथा व्यापक है। जब सारा बल इस रस में सुप्त रहता है तो सुप्तसर्वबलविशिष्ट यह रस 'परात्पर' नाम से व्यवहृत होता है। बस, इस परात्पर में सर्वप्रथम एक मायाबल उद्बुद्ध होता है एवं वह मायाबल उस असीम रस के एक हिस्से को–ससीम बना डालता है। रस वास्तव में कभी परिच्छिन्न नहीं होता। आकाश को आप घड़े में बन्द करने की कोशिश कीजिए, वह कभी बन्द नहीं हो सकता। बस, ठीक इसी प्रकार वह रस मायाबल के कारण परिच्छिन्न रहता हुआ भी अपरिच्छिन्न ही रहता है।

जो सर्वबलविशिष्ट रस है–जिसे कि हमने परात्पर कहा है–वही निष्कल प्रजापति कहलाता है। वही अखण्डात्मा है। सर्वबलविशिष्ट रस को ही निष्कल प्रजापति कहते हैं। कला कहते हैं–विभाग को। यह विभाग बल द्वारा उत्पन्न होता है। चूंकि परात्पर में सारे बल सो रहे हैं, अतएव इस परात्पर को 'निष्कल' कहा जाता है। चूंकि द्वैत बल से होता है–बल सुप्त है–अतएव यह एक कहलाता है। चूंकि क्षोभ भी बल ही से होता है एवं बल सो रहा है अतएव परात्पर 'शान्त' कहलाता

१ गोपथ ब्रा० पू० १।२६।

है। चूँकि यह अखण्ड है, अतएव कर्म्मों से अर्थात बलों से विचलित नहीं हो सकता। स्थितिविच्यव का नाम ही तो भय है। जब अखण्ड है तो स्थितिविच्युति कैसी? स्थितिविच्युति नहीं तो भय कैसा? भय नहीं तो दुःख कैसा? जब दुःख ही नहीं तो शोक का क्या काम? इच्छा तब हुआ करती है–जब किसी वस्तु की कमी हो। जब यह रस सर्वत्र अखण्ड है–परिपूर्ण है–तो फिर इसमें इच्छा का क्या काम? हम बतला रहे थे कि इस परात्पर में मायाबल के कारण जो रस है–वही अव्यय कहलाने लगता है। अव्यय वही रस ही तो है। कहने को यह परिच्छिन्न हो गया, परन्तु अब भी अपरिच्छिन्न ही है। हाँ-ईश्वर अवश्य ही परिच्छिन्न है। इसीलिए मायी शब्द से ईश्वर को पुकारा जाता है। मायी ईश्वर है, न कि अव्यय। जैसा कि श्रुति कहती है—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"[1]

चूंकि यह ईश्वर अस्मदादि जीवेश्वरों का अधिष्ठाता है, अतः जीवेश्वरापेक्षया उसे 'महेश्वर' कह दिया जाता है। कहना यही है कि परिच्छिन्न अव्ययाक्षरक्षर एवं विकारक्षरविशिष्ट जो ईश्वर है-सकल ईश्वर है। कलाविभाग ईश्वर में है–न कि अव्यय में। अव्यय तो सर्वथा निष्कल है–निञ्जन है–असीम है–अखण्ड है–निष्काम है–जरा-शोक-मोह से परे है, इसीलिए तो इसे 'अव्यय' कहा जाता है। यदि वास्तव में देखा जाए तो यह अव्यय परात्पर का भाई-बन्धु ही है। इसीलिए तो इसे निष्कल कहा जाता है। बस, यह जो अव्ययात्मा है-वह अखण्ड है–निष्कल है, अतएव कर्म्मों से अर्थात् बलों से विचाली नहीं होता है। न इसको भय है–न इसको दुःख है–न शोक है–न जरा है–न काम है। अव्यय तो विश्वातीत तत्त्व है। विकारक्षर को विश्व कहते हैं-जो कि सृष्टब्रह्म कहलाता है। आत्मक्षर को प्रज्ञानात्मा कहते हैं–जो कि दुःख से सम्बन्ध रखने वाला है एवं अक्षर को विज्ञानात्मा कहते हैं जो कि रात–दिन क्षर के साथ रहने पर भी अव्ययवत् दुःखादि से निर्लिप्त ही रहता है। अव्यय तत्त्व तो अक्षर से भी परे है एवं अक्षर और क्षर–इन दोनों का आलम्बन भी है–सृष्टि का निमित्त कारण अक्षर है। समवायिकारण क्षर है–अव्यय तो साक्षीमात्र है–आलम्बनमात्र है। अव्यय के इस आलम्बनत्व को बतलाती हुई श्रुति करती है—

"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते"॥[2]

"न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते,[3] **नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि,**[4] **न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्**[5] **यतो वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह**[6] इत्यादि श्रुतियाँ इसी अव्ययपुरुष का प्रतिपादन करती

१ श्वेताश्वरोप० ४।१०
२ कठोप० १।२।१६।
३ श्वेता० उप० ६।८।
४ गीता २।२३।
५ बृहदा० उप० ४।४।२३।
६ तैत्ति० उप० २।४।

हैं। अव्यय है– अखण्ड, परन्तु रहता है–इस विश्व में भी–ब्रह्मपुर में भी–इसीलिए इस अव्यय को पुरुष कहा जाता है। यह विश्व ही इस ब्रह्म का पुर है। बस, सर्वप्रथम–मायाबल से परिच्छिन्न–परन्तु स्वस्वरूप से अपरिच्छिन्न–अखण्ड–परात्परसदृश, अतएव निष्कल जो रस है, वही 'अव्यय' कहलाता है। यह अव्यय चूंकि अखण्ड है, अतएव यह अविचाली है। जो वस्तु व्यापक होती है–अखण्ड रहती है, वह कैसे विचलित हो सकती है ? विचालीभाव को भय कहते हैं। जब भय ही नहीं तो दुःख कैसा ? न इस अव्यय का शोक से सम्बन्ध है– न जरा से सम्बन्ध है एवं न काम से सम्बन्ध है। यह सच्चिदानन्द अव्यय नित्यानन्दमय है। पूर्व प्रकरण में–जिसे हमने नित्यानन्दमय बतलाया है–वही यही अव्यय है। वास्तव में उसके साथ भय का क्या सम्बन्ध है ? अव्ययात्मा सर्वथा भय-शोक से दूर है।

आत्मा को दुःख मिल ही नहीं सकता–आत्मा तो अजर-अमर है–नित्य है–व्यापक है–सच्चिदानन्दस्वरूप है–ये शब्द हम इसी अव्ययपुरुष के लिए कहा करते हैं। इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आत्मा द्विधा कश्चिदखण्ड एकः स निष्कलः कर्म्मभिरस्ति तस्मात्।
नायं विचाली न भयं न दुःखं तस्यास्ति शोको न जरा न कामः"॥१४८॥

हमने बतलाया है कि सर्वप्रथम मायाबल के कारण जो रस परिच्छिन्न हो जाता है–उसे ही असंगतया हम अव्ययपुरुष कहते हैं। यह मायाबल–जिसके कारण रस परिच्छिन्न हो जाता है–उसे बलकोश समझना चाहिए। बलकोश में भिन्न-भिन्न जाति के कोटिशः बल रहते हैं। इन्हीं बलों के कारण इस अव्ययालम्बन पर नई-नई सृष्टिएँ होती हैं। यह अव्यय प्रातिस्विकरूपेण यद्यपि सर्वथा निष्कल ही है, परन्तु इन्हीं बलों के कारण इसकी आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्–ये पाँच कलाएँ हो जाती हैं। जब रस माया द्वारा परिच्छिन्न हो जाता है तो उस में एक सेण्टर कायम हो जाता है–इसी सेण्टर को–इसी केन्द्र को हृदय कहते हैं। बस, इस हृदयबिन्दु पर रहने वाला जो रस-विशिष्ट बल है, वही 'हृद्बल' नाम से व्यवहृत होता है। मायाबल के अनन्तर दूसरा यही बल उत्पन्न होता है। अपि च–इसी केन्द्रीय रस को ही 'मन' भी कहा करते हैं। इसी मन का दूसरा नाम "**श्वोवसीयस् मन**" भी है। यह मन उत्तरोत्तर दिन ब दिन अभ्युदय करता रहता है, नई नई सृष्टिएँ पैदा करता रहता है–अतएव यह **'श्वोवसीयस्'** कहलाता है।

हमने बतलाया है कि यद्यपि अव्यय में क्रिया एवं इच्छादि कुछ भी नहीं हैं, तथापि बलों के कारण इस केन्द्रीय मन में इच्छा उत्पन्न हो जाती है। बस, जहाँ इच्छा हुई कि तदनुकूल तप (प्राण-व्यापार) एवं श्रम (वाग्-व्यापार) होने लगा। यह जो इच्छा है–इसी का दूसरा नाम है–काम। सृष्टि के प्रारम्भ में सबसे पहले इस 'श्वोवसीयस्' से ही काम का अर्थात् इच्छा का प्रादुर्भाव होता है–इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" ।[1]

इस इच्छा को ही अशनाया अर्थात् बुभुक्षाबल कहते हैं। बस हृद्बल के अनन्तर तीसरा यही अशनाया बल उत्पन्न होता है। इस अशनाया के १-उक्थ, २-अर्क, ३-अशिति-ये तीन विभाग होते हैं। उक्थ उस स्थान का नाम है-जहाँ से इच्छा उठती है। चूँकि इच्छा मन से उठती है, अतएव मन ही को उक्थ कहते हैं। इसीलिए '**मन एवोक्थम्**' कहा जाता है।

मायावच्छिन्न रस का केन्द्रीयबल इच्छा के द्वारा ऊपर जाता है एवं नीचे आता है। इच्छा द्वारा ही बाहर से आता भी रहता है। बल विना रस के नहीं रह सकता, अतएव इस बाहर जाने वाले रस को 'अर्क' कहते हैं। इसी अर्क का दूसरा नाम है-प्राण। वह जो अर्कप्राण है-वह रस-स्वरूप है। रस अमृत है-उसका कभी नाश नहीं होता, अतएव इस प्राणभाग को-'अक्षर' कहते हैं। जो मन है-वह अव्ययसम्बन्धी है-प्राण अक्षरसम्बन्धी है-एवं वाक् से क्षर का सम्बन्ध है-जिसे कि हम 'अन्न' कहेंगे। यह अक्षर ही अर्थात् बाहर जाने वाली प्राणरश्मियाँ हीं चूँकि अन्न ला-लाकर -उस अव्यय पर चिनाव करती रहती हैं, अतएव '**चीयते अनया**' इस व्युत्पत्ति से इस अक्षर को 'चेतना' कहा जाता है। चूँकि चिनाव होता है अव्यय पर, अतएव अव्यय को चिदात्मा कहा जाता है। इस प्रकार अक्षर द्वारा अव्यय पर 'क्षर' भाग की अर्थात् वाग्भाग की चिति होती रहती है। यह चिति अन्तश्चिति, बहिश्चितिभेदेन दो प्रकार की है। इसका विस्तृत विवेचन करना प्रकृत से बहुत दूर जाना होगा, अतः इसे यहीं छोड कर हम प्रकृत की ओर झुकते हैं। यह जो अक्षर प्राण है-यह ६ प्राणों की समष्टि है। इन ६ (नौ) प्राणों में एक प्राण ऐसा है जो कि मायाबलावच्छिन्न अव्यय पर व्याप्त हो-अव्यय ही की वस्तु बन जाता है, उसका अक्षर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, अव्यय सृष्टयादि कर्म्मप्रपञ्च से सर्वथा अलग है, अतएव तत्संसृष्ट ६ वाँ अक्षरप्राण भी सृष्टि-निर्म्माण प्रक्रिया से पृथक् ही रहता है। बाकी बचते हैं-आठ प्राण। इन आठों में से जो ४ प्राण हैं-उनसे तो आत्मा बनता है। दो प्राणों से-दोनों पक्ष (चारों हाथ-पैर) बनते हैं एवं एक प्राण से पुच्छप्रतिष्ठा बनती है जो कि खुद अनस्थि वाली होती हुई भी अस्थिवाले मनुष्य को तना हुआ रखती है "**अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति**" यह इसी प्रतिष्ठा-प्राण के लिए कहा जाता है। मनुष्य में जो एक ताण सी दीखती है-जिससे कि यह अकड़ के साथ खड़ा रहता है-वही 'पुच्छ' नाम का प्रतिष्ठा प्राण है। यह प्राण मेरुदण्ड के अन्त तक-मूलाधार के जरा ऊपर तक रहता है। जिसमें यह प्रतिष्ठा निकल जाती है-उसकी कमर मुड़ जाती है। कहना हमें यही है कि इन सातों प्राणों को मिला कर के इनका जो रसभाग है-जो कि परिमाण में एक प्राण जितना है-उससे मस्तक बनता है-जिसे कि 'शिर' कहते हैं। चूंकि सातों के रस-भाग से यह बना है, अतएव इसे 'श्रीः' कहते हैं, अतएव इसे शिरः "भी कहते हैं। इस शिरभाग को छोडकर अवशिष्ट जो सात प्राण हैं-

१ ऋग्वेद मं० १०।१२६।४।

उन्हीं को 'सप्तपुरुषपुरुष' कहा जाता है-यही 'क्षरात्मा' है। इसी के साथ दुःख–सुख का सम्बन्ध है–यही मरणधर्म्मा है।

वह व्यापक अव्यय हमारे में भी मौजूद है। हमारे शरीर में इस सप्तसंस्थ क्षरात्मा का विभाग निम्नलिखित क्रम से समझना चाहिए–जो वक्षःस्थल है–उसमें तो चार प्राण रहते हैं। यद्यपि हैं सातों के मेल से क्षरात्मा का स्वरूप, परन्तु चूँकि धड़ के आधार पर हाथ, पैर, मस्तक वगैरह रहते हैं, अतएव, चूँकि औरों की अपेक्षा धड़ में चार प्राण हैं, इसलिए भी इस धड़ को 'आत्मा' कह दिया जाता है। इसी धड़ के लिए 'चत्वार आत्मा' कहा जाता है। एवं दो प्राण चारों हाथ-पैरों में रहते हैं। सातवाँ पुच्छप्रतिष्ठा प्राण 'मेरुदण्ड' में रहता है। इन सबकी समष्टि को ही सप्त-पुरुषपुरुष कहते हैं–जो अव्यय आलम्बन पर अपनी स्थिति कायम करता है। इसी सप्तपुरुषपुरुष के लिए कहा जाता है—

"एतान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्। यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्। यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ-पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत्॥ अथ यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां "श्रीः"। यो रस आसीत्-तमूर्ध्वं समुदौहंस्तदस्य शिरोऽभवत्। श्रियं समुदौऽहंस्तस्माच्छिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त तस्माद्वु एवैत-च्छिरः। अथ यत् प्राणा अश्रयन्त तस्माद्वु प्राणाः श्रियो–अथ यत् सर्वस्मिन्न-श्रयन्त–तस्माद्वु शरीरम्॥ स वै सप्तपुरुषो भवति–सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो-यच्चत्वार आत्मा–त्रयः पक्षपुच्छानि-इति।[1]

हमने जिन आठों प्राणों का पूर्व में विवेचन किया है–उन्हें–आग्नेय प्राण समझना चाहिए। हाथ–पाँव–धड़–मस्तक आदि का जो निर्म्माण होता है–वह इस सप्तपुरुष अग्नि के चिनाव से ही होता है। अग्नि दो प्रकार का होता है–चित्य और चितेनिधेय। जो चित्य है–वह मर्त्याग्नि कहलाता है एवं जो चितेनिधेय अग्नि है–वह 'अमृताग्नि' कहलाता है। पिण्ड को ही चित्य कहते है। पिण्ड संयोग से बना है। 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' यह सिद्धान्त है, अतएव इस चित्यपिण्ड को 'मर्त्याग्नि' कहा जाता है। इस में रहने–वाला जो सप्तपुरुषपुरुष है–वही हमारा प्रज्ञानात्मा है–इसी को हम 'क्षरात्मा' कहते हैं एवं जो इस शरीर में अमृतभाग है–जिसका कि प्रधानस्थान, 'ब्रह्मरन्ध्र' है–जो कि सौरप्राण नाम से भी व्यवहृत होता है–वही अमृताग्नि है। इसी का नाम अक्षरात्मा है–इसे ही 'विज्ञानात्मा' कहते हैं। इन सातों प्राणों से चूँकि अस्थिमाँसादि नई वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं–उनका यह उपादान कारण है, अतएव इसे 'क्षर' कहा जाता है। परन्तु इतना विशेष इस सप्तपुरुषपुरुषात्मक सर में अवश्य समझ लेना चाहिए कि इसमें ये अनन्त विकार निकलने पर भी यह क्षर वैसा ही रहता है जैसा कि

१ शत० ब्रा० ६।१।१।३, ४, ६।

विकार निकलने के पहले था–बस, इसीलिए इस क्षर को 'आत्मक्षर' कहते हैं- इसीलिए तो हमने इसे 'आत्मा' कहा है। उस से उत्पन्न हाडमांसस्वरूप जो विकारक्षर है-वही इस क्षरात्मा का शरीर है। इस आत्मक्षर को विकारक्षरादि पैदा करने के कारण तदपेक्षया 'प्रजापति' भी कहते हैं। **'आत्मैवेदं सर्वम्'**[1] जहाँ यह कहा जाता है–वहीं इसी क्षर–प्रजापति का ग्रहण समझना चाहिए। संपूर्ण कथन का तात्पर्य्य यही हुआ कि जो अष्टप्राणात्मक अक्षरप्राण था–वही चित्य एवं चितेनिधेयभेद से अक्षर और क्षर अर्थात् मर्त्य और अमृत–इन दो भेदों में परिणत हो जाता है। वस्तुतः दोनों से प्रजापति का स्वरूप बनता है। प्रजापति का आधा शरीर 'क्षर' मर्त्य है एवं आधा अमृत है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्"।[2]

यह अक्षर और क्षर–दोनों अविनाभूत हैं। क्षर प्रज्ञानात्मा है, अक्षर-विज्ञानात्मा है। प्रज्ञानात्मा कभी विज्ञान से अर्थात् अक्षरभाग से पृथक् नहीं होता। अतएव यह कहा जाता है—

"स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः"।

इन दोनों की समष्टि को ही कर्म्मात्मा कहा जाता है। वास्तव में कर्म्मात्मा क्षरात्मा ही है अर्थात् प्रज्ञानात्मा ही है। परन्तु चूंकि विज्ञान प्रज्ञान से अलग नहीं रहता, अतएव दोनों की समष्टि को कर्म्मात्मा कह दिया जाता है। यह विज्ञानात्मा ही 'क्षेत्रज्ञ' नाम से व्यवहृत होता है एवं प्रज्ञान 'क्षेत्रात्मा' नाम से व्यवहृत होता है। यह प्रज्ञानात्मा **आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः**[3]-व्याप्त रहता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"स एष इह प्रविष्ट आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरध्याने हितः स्यात् विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाय"॥[4]

प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा–इत्यादि आत्माओं का विस्तृत विवेचन हम इसी ग्रन्थ के **जीवजगत् संशयवाद-प्रतिवाद**[5]–में करने वाले हैं, अतः वही द्रष्टव्य है। यहाँ केवल इतना ही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि–जो कर्म्मात्मा नाम का अवर आत्मा है–वही सर्वकाम है–वही सकल है अर्थात् कल सहित है– एवं सकर्म्मा है। यह कर्म्मात्मा क्षर-अक्षर भेदेन दो प्रकार का है। जो अक्षर है–वह तो अविचाली है एवं अव्ययवत् इससे भी दुःख का कोई सम्बन्ध नहीं है। बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ छान्दोग्योप० ७।२५।२।   २ शत० ब्रा० १०।१।३।२।
३ छान्दोग्योप० ८।८।१।   ४ कौषी० उप० ४।१६।
५ द्रष्टव्य–श्री ओझा जी कृत संशयतदुच्छेवाद पृष्ठ १०६।

"कर्मात्मनाम्ना त्ववरो य आत्मा स सर्वकाम: सकल: सकर्म्मा ।
क्षरोऽक्षरश्च द्विविध: स तत्राक्षरोऽविचाली न स दु:खयोगी" ॥१४९॥

एवं जो क्षर आत्मा है-वही 'प्रज्ञानात्मा' कहलाता है । चूंकि वह अल्पज्ञ है-मर्त्य है-परिच्छिन्न है, अतएव वह कामनाओं से विचलित हो जाता है । इसको दु:ख होता है-इसी को भय होता है । जो प्रज्ञानात्मा क्षर-अक्षर के कारण-द्वन्द्वमय बतलाया गया है-वही सुख-दु:ख का भोक्ता है, न कि अव्ययात्मा अर्थात् अखण्डात्मा एवं अक्षरात्मा अर्थात् विज्ञानात्मा । प्रज्ञानात्मा ही परिच्छिन्न है । जो परिच्छिन्न होता है-उसी की स्थितिविच्युति होती है । स्थितिविच्युति का नाम ही कम्प है । कम्प ही को भय कहते हैं । भय ही दु:ख का-अज्ञान का मूल है । कर्म्मगति वगैरह का सम्बन्ध इसी आत्मा से है-जैसा कि प्रज्ञानात्मा वर्णन में बतलाया जाएगा । इन्हीं अक्षर और क्षर का अर्थात् प्रज्ञान और विज्ञान का भेद बतलाते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

"योऽस्यात्मन: कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
य: करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधै:"-इति ।।[1]

हमारे शरीर में जहाँ भी कहीं काँटा लगता है, हमें फोरन उसी समय मालूम पड़ जाता है । बस, इस वेदना का अनुभव करने वाला यही क्षर आत्मा है-जिसे कि हम 'प्रज्ञानात्मा' कहेंगे । जहाँ से इस आत्मा का हिस्सा निकल जाता है, वहाँ भले ही सूई चुभाया करो-फिर भी दर्द नहीं होता । क्षर आत्मा मरणधर्म्मा है-इसमें इससे अधिक प्रमाण और क्या दिया जा सकता है ? प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि 'अव्यय, अक्षर, क्षर-इन तीनों में से दु:खभोक्ता केवल 'क्षरात्मा' है जो कि सप्तपुरुषात्मक पुरुषस्वरूप है-जो कि प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध है । आगे का सारा **'दु:खप्रतिपत्तिखण्ड'**-इसी प्रज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखने वाला समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"य: प्रज्ञ आत्मा क्षर एष कामाद् विचाल्यतेऽल्पज्ञतया हि सोऽज्ञ: ।
तस्यैव दु:खं च भयं च मन्ये प्रज्ञस्य स द्वन्द्वमयो निरुक्त:" ॥१५०॥

———❀———

३-दु:खादिस्वरूपाणि ।

दु:खादिस्वरूप—

दु:ख अखण्डात्मा से सम्बन्ध नहीं रखता-जिस अखण्डात्मा को हमने नित्यानन्दस्वरूप बतलाया है एवं न अक्षरात्मा से ही सम्बन्ध रखता है जो कि विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध है । सम्बन्ध है-दु:ख

१ मनुस्मृति १२।१२ ।

एवं भयजराशोकमोहादि का क्षरात्मा से–प्रज्ञानात्मा से–पार्थिवात्मा से जो कि पार्थिवात्मा भूतात्मा नाम से प्रसिद्ध है । स्थिति के विचलित हो जाने का नाम भय है । भय का यह लक्षण हमने पूर्व में बतला दिया है । यह आत्मा यदि विचलित हो जाता है–किसी कारण से प्रज्ञा का कम्प हो जाता है–तो यह प्रज्ञानात्मा एकदम घबरा उठता है । बस, इस घबराने का नाम ही 'भय' है । घबराने का–प्रज्ञाकम्प का नाम ही भय है । एक मनुष्य आपकी सीढियों द्वारा आपके पास ऊपर आ रहा है । आप नालियों में (सीढियों में) छिप जाइए । जब वह आपके सामने होकर आपके कमरे में जाने लगे तो आप अकस्मात् उस स्थान से निकलकर 'हो'–यह शब्द कर दीजिए । बस, शब्द के साथ ही उस आगन्तुक की प्रज्ञा कम्पित हो जाएगी–जिसका कि आप प्रत्यक्ष दर्शन करेंगे । बस, इस प्रज्ञा-कम्प का नाम ही भय है । इसीलिए वह मनुष्य अन्त में कहता है कि अरे भाई ! मैं तो डर गया था कि यह कौन आ गया ? परन्तु यदि आत्महानि हो जाती है- आत्मा का अंश निकल जाता है तो यह आत्महानि दुःख नाम से व्यवहृत होती है ।

शरीर पर जब कोई फोड़ा हो जाता है–तो उस का हम डाक्टर द्वारा ऑपरेशन करवा डालते हैं । मवादस्वरूप जो अनात्मीय भाग है–उसे निकलवा डालते हैं । परन्तु ऑपरेशन के साथ कुछ अच्छा हिस्सा भी निकल जाता है । चूँकि वह अच्छा हिस्सा क्षरात्ममय है, अतः उसके साथ आत्मांश को भी निकलना पड़ता है । बस, इससे जो तनाव होता है-क्षर आत्मा का सम्बन्ध शरीर से टूटता है–इसी का नाम दुःख है । इसी को पीड़ा कहते हैं । यदि आत्मा का अंश नहीं निकलता है एवं खाली मवाद ही निकल जाती है–तो जरा भी दुःख नहीं होता है । आत्महानि से दुःख होता है । आत्महानि से दुःख नहीं होता बल्कि आत्महानि का नाम ही दुःख है । यही भय और दुःख की मीमांसा है ।

इसके विरुद्ध यदि आत्मा विचलित नहीं है एवं न आत्मा की हानि ही है तो यही आत्मा का 'स्वास्थ्य' कहलाता है । कम्पाभाव एवं हान्यभाव को ही स्वस्थता कहते हैं । कम्प और हानि का न होना आत्मा का स्वस्वरूप में स्थित रहना है, अतएव इस अवस्था को 'स्वास्थ्य' शब्द से व्यवहृत किया करते हैं । यदि तो आत्मा की वृद्धि हो जाती है-शरीर पुष्टि हो जाने के कारण 'क्षरात्मा' का आयतन बढ जाता है–तो यह आत्मवृद्धि कहलाती है । तात्पर्य्य यही है कि आत्मा की कम्पावस्था का नाम भय है, हानि अवस्था का नाम दुःख है । दोनों के अभाव का नाम नीरोगता है एवं वृद्धि का नाम सुख है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

'आत्मा विचाल्येत भयं तदुक्तं या चात्महानिः खलु तन्नु दुःखम् ।
स्वास्थ्यं हि तस्याविचलत्वमुक्तं यात्वात्मवृद्धिः सुखमुच्यते तत्" ॥१५१॥

किसी आकस्मिक घटना के कारण जब प्रज्ञा का कम्पन हो जाता है–तो यह पहला अवरकोटि का दुःख है । प्रज्ञा-प्रकम्प पहला दुःख है–जिसे कि अल्पदुःखतया दुःख न कहकर 'भय' भी कह दिया करते हैं । यदि प्रज्ञा के अङ्गों का कम्पन हो जाता है तो उससे जो भय होता है–वह उग्र दुःख कहलाता है । हाथ में चक्कू का घुस जाना, पैर में नुकीले काँटे का चुभ जाना, आँख में तृण का घुस जाना

इत्यादि इत्यादि जो प्रज्ञा के अंगों का काँपना है–उससे अत्युग्र दुःख होता है। यदि और भी अधिक दुःख होता है तो प्रज्ञा का अवसाद हो जाता है अर्थात् प्रज्ञानात्मा मूर्च्छित होकर गिर जाता है। यदि नश्तर जोर से लग जाता है तो–प्रज्ञा अपनी हालत को छोडकर बेहोश हो जाता है। जैसे निर्विषयानन्द का अनुभव नहीं होता तद्वत् इस प्रज्ञावसाद से होने वाले महादुःख का भी अनुभव नहीं होता। अनुभव हो कैसे ? जबकि अनुभव करने वाला प्रज्ञानात्मा मूर्च्छित हो रहा है एवं इस दुःख की परमा काष्ठा है–प्रज्ञा का विनाश। जब दुःख चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो उसी समय प्रज्ञा का विनाश हो जाता है।

प्रज्ञा–कम्पन पहला दुःख है–जो कि 'भय' नाम से व्यवहृत होता है। प्रज्ञा के अंगों का कम्पन ऊँचे दर्जे का भय है जो कि उग्र–दुःख कहलाता है। इस दुःख से मनुष्य त्राहि–त्राहि करने लगता है। इसका प्रत्यक्ष शफाखानों में जाके किया जा सकता है। बडे बडे होस्पिटलों के ओपरेशन रूमों में उग्र दुःख के साक्षात् दर्शन हो जाते हैं। तीसरा दुःख है–उस उग्र दुःख से भी ऊँचे दर्जे का–जो कि प्रज्ञा के मूर्च्छित होने से होता है। इसका अनुभव नहीं होता। मुर्दे के माफिक मनुष्य पड़ा रहता है। क्लोरोफार्म की कृपा से–वह दृश्य भी देखने को मिल सकता है। अन्तिम दर्जे का दुःख है–मृत्यु। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रज्ञप्रकम्पः प्रथमं हि दुःखं प्रज्ञाङ्गकम्पा भयमुग्रदुःखम्।
प्रज्ञावसादोऽतिशयेन दुःखं दुःखस्य काष्ठा 'परमात्मनाशः'* ॥१५२॥
(*आत्मनाशो दुःखस्य–परमा काष्ठा एवं योज्यम्)

इस प्रकार कई दार्शनिक दुःख की चार संस्था बतलाते हैं। उनके मतानुसार दुःख के चार दर्जे हैं। इन चारों में से प्रज्ञा का कम्प और प्रज्ञाङ्गों का जो कम्प है–इन दोनों में जो प्रज्ञाङ्गकम्प है जिसे कि 'भय' बतलाया था–वह 'भय' ही दुःख नाम से व्यवहृत होता है। कम्प को हमने 'भय' कहा है एवं प्रज्ञाङ्गकम्प को दुःख कहा है। वास्तव में दूसरा जो भय है–वही दुःख नाम से व्यवहृत होता है। 'प्रज्ञाङ्गकम्पा भयं' से दुःख ही अभिप्रेत है। इस दूसरे प्रज्ञाङ्गकम्प नाम के उग्र दुःख का एवं चौथे मृत्यु दुःख का तो अनुभव होता है, परन्तु प्रज्ञा के कम्प हो जाने पर एवं मूर्च्छित हो जाने पर जो भय और दुःख होता है, उसका अनुभव नहीं होता। अकस्मात् चमकाने से जो प्रज्ञा कम्प होता है–इसमें मनुष्य अवाक् रह जाता है। इसका अनुभव नहीं होता। एवमेव–प्रज्ञा जब मूर्च्छित हो जाती है, तब भी यही हालत होती है। दोनों ही अवस्थाओं में प्रज्ञानात्मा शून्य हो जाता है। इन दोनों को ही दुःख न कहकर हम–'भीति' शब्द से व्यवहृत करेंगे। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"दुःखं चतुःसंस्थमिति ब्रुवन्ति तत्र द्वितीयं भयमेव दुःखम्।
प्रज्ञस्य कम्पे यदि वाऽवसादे शून्यात्मता दुःखमिदं न भीतिः" ॥१५३॥

दूसरा मत है कि–काम का अवसाद हो जाना यह पहला दुःख है। इसी दुःख को–'दरिद्रता' शब्द से व्यवहृत करते हैं। हम चाहते हैं–हमें दो हजार रुपये मिल जाएँ। यदि इच्छानुसार रुपये नहीं मिलते हैं तो एक प्रकार का दुःख होता है। इच्छा के निरोध से एक प्रकार का दुःख होता है। बस, इसी दुःख को दरिद्रता कहते हैं। एवं प्रज्ञा कम्प से जो दुःख होता है, वह भय नाम से पुकारा जाता है–जैसा कि पूर्व में बतला आए हैं, एवं आत्मावसाद हो जाना तीसरा दुःख है जिसे कि–**शून्य दुःख** नाम से व्यवहृत किया करते हैं। अर्थात्–मूर्च्छा को ही शून्य दुःख कहते हैं। एवं जो प्रज्ञा-विनाश है–वह दुःख नहीं है–तो मृत्यु है। इस प्रकार कई दार्शनिक दुःख की तीन ही कोटियाँ मानते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कामावसादस्तु दरिद्रताख्यं स्यादात्मकम्पो भयनाम दुःखम्।
आत्मावसादः किल शून्यदुःखमित्थं त्रिधा केचन दुःखमाहुः" ॥१५४॥

४–आत्मनि भोग्यान्तरायाद् दुःखोपपत्तिः।

आत्मा में भोग्य के बीच में बाधा आने से दुःखोपपत्तिः।

इस प्रज्ञानात्मा को कई प्रकार से दुःख हुआ करता है–जिनका विवेचन करना ही इस प्रकरण का विषय है। यह प्रज्ञानात्मा भोग को भोगा करता है। भोग का अनुभव–इसी प्रज्ञान को होता है।

इस आत्मा का स्वभाव है कि जहाँ यह अधिक समय तक रह जाता है, वहीं स्वभोगों में रमण करने लगता है–वहीं रम जाता है। इस प्रज्ञान में अनेक पदार्थ शामिल रहते हैं–जैसा कि 'प्रज्ञानात्मा' विवेचन में बतलाया जाएगा। चिदनुगृहीत जो बृहस्पति का सोम है–उसे ही महान् कहते हैं। सोम पर ही चिदव्यय का प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसीलिए इस महान् को चित् की योनि कहा जाता है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—

**"मम (चिदव्ययस्य) योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत" ॥[1]**

यह जो महान् है–उसी में जब चिदनुगृहीत सौर–प्राण का सम्बन्ध हो जाता है तो उस सौर–प्राण से वह महान् अतिमात्रा में चमक पड़ता है। बस, चिदनुगृहीत ही सौरप्राणयुक्त जो चिदनुगृहीत महान् है–इसी का नाम प्रज्ञान है। इसी महान् को सौरप्राणसम्मिश्रणात्–प्रज्ञान कहने लगते हैं। उस महान् के जिस भाग पर सौरप्राण का सम्बन्ध होता है–वह सत्त्वगुणयुक्त कहलाता है। अधिक

१ गीता १४।३।

चमक के कारण ही वह हिस्सा सत्त्वगुणयुक्त कहलाता है एवं विरुद्ध भाग सौरप्राणाभावात् तमोगुणयुक्त कहलाता है एवं सन्धिभाग रजोगुणयुक्त कहलाता है। इस प्रकार एक ही महान् सौरप्राणतारतम्यात् प्रकृतित्रयविशिष्ट हो जाता है। यह सौरप्राण और प्रज्ञान ऐसे मिलेजुले रहते हैं कि इनको कभी पृथक् नहीं किया जा सकता। इनमें जो सौरप्राण है—वही 'अक्षरभाग' कहलाता है। सौरप्राण अमृत-स्वरूप है, अतएव वह 'अक्षर' कहलाता है एवं जो सोमभाग है अर्थात् प्रज्ञाभाग है, वह 'क्षर' कहलाता है। दुःख—सुखभोक्ता—यही क्षरभाग है। जो सौरप्राण है—उसे इन्द्र कहते हैं। यह इन्द्र इस प्रज्ञान में शामिल रहता है, अतएव प्रज्ञान जहाँ एक दफे चला जाता है—बार बार उसी स्थान पर जाया करता है। इन्द्र ओकःसारी है—जहाँ एक दफे चला जाता है—बार बार उसी स्थान पर जाया करता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—–

"ओकःसारी वा इन्द्रो यत्र वा इन्द्रः पूर्वं गच्छत्येव तत्रापरं गच्छति"।[1]

इसी इन्द्रमिश्रित प्रज्ञा को 'मन' भी कहा जाता है। चूँकि यह प्रज्ञा इन्द्रप्राणयुक्त रहती है, अतएव इसे इन्द्र भी कह दिया जाता है। दोनों ऐसे अविनाभूत रहते हैं—जिनको दो कहा ही नहीं जा सकता। इसी अभेद-भाव को बतलाती हुई श्रुति कहती है—–

"सत्यं हीन्द्रः। स होवाच मामेव विजानीहि। एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयां। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व। एकभूयं वै प्राणा भूत्वा एकैकं सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञापयन्ति। प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः। तस्यैषैव दृष्टिरेतद् विज्ञानम्"।[2]

प्राण और प्रज्ञा- अर्थात् अक्षर और क्षर- दोनों ऐसे मिले रहते हैं—जिनको दो चीज नहीं कहा जा सकता, अतएव हम प्रज्ञामन को इन्द्र भी कह सकते हैं एवं प्रज्ञामिश्रित इन्द्र को प्रज्ञा भी कह सकते हैं। यह प्रज्ञामन ही अर्थात् इन्द्र ही बाहर निकलता हुआ रूपरसादि का अनुभव करता है, अतएव इन पाँचों को इन्द्रसम्बन्धेन 'इन्द्रिएँ' कहा जाता है। परन्तु ध्यान रहे—इन्द्र सर्वथा अविनाशी है। रात–दिन प्रज्ञान के साथ रहता हुआ भी अविनाशी ही है। इसीलिए हम दुःख-सुखभोक्ता क्षरात्मा को ही बतलाते हैं। यह आत्मा ही प्रज्ञान नाम से प्रसिद्ध है। चूँकि संकल्प-विकल्प, दुःख-सुखभोग—सारा काम इसी का है। इसी अभिप्राय से बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

---

१ ऐ० ब्रा० अ० २६।१।१७।   २ कौषी० उप० ३।१-२-३।

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव"।[1]

इस प्रपञ्च से प्रकृत में हमें यही कहना है कि यह आत्मा अर्थात् प्रज्ञानात्मा ओकःसारी अक्षरात्मा के सहवास के कारण जिस स्थान में अधिक दिन तक रह जाता है–वहीं सहभोगों से रमण करने लगता है। बनावटी बात नहीं हूं। आप अपनी जन्मभूमि को छोडकर परदेश चले जाइए। जाते समय जरूर थोड़ा कष्ट होगा। परन्तु २–४–६ महिने वहाँ रहने बाद आपकी तबियत ऐसी रम जाएगी–वहाँ के भोग्य पदार्थों के साथ आत्मा ऐसा रम जाएगा कि फिर उस स्थान को छोडने की तबियत ही न चाहेगी। तबियत नहीं चाहेगी–यहीं पर जाके समाप्ति नहीं है–अपि तु, यदि वहाँ से कारणवशात् आपको वापस लौटना पड़ेगा तो आत्मा में दुःख होगा। उस स्थान के छोडने से–वहाँ रमा हुआ आत्मा दुःखी होगा। हम तो यह तक कहने के लिए तय्यार हैं कि यदि १०–२० वर्ष के पुराने कैदी को जेलखाने से मुक्त किया जाता है तो उसे उस जेलखाने को जिसमें कि उसका आत्मा रम गया है-जेलखाने से आसक्त हो गया है-छोडते समय दुःख होगा।

तात्पर्य्य यही है कि यह आत्मा अधिक काल तक जहाँ रहता है–वहीं स्वभोग्यपदार्थों से रम जाता है। उस स्थान में रहने वाले भोग्य पदार्थों के साथ इसकी आसक्ति हो जाती है। वहाँ से यदि कारणवशात्–आत्मा का बहिष्कार किया जाता है–तो इस मनुष्य के चित्त में दुःखभाव का उदय हो जाता है। चिरपरिचित उस स्थान को छोडने में इसे दुःख का अनुभव होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"चिरं स तिष्ठत्यपि यत्र देशे तत्रैव भूयो रमते स्वभोगैः।
ततो बहिष्कारकृतौ त्वमुष्य प्रतीयते चेतसि दुःखभावः" ॥१५५॥

चिरपरिचित स्थान को छोडने से जो दुःख होता है–इसका एकमात्र कारण विषयासक्ति है। प्रज्ञान के साथ अर्थात्–क्षरात्मा के साथ विज्ञान बैठा हुआ है। **मम इदम्**–इस ज्ञान का अनुभव करने वाला यही विज्ञान है। बस, इस प्रज्ञानात्मा की–इसी विज्ञान के कारण उन भोग्य पदार्थों के साथ ममता हो जाती है। इसी ममता को आसक्ति कहते हैं। **मम इदं** यह जो ममत्व है-आसक्ति है-यह इस प्रज्ञानात्मा को इन भोग्य पदार्थों के साथ चिपकाने वाला श्लेषण द्रव्य है–अर्थात् गूँद है। प्रज्ञानात्मा सोमस्वरूप है। सोम संग करने वाला पदार्थ है। सोम एक प्रकार का पानी है। पानी में स्नेहन–शक्ति रहती है। जो अक्षरभाग है–वह सौरवस्तु है–आग्नेय है, अतएव अनवरत क्षर के साथ रहने पर भी वह तो अपने स्वरूप से अलग रहता है, परन्तु यह प्रज्ञान जी ममतारूपी गूँद के कारण विषयों में चिपक जाते हैं। इनका उन विषयों के साथ दृढ सम्बन्ध हो जाता है। बस, जब इस ममतानिविष्ट आत्मा को वहाँ से हटाया जाता है–तो वहाँ से इसकी ममता का विनाश होता है। उस स्थान से इसकी ममता–**मम इदम्**

१ बृहदा० उप० १।५।३।

यह भाव हटता है–बस, यही उस भोग्य का आत्मा से अलग होना है । इस आत्मा के भोग्य-पदार्थ आत्मा से अलग होते हैं–आत्मा और इसके भोग्य पदार्थों के बीच में अन्तर आ जाता है, बस, इसीलिए आत्मा दुःखी होता है । आत्महानि को दुःख बतलाया गया है । चूँकि वहाँ से हटने पर–आत्मा का अंश खिंचाव करता है, अतएव दुःख होता है । फोड़े पर लगी हुई बम्बई की कागळी को जब उतारा जाता है तो उससे बद्ध आत्मांश भी स्थान छोडता है । बस, उसी समय दुःख होने लगता है । दुःख क्या होने लगता है–अलग होने का नाम ही दुःख है । आत्मा और भोग्य के बीच में अन्तराय हो जाने से दुःख होता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति" ।[1]

भय ही का नाम तो दुःख है ।

तात्पर्य्य कहने का यही है कि उस स्थान में रहने वाले विषयों के साथ विज्ञान के कारण–**मम इदम्**–इसके कारण इस आत्मा की जो ममता हो जाती है–आत्मा के वहाँ से अलग होने पर–बहिष्कृति होने पर विषय-ममता भी हटती है । बस, इस ममता के हटने से वे भोग्यजात आत्मा से पृथक् होते हैं–यही इसका दुःख है । ममता-विनाश से–भोग्य और आत्मा के बीच का जो अन्तराय है–वही दुःख का कारण है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्रात्मनस्तस्य सतः स्वभोग्ये विज्ञानतो या ममता निविष्टा ।
निवर्तते सा तदिहात्मनस्तद् भोग्यं पृथक् स्यात् तदिहास्ति दुःखम् ।। १५६।।

बडी ही विचित्र बात है । जिन विषयों से आत्मा प्रेम करता था, उनके अलग होने पर थोड़े समय में ही उन्हीं से उस आत्मा का द्वेष हो जाता है । जो स्त्री–युवावस्था में बडी ही प्रिय लगा करती थी–आज वही दुःखस्वरूपिणी मालूम होने लगती है । जब तक विषयों में–भोग्यपदार्थों में मनुष्य लीन रहता है–तभी तक उनके साथ आनन्द की मात्रा बनी रहती है । जहाँ विषय और आत्मा का वियोग हुआ कि विषयों के साथ आत्मा का वैर हो जाता है । जो विषय अन्तरायाभावात् अत्यन्त प्रिय लगा करते थे–वे ही अलग होकर विषसमान प्रतीत होने लगते हैं । भोग्यस्थित एवं आत्मस्थित आनन्द की जब तक कड़ी जुड़ी रहती है–तब तक ही 'आनन्द' है । जहाँ अन्तर हुआ कि विषय बुरे मालूम होने लगते हैं । इस बुरे मालूम होने का कारण यह दुःख ही है, अतएव इस दुःख को दोनों के आनन्द का अन्तराय माना जाता है । अन्तर ही का नाम दुःख है ।

तात्पर्य्य यही है कि जो भोग्य पदार्थ पहले (अन्तर की अभावास्था में) सुखस्वरूप प्रतीत होते थे–वे ही अन्तर के आ जाने से दुःखमय प्रतीत होने लगते हैं । अन्तर ही दुःख का कारण है, अतएव भोग्यस्थित आनन्द एवं आत्मस्थित आनन्द के इस अन्तर को ही 'दुःख' कहा करते हैं । अर्थात्–दुःख

१ तैत्ति० उप० २।७ ।

अन्तर है न कि भोग्यपदार्थ एवं आत्मा। यदि भोग्यपदार्थ ही दुःखस्वरूप होता तो उससे कभी आनन्द नहीं आता, अतएव मानना पड़ता है कि आत्मावत् भोग्य भी आनन्दस्वरूप ही है। दुःख होता है-दोनों के वियोग से। आनन्दस्वरूप भी पदार्थ बुरे मालूम होते हैं-व्यवधान से, अतएव उस व्यवधान को-अन्तर को हम दुःख कहने के लिए तय्यार हैं। दोनों के बीच का जो शून्यभाव है-अन्तर है-खाली आकाश है-वही दुःख है। इसीलिए तो इसका नाम दुःख रक्खा गया है। आत्मा और विषय के बीच का जो आकाश है-वह यदि खाली रहता है तो दुष्ट कहलाता है। पूर्ण को अच्छा कहते हैं-रिक्त को बुरा कहते हैं। जब कि दोनों के बीच का स्थान रिक्त है-तो फिर हम क्यों न इसे बुरा कहें? बुरे ही को तो दुष्ट कहते हैं। बस, **दुष्टं खं ययोः**-इस व्युत्पत्ति से दोनों के अन्तराय का नाम ही 'दुःख' है-न कि आत्मा और विषय का। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यान्येव भोग्यानि पुरा सुखानि तान्येव संप्रत्यसुखानि भान्ति।
भोग्यस्थितात्मस्थितयोश्च तस्मादानन्दयोरन्तरमेतदाहुः" ॥१५७॥

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं। चूंकि-आत्मा और भोग्य का अन्तर दुःख है-न कि आत्मा और भोग्य। अतएव हम कह सकते हैं कि यह आत्मा भी आनन्दमय ही है एवं भोग्यपदार्थ भी आनन्दमय ही है। इस अन्तर के पहले दोनों एक थे, अतएव दोनों का आनन्द परस्पर मिला हुआ था। बस, जब इन दोनों की एक धारा में-मिलित अवस्था में-अन्तर आ जाता है, तभी भय हो जाता है। भय अन्तरकृत है। व्यवधान भय का जनक है। बस, इसी भय को दुःख कहते हैं। अन्तराय ही का नाम भय है, एवं भय का नाम ही दुःख है। इसीलिए तो पूर्व में-**'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति'**-यह कहा गया है। बात वास्तव में सच है। यदि हम आम चूसते रहते हैं-तो उनसे आनन्द आया करता है। अकस्मात् उस समय हमारे हाथ में से-आम को कोई दूर फेंक देता है तो उससे हमें दुःख होता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि आम के और हमारे बीच का जो अन्तर है-वही दुःखस्वरूप है। आम में अब भी आनन्द-मात्रा बैठी हुई है। अन्तर को हटा दीजिए-आम और आत्मा का संयोग कर दीजिए। देखिए-फिर वही आनन्द आने लगता है या नहीं। दुःख तो अन्तर का नाम है न कि आत्मा और भोग्य पदार्थ का। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तेनायमानन्दमयः स आत्मा तेनेदमानन्दमयं च भोग्यम्।
एकं पुरासीदुदरेऽन्तरे तु कृते भयं स्यात् तदवैति[1] दुःखम्" ॥१५८॥

सुखमय भोग्य पदार्थ के साथ-यदि सुखस्वरूप यह आत्मा तन्मय नहीं होता है अर्थात् आत्मा भोग्य के साथ नहीं मिलता है-दोनों मिलकर एकस्वरूप नहीं बनते हैं तो विशेषदोष के कारण उदर-बीच में अन्तर हो जाने के कारण उस भोग्य के साथ रमण नहीं कर सकता है। उस भोग्य से उसे

१ स्व० शास्त्री जी ने 'तदवैमि' पाठ किया है।

आनन्द नहीं मिल सकता है । बस, इसीलिए वह दुःखी हो जाता है । हमारी इच्छा है-हम नारङ्गी खायँ । परन्तु यदि इच्छानुसार नारङ्गी का हमारे साथ सम्बन्ध न हुआ, अपि तु, नारङ्गी के और हमारे आत्मा के बीच में व्यवधान रहा अर्थात् नारङ्गी हमारे से दूर रही–हमें न मिल सकी तो हम दुःखी हो जायँ–यह अनुभव सिद्ध बात है ।

नारङ्गी निदर्शन मात्र है । संसार के किसी भी भोग्य पदार्थ को ले लीजिए । यदि वह हमारे से अलग है–हम और वह दोनों मिले हुए नहीं हैं अपि तु, उसके और हमारे बीच में फासला है तो हम दुःखी हो जाएँगे । इससे सिद्ध होता है कि वह अन्तराय ही दुःखस्वरूप है । व्यवधान ही दुःख का मूल है, न कि आत्मा और भोग्यपदार्थ । दोनों को मिला दीजिए इच्छानुसार भोग्यपदार्थ का आत्मा से सम्बन्ध कर दीजिए । देखिए आनन्द आता है या नहीं ? संयोग में आनन्द है–वियोग में दुःख है । अन्तर दुःख है न कि आत्मा और भोग्य-पदार्थ । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सुखेन भोग्येन सुखोऽयमात्मा न संभवेदेकमयः क्वचिच्चेत् ।
विशेषदोषादुदरेऽन्तरे तु कृते न तस्मिन् रमते स दुःखी ॥१५९॥

हमने बतलाया है कि जहाँ चिरकाल तक यह आत्मा रह जाता है–वहाँ ममत्व के कारण थोड़े समय बाद यह वहीं रम जाता है । जो स्थान आने के समय बुरा लगता था–वही ममत्व के कारण अच्छा लगने लगता है । इस अच्छे-बुरे का प्रत्यक्ष यात्रा करते समय होता है । हम जब सफर करने लगते हैं तो–रेल में सवार होते हैं । सवार होते समय–डिब्बे के बिल्कुल खाली रहने पर भी–उसमें बैठे हुए दो–चार मनुष्य–'जगह नहीं है–जगह नहीं है'–चिल्लाने लगते हैं । हम उनके लिए नवीन विषय हैं । नवीन को देखकर दूर-दूर करना आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है । ज्ञानातिशय ही एकमात्र इस प्राकृतिक-स्वभाव का विरोधी है । अस्तु, उनके दूर दूर करने पर भी हम जबर्दस्ती उस डिब्बे में जा ही बैठते हैं । बस, दो–चार स्टेशन निकले कि वे हमारे साथ प्रेम करने लगते हैं–हम उनके साथ करने लगते हैं । आखिर वह प्रेम थोड़े समय के सहवास से ही ऐसा बढ जाता है–जिससे कि अलग होने पर हम दोनों को ही कुछ कष्ट प्रतीत होने लगता है । कहना इस दृष्टान्त से यही है कि चिरकाल तक एक स्थान पर रहते रहने से यह आत्मा तत्रस्थित पदार्थों में आसक्त हो जाता है–उन्हीं में रम जाता है । जो पदार्थ थोड़े समय पहले अच्छे मालूम नहीं होते थे– वे ही प्रिय मालूम होने लगते हैं । आते के साथ ही पदार्थ का सर्वात्मना हमारे साथ मेल नहीं होने पाता, अपि तु, कुछ कुछ अन्तर रहता है । ज्यों–ज्यों यह अन्तर दूर होता जाता है–त्यों–त्यों ही भोग्यपदार्थ आत्मा में अधिकाधिक मिलता जाता है । अन्त में थोड़े समय बाद ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि फिर उसके टूटने पर–उलटा दुःख मालूम होता है ।

वैज्ञानिक-तत्त्ववेत्ता पाश्चात्त्य जगत् राजनीति में इसी विज्ञान-नीति का उपयोग करता है । उसके वैज्ञानिक मस्तिष्क को मालूम है कि यदि किसी अधिकारी को तीन साल से अधिक एक स्थान पर रख दिया जाएगा–तो उस स्थान से एवं स्थानीय मनुष्यादिकों से वह प्रेम करने लगेगा । जहाँ

प्रेम हुआ कि स्वार्थपरायणता से बट्टा लगा-शासन प्रणाली बिगड़ी । अधिक समय होते ही उसमें प्रेम मात्रा प्रविष्ट हो जाती है । इस प्रेम के कारण पार्लियामेण्ट की राष्ट्र सञ्चालन के लिए जो नीति इसे सिखलाई जाती है-उसके पालन करने में इसकी हिम्मत नहीं पड़ती । क्योंकि प्रेम का बन्धन वास्तव में ऐसा ही है । प्रेम क्रूरता का-अत्याचार का विरोधी है, अतः आधुनिक राजनीति में तीन साल से अधिक कोई भी उच्चाधिकारी एक स्थान पर नहीं रह सकता । बतलाना हमें प्रकृत में यही है कि एक स्थान पर अधिक दिन तक रहने से आत्मा वहीं रम जाता है । यदि उसे वहाँ से छुडा दिया जाता है-अथवा-कारणवश स्वयं उसे वह स्थान छोडना पड़ता है तो दुःख होता है । आखिर थोड़े दिन बाद उस दुःख को भूल जाता है एवं पूर्व के भोग्यों की तरफ से इसकी तबियत हट जाती है ।

यह बहिष्कृत जो आत्मा दुःख पाकर पूर्व के स्थान से अलग हुआ था वही आत्मा यदि कारणवशात्-फिर उसी स्थान में आ जाएगा तो आने के साथ ही वहाँ यह रमण-क्रिया में सर्वथा असमर्थ रहेगा । यहाँ यह पहले रह गया था, इसलिए जाते ही इनके साथ प्रेम हो जाना चाहिए-यह बात हर्गिज नहीं हो सकती है । जैसे पहली अवस्था में वहाँ तबियत लगने में अर्सा लगा था तद्वत्-वापस लौटने के बाद फिर उसी स्थान पर जाने पर तबियत लगने में उतना ही समय लगेगा । उतना न सही परन्तु सद्यः तो फिर भी इसकी तबियत वहाँ नहीं लग सकती । क्रम क्रमशः-उस भोग्य समूह में ममत्वयोग से व्याप्त होता हुआ रमता है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि जिस स्थान को यह आत्मा छोडकर आया है एवं जिसे छोडने पर इसे दुःख का अनुभव हुआ है, उसी स्थान पर यह आत्मा यदि फिर आ जाएगा तो इसकी एकाएक तबियत न लगेगी । फिर भी क्रम से ही इसकी उनमें ममता होगी एवं क्रम से ही वहाँ इसकी तबियत लगेगी । इससे सिद्ध होता है कि आत्मा और भोग्य-दोनों आनन्दमय हैं । दुःख तो व्यवधान का नाम है । अन्तर ही दुःख का कारण है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बहिष्कृतस्त्वेष पुनः प्रदेशे यत्रैव गच्छेन्न रमेत सद्यः ।
अथ क्रमाद् भोग्यकुले स आत्मा ममत्वयोगाद्विभवन् रमेत" ।।१६०।।

आत्मा और भोग्य के सम्बन्ध से जो एक आनन्द आता है-इसमें आत्मानन्द और भोग्यानन्द दोनों शामिल हैं । केवल आत्मा के ही अपने प्रातिस्विक आनन्द का ही अनुभव नहीं होता । अनुभव होता है-विषयानन्द का-भोग्यानन्द का । भोग्य-आत्मसम्बन्ध से होने वाले आनन्द में-दोनों ही का आनन्द शामिल है, अतः इस आनन्दानुभव में केवल आत्मनीन आनन्द ही कारण नहीं है । इसमें सबसे बडा प्रमाण इसके आनन्द की व्यापकता ही है । आत्मानन्द अविशेषस्वरूप है, अर्थात् व्यापक है, अतएव विना भोग्यानन्द के केवल आत्मानन्द सुख का कारण नहीं बन सकता । जैसे-ज्ञानानुभव में विषयों की कारणता है । विना विषयों के-ज्ञान का अनुभव ही नहीं होता तद्वत्-विना भोग्यानन्द के आनन्द का अनुभव नहीं होता । अनुभव परिच्छिन्न वस्तु का होता है । आत्मानन्द अपरिच्छिन्न है-उसका अनुभव नहीं होता । सुषुप्ति अवस्था का जो आनन्द है-वही आत्मानन्द है । उसका अनुभव थोड़े ही होता है । हो कैसे ? जब कि सुषुप्ति में वह सर्वविषय विनिर्मुक्त-अतएव स्वानन्द में अपीत रहता है । इससे

मानना पड़ता है कि आत्मा की तरह भोग्यवर्ग भी आनन्दस्वरूप ही है। यदि उसमें आनन्द न होता तो दोनों के मेल होने पर भी आनन्द न आता। चूंकि आनन्द आत्मा और भोग्य अर्थात् ईश्वर (अव्यय का क्षरभाग) और चित्य (विकारक्षर) दोनों में है–दोनों ही आनन्दस्वरूप हैं–यह आनन्द सर्वत्र व्याप्त है, अतएव 'आनन्द' को भूमा कहा जाता है अर्थात् व्यापक कहा जाता है। इसी भूमा को सुख कहते हैं। इसीलिए श्रुति कहती है—

"यो वै भूमा तद्वै सुखं यदल्पं तद् दुःखम्" ॥[1]

तात्पर्य्य यही है कि आत्मा और भोग्य पदार्थों के सम्बन्ध से एकीभाव से–जो आनन्द आता है–जिस आनन्द का अनुभव होता है–वह आनन्द केवल आत्मनीन ही नहीं माना जा सकता। अनुभूत आनन्द आत्मा का अपना प्रातिस्विक आनन्द ही नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मानन्द तो व्यापक है, यदि उसी को आनन्द-स्वरूप माना जाएगा एवं भोग्य को आनन्द-स्वरूप न माना जाएगा तो व्यापकत्वात् इसका अनुभव ही नहीं होगा–तब तो किसी को आनन्द ही न आयेगा परन्तु आता है। भोग्य-सम्बन्धात् आपामर को–आबालवृद्ध को आनन्द का अनुभव होता है, अतएव मानना पड़ता है कि आत्मा की तरह भोग्यवर्ग भी अवश्य ही आनन्दमय है। चूंकि आनन्द से कोई स्थान खाली नहीं है, अतएव इस आनन्द को–इस सुख को वैदिक-परिभाषा में 'भूमा' कहा जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न केवलं तत्सुखमात्मनीनं तस्याविशेषादसुखाप्रसङ्गात् ।
आत्मेव तस्मादिह भोग्यवर्गोऽप्यानन्द एवेति मतः स भूमा ॥१६१॥

——❀——

५–आत्मभिन्नानामानन्दमयत्वे पूर्वोत्तरपक्षौ ।

आत्मभिन्न (भोग्यपदार्थों) के आनन्दमयत्व में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष—

पूर्व प्रकरण से सिद्ध होता है कि आत्मा भी आनन्दमय ही है एवं विषय भी आनन्दमय ही है। दोनों का जब एकीभाव होता है तो भोग्यानन्द का अनुभव होता है एवं दोनों का जब अन्तर हो जाता है तो इस व्यवधानस्वरूप दुःख से आत्मा दुःखी हो जाता है। दुःख आत्मा और भोग्य से पृथक् वस्तु है–व्यवधान-स्वरूप है। आत्मा और भोग्य तो दोनों ही आनन्दमय हैं। बस, इसी पर कई दार्शनिक पूर्वपक्ष करते हैं—

आत्मा आनन्दमय है–इसको तो वे स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु भोग्यवर्ग भी आत्मा की तरह ही आनन्दस्वरूप है–यह बात वे मानने के लिए तय्यार नहीं। उनका कहना है कि आनन्दमय तो

१ छान्दोग्योप० ६।२३।१ ।

केवल आत्मा ही हो सकता है। आत्मा से अतिरिक्त जो भोग्यपदार्थ हैं-वे कथमपि आनन्दमय नहीं हो सकते। घट, पट, पर्वत, अन्न, औषधि, बनस्पति-इत्यादि जो भोग्यपदार्थ हैं-वे आनन्दमय कैसे माने जा सकते हैं? भोग्य पदार्थ आनन्दस्वरूप प्रतीत होते हैं-इसका कारण दूसरा है। हमारा आत्मा आनन्द-स्वरूप है। इसमें से चारों ओर बडी दूर तक सूर्य्यरश्मिवत् किरणें निकलती हैं। बस, इन आनन्दरश्मियों में चूंकि भोग्यपदार्थ आ जाते हैं, अतएव वे आनन्दवत् प्रतीत होते लगते हैं। आत्मा के आनन्द से ही-आनन्दरहित भी विषय प्रिय लगने लगता है-इसमें क्या नहीं दृष्टान्त है? एक सूखा हड्डी का टुकड़ा-जिसमें मांस का अंश भी नहीं है-कुत्ता कहीं से उठा लाता है। लाकर एकान्त-स्थान में जाकर उसे इस लगन के साथ चूसा करता है कि मानों इसे त्रिभुवन की सम्पत्ति मिल गई हो। सब जानते हैं-वह सूखी हड्डी है-उसमें कुछ भी आनन्द नहीं है। आनन्द है तो यह है कि जरा असावधानी करने से कुत्तेजी के दांत और टूट जाएँ। ऐसी आनन्दशून्य हड्डी को भी कुत्ता कितने आनन्द के साथ चाटा करता है। यदि उससे-वह हड्डी दूर करदी जाती है तो-वह कितना व्याकुल होता है-इस बात को अनुभव-रसिक ही जान सकते हैं। निरानन्द भी हड्डी में आनन्द आने का एक-मात्र कारण-श्वान का आत्मानन्द है। कुत्ते के आत्मा की जो आनन्द रश्मियां हैं-वे उस हड्डी पर व्याप्त हो जाती हैं, अतएव हड्डी आनन्दवत् प्रतीत होने लगती है। वास्तव से हड्डी में-अर्थात् भोग्य में आनन्द नहीं है। आनन्द आत्मा का धर्म्म है-न कि भोग्य का। जब तक भोग्य-पदार्थ आत्मा-नन्द रश्मियों के भीतर रहता है-तब तक वह भोग्य प्रिय मालूम होता रहता है एवं जब वह आनन्द-रश्मियों से बाहर निकल जाता है तो वह भोग्य अपनी हालत में आ जाता है। बस, इसी प्रकार हमें जिन भोग्यपदार्थों से आनन्द आता है-उसमें भी यही कारण समझना चाहिए। हम उन भोग्यपदार्थों को अपने आत्मीय आनन्द की किरणों से अभिव्याप्त देखते हैं, अतएव वे अर्थ हमें आनन्दस्वरूप अर्थात् प्रिय मालूम होने लगते हैं। मेरा जो प्रिय अर्थ है-मुझे जो अर्थ प्रिय लगता है-इसमें आत्मीयआनन्द-अंश की व्याप्ति ही कारण है। उस प्रिय अर्थ में आत्मीयानन्द रश्मियों को ही व्याप्त देखते हैं। उन्हीं के कारण वह आनन्द रहित भी भोग्य प्यारा मालूम होने लगता है। आत्मानन्द ही भोग्य पदार्थों के प्रिय मालूम होने में हेतु है। आनन्दमय आत्मा ही है-न कि भोग्यवर्ग। भोग्य तो आत्मानन्द की रश्मियों के पेट में आ जाने के कारण अच्छे मालूम होने लगते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथाहुरानन्दमयोऽयमात्मैवान्येतु भोग्या न तथा स्युरेते।
आत्मीयमानन्दमयांशुमेवाभिव्याप्तमीक्षे मम तु प्रियेऽर्थे" ॥१६२॥

अर्थात्-मेरा जो प्रिय अर्थ है अर्थात् मुझे जो भोग्यपदार्थ प्यारे लगते हैं-उनमें आत्मीय आनन्दमय अंशु को ही अभिव्याप्त देखता हूँ। अर्थात्-आत्मानन्द की रश्मियों के पेट में आ जाने के कारण ही वे अर्थ प्यारे मालूम होने लगते हैं, वस्तुतः स्वरूप से भोग्य-पदार्थ आनन्दमय नहीं हैं। आत्मानन्द रश्मियों से ही भोग्य आनन्दस्वरूप प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः स्वरूप से-भोग्य आनन्दस्वरूप नहीं है ॥१६२॥

आत्मानन्द रश्मियों से ही भोग्य आनन्दस्वरूप प्रतीत होने लगता है- वस्तुतः भोग्यस्वरूप से आनन्दस्वरूप नहीं है । जो मनुष्य हम से द्वेष करता है एवं हम जिससे द्वेष करते हैं, चूँकि हम दोनों में परस्पर आत्मानन्दरश्मियों का सम्बन्ध नहीं होता अतएव न वह हमें प्यारा लगता है एवं न हम उसे प्यारे लगते हैं । उसकी आनन्द-रश्मियों के पेट में जब हम चले जाते तो-उसे हम प्रिय मालूम होते एवं हमारी आनन्दरश्मियाँ जब उस पर व्याप्त हो जाती तो-वह हमें प्रिय लगता । चूँकि न उसकी आनन्दरश्मियों में हम हैं एवं न वह हमारी आनन्दरश्मियों में है, अतएव न वह हमें अच्छा लगता है-न हम उसे अच्छे लगते हैं । हमें विचार हमारी ओर से करना है । हम जिसे अपना शत्रु समझते हैं-जो हमें आँखों आया लगता है-जिस भोग्यवस्तु से हम घृणा करते हैं-इसका एकमात्र कारण-आनन्दरश्मियों की व्याप्ति का अभाव है । वह भोग्यवस्तु चूँकि हमारी आनन्दरश्मियों में नहीं है-वहाँ उस पर हमारे आनन्दांशु नहीं जाते हैं, अतएव वह हमें अच्छी नहीं लगती । दृष्टान्त इसमें पीलिया का रोगी ही है । जिसके नेत्रों में-पीलियारोग हो जाता है उसके नेत्रों की जो रश्मियाँ हैं-वे भी दोषवशात् पीली ही निकलती हैं, अतएव उन किरणों में आया हुआ स्वच्छ से स्वच्छ भी पदार्थ पीला ही दिखलाई पड़ता है । शंख अतिसफेद है-उसमें पीलिया का अंश भी नहीं है, परन्तु चूँकि वह शंख हमारे नेत्रों की पीतरश्मियों में आया हुआ है, अतएव सफेद भी पीला ही दीख रहा है । कहने का तात्पर्य्य यही है कि दोषदृष्टि से अर्थात् पीलिया वगैरह दोषयुक्त आँखों से देखा हुआ पदार्थ जैसे दुष्ट ही अर्थात् पीला ही मालूम होने लगता है-बस, तद्वत् ही आनन्दस्वरूप आत्मा की आनन्दरश्मियों में आने वाला निरानन्दस्वरूप भी भोग्यपदार्थ आनन्दमय प्रतीत होने लगता है । नेत्र की पीली रश्मियों से पीत भी शंख स्वस्वरूप से सदा जैसे सफेद ही रहता है तद्वत् आनन्दरश्मियों की व्याप्ति के कारण आनन्दस्वरूपयुक्त प्रतीत होते हुए भी भोग्यपदार्थस्वस्वरूप से आनन्दरहित ही है । बतलाना-इस प्रपञ्च से हमें यही है कि भोग्यपदार्थ-सम्बन्धेन जो आनन्द आता है-वह आत्मानन्द है । आनन्द आत्मा का हिस्सा है-न कि भोग्यपदार्थ का । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विद्वेष्टि योऽस्मानथ यं वयं वा द्विष्मो न नस्तत्र तथांशुरेति ।
न स प्रियस्तेन सदोषदृष्टया दृष्टः प्रदुष्टः प्रतिभाति दृग्वत्" ॥१६३॥

अपि च-आत्मा ही आनन्दस्वरूप है । आत्मानन्द से ही भोग्य-पदार्थ आनन्दमय मालूम होने लगता है । इसमें एक सबसे बडा भारी प्रमाण और है जिससे आपको अवश्य ही भोग्य को निरानन्द-स्वरूप ही मानना पड़ेगा । वह कारण यही है कि मृत्यु के मुख में अतिशीघ्र ही प्रविष्ट होने वाला-मूर्च्छा को प्राप्त होता हुआ अर्थात् मूर्च्छित होता हुआ-अखिलविश्व को देखता हुआ निरानन्दभाव को प्राप्त हो जाता है । मूर्च्छा से पहले-जब इस आत्मा की उन पदार्थों पर नजर पड़ती है तो-वे सारे पदार्थ एकदम फीके मालूम होने लगते हैं । मृत्यु के कुछ क्षण पहले-जब कि आँख मिचने में भी कुछ मिनट ही बाकी रहते हैं-इस आत्मा को स्त्री, पुत्र, धन, दौलत, पशु-इत्यादि-इत्यादि सारा प्रपञ्च फीका मालूम होने लगता है । फीका ही मालूम नहीं होता है-इन्हें देख-देख कर इसे कष्ट और होता है । इसका एकमात्र कारण आत्मानन्द का लीन होना है । चूँकि मरने से कुछ पहले आनन्दादिसारीमात्राएँ

एकत्र हो गायबगुला हो जाती हैं, अतएव आनन्दाभावात् ही उस समय सारे पदार्थ-सारा कुटुम्ब फीका मालूम होने लगता है। आत्मानन्द की रश्मियों में आ कर के ही तो विषय-धन-पुत्र-स्त्री आदि भोग्य-पदार्थ अच्छे लगा करते हैं। जब आत्मानन्द ही नहीं तो फिर भोग्य पदार्थ प्रिय कैसे लगें ?

कहना प्रकृत में यही है कि मुमूर्षुरात्मा (जिसके मरने की आशङ्का है) मूर्च्छा को प्राप्त होता हुआ-सब को देखता हुआ निरानन्दभाव को प्राप्त हो जाता है। अर्थात्-अन्तिम समय में-आत्मानन्द के लीन हो जाने के कारण इसे सारा भोग्य प्रपञ्च फीका मालूम होने लगता है। इसीलिए मानना पड़ता है कि आत्मा से अतिरिक्त जितने भी भोग्यपदार्थ हैं-वे आत्मानन्दमय किरणों से ही आनन्दमय प्रतीत होते हैं। भोग्यपदार्थों पर व्याप्त आत्मानन्द रश्मिएँ ही उनके प्रिय लगने का एकमात्र कारण है। यदि भोग्य भी आनन्दस्वरूप होते तो अन्तसमय में भी वे क्यों फीके लगते ? अतः आनन्दमय आत्मा ही है-एवं आत्मा से अतिरिक्त जितने भोग्य हैं-वे आनन्दमय हर्गिज-हर्गिज नहीं हो सकते-यह सिद्धान्त समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मूर्च्छां प्रयन्नेष मुमूर्षुरात्मा पश्यन्निरानन्दमुपैति सर्वम्।
तस्मान्निजानन्दमयांशुयोगादेव स्युरानन्दमयाः परेऽर्थाः" ॥१६४॥

आत्मा और भोग्य-दोनों ही आनन्दमय हैं। इन दोनों का जो अन्तराय है, वही दुःख का कारण है। कारण क्या है- वही दुःख है। चौथे सूत्र द्वारा बतलाए गए इस सिद्धान्त पर वादी का यही पूर्वोक्त पूर्व पक्ष है। वादी का कहना है कि आनन्दमय आत्मा ही हो सकता है-न कि भोग्य-पदार्थ। भोग्य-पदार्थ आनन्दाभावयुक्त होने पर भी जो आनन्दमय प्रतीत होने लगते हैं-इसमें आत्मानन्द की रश्मिएँ ही कारण हैं। चूंकि भोग्य-पदार्थ आत्मानन्द-रश्मियों में आ जाते हैं, अतएव सदोषदृष्टया दुष्टशंखवत् आनन्दाभावयुत भी भोग्य-पदार्थ आनन्दमय प्रतीत होने लगते हैं। बस, ऐसे-ऐसे तर्कों द्वारा वादी हमारे उभयानन्दसिद्धान्त पर आक्षेप करता है। हमें इस आक्षेप के विषय में अधिक कुछ नहीं कहना। पदार्थविद्या के न जानने से-वैज्ञानिक दृष्टि से पदार्थों को न देख कर मोटी बुद्धि से पदार्थों पर नजर डालने से इन आनन्दादिसूक्ष्मभावों के दर्शन नहीं हो सकते। आत्मा से विजातीय यदि भोग्यसमष्टि होती तो-अवश्य ही उसे (विश्व को) आनन्द की लाइन से गिराया जा सकता था। जबकि आत्मा ही अपने एक अंश से भोग्यस्वरूप में परिणत होता है-द्रष्टा ही दृश्य बनता है-तो फिर दृश्यजगत् (भोग्यपदार्थ) क्यों कर द्रष्टा से विजातीय हो सकता है ? 'आत्मा आनन्दस्वरूप है'-इसका प्रतिपादन करती हुई श्रुति जैसे-**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**[1]-यह कहती है, तद्वत् भोग्यजगत् के विषय को भी आनन्दमय बतलाती हुई श्रुति कहती है-**'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**[2]। द्रष्टा आनन्दघन है-ज्ञानघन है, अतएव तेजस्वी पदार्थ है। सूर्य्य-चन्द्रमादि तेजस्वी पदार्थों को भी यही आत्मज्योति प्रकाशित करती है, अतएव यह तो ज्योतिष्मानों से भी श्रेष्ठ ज्योति है। जो ज्योतिष्मान् पदार्थ होते हैं, वे स्वभाव से ही ग्राहक और ग्राह्य-अपनी ये दो संस्था बनाते हैं। इसीलिए भर्तृहरि कहते हैं—

१ तैत्ति० उप० २।१।१। २ बृहदा० उप० ३।९।२८।

"ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते"* ॥[1]

इन सारे विषयों का प्रपञ्च हम इसी ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में करने वाले हैं, अतः इसे यहीं छोडते हैं। यहाँ दूसरा विवाद खड़ा न कर केवल इतना ही बतलाना है कि जैसे आत्मा आनन्दस्वरूप है, तद्वत् आत्मा का भोग्यप्रपञ्च भी आनन्दमय ही है।

रह जाता है–आपका इस विषय में एक प्रश्न। वह प्रश्न यही है कि भोग्य अर्थ जब तक आत्मा की रश्मियों में रहता है, तभी तक वह अच्छा लगा करता है। जब वह आत्मरश्मियों से बाहर निकल जाता है तो फीका मालूम होने लगता है, अतएव मानना पड़ता है कि भोग्यपदार्थ स्वस्वरूप से निरानन्द ही है? हम कहते हैं कि यदि इस प्रश्न का उत्तर हो जाएगा तब तो आप भोग्य को आनन्दमय मान लेंगे। अच्छा तो सुनिए–इसका उत्तर–देवदत्त नाम का एक व्यक्ति हमारे से घोर शत्रुता रखता है–हमारे से शत्रुता करता हुआ यह देवदत्त अवश्य ही हमारी ही तरह आनन्दपूर्ण है–यह आपको अवश्य ही मानना पड़ेगा। जैसे हम आनन्दपूर्ण हैं, तद्वत् हमारे से शत्रुता करने वाला देवदत्त भी तो आत्मतया आनन्दपूर्ण ही है। इस प्रकार हमारे से शत्रुता करने वाले हमारी ही तरह आनन्दपूर्ण इस देवदत्त की–आनन्दमात्रा की जैसे प्रतीति नहीं होती, तद्वत् भोग्य अर्थ की जो आनन्दमात्रा है–उसका हमें भान नहीं होता। हमारी तरह ही देवदत्त भी आनन्दपूर्ण ही है–इसमें तो आपका विवाद चल ही नहीं सकता। अवश्य ही हमारी तरह उसे भी पूर्णानन्द ही मानना पड़ेगा। बस, यदि उसे आपने पूर्णानन्द मान लिया तो हमारा काम हो गया। वह हमारे से शत्रुता करता है–हम उससे शत्रुता करते हैं। इसीलिए न वह हमें अच्छा लगता है–न हम उसे अच्छे लगते हैं। एक को देख कर दूसरा जल मरता है। तो बस, मौजूद रहने वाले देवदत्त के पूर्णानन्द का अन्तरवशात् जैसे हमें भान नहीं होता तद्वत् भोग्य अर्थ में मौजूद रहने वाले भी आनन्दमयत्व का अन्तरवशात्–व्यवधानात्–हमें अनुभव नहीं होता तो क्या इससे भोग्य का आनन्दमयत्व कट गया? हर्गिज नहीं। आत्मावत् भोग्य को भी अवश्य ही आनन्दमय मानना पड़ता है। आपके प्रश्न का उत्तर हो चुका। अब आपको अवश्य ही–आत्मावत् भोग्य-पदार्थ को भी आनन्दमय मान लेना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अत्रोच्यते यद्वदयं द्विषन्नोऽप्यानन्दपूर्णोऽहमिवास्ति किन्तु।
नानन्दमात्रास्य विभाति तद्वद् भोग्योऽर्थ आनन्दमयो न भाति" ॥१६५॥

जिस प्रकार यच्चयावत् जीव आनन्दमय हैं तथैव यच्चयावत् भोग्य-पदार्थ भी आनन्दमय ही हैं। आनन्दमय सब हैं–परन्तु भोग्यपदार्थ-प्रिय तब लगते हैं जब कि द्रष्टा और दृश्यानन्द दोनों एक हो जाते हैं। आत्मानन्द और भोग्यानन्द–जब दोनों मिलकर एक स्वरूप हो जाते हैं, तभी आनन्द

---

*'पृथगिवेति' पाठान्तर   १ वाक्यपदीय १।५५।

का अनुभव होता है-भोग्य पदार्थ तभी प्रिय मालूम होते हैं। आनन्द दोनों के एकीभाव में है। जब दोनों के एकीभाव में एकीभाव को नष्ट करने वाला कोई अन्तराय आ जाता है तो ऐसी हालत में भोग्य के आनन्दस्वरूप का भान नहीं होता। तात्पर्य्य यही है कि जैसे सारे जीवात्मा आनन्दमय हैं, तद्वत् सारे भोग्यपदार्थ भी आनन्दमय ही हैं। प्रविष्ट द्वारा सृष्टब्रह्म भी आनन्दमय ही है। परन्तु यह सारा भोग्यप्रपञ्च प्रिय तभी लगता है अर्थात् भोग्य के आनन्दमयत्व का अनुभव तभी होता है- जबकि दोनों का आनन्द मिलकर एकस्वरूप में परिणत हो जाता है। जैसाकि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"जीवा यथाऽऽनन्दमया अशेषास्तथैव भोग्या अपि सर्व एते।
प्रियस्तु सर्वोपि स [1]दृष्टिदृश्यानन्दद्वियोगेन तदेकतायाम्" ॥१६६॥

भोग्यानन्द का अनुभव दोनों के मेल में है-यही तात्पर्य्य है ॥१६६॥

जिस आत्मा को हम दुःखसुखभोक्ता बतला रहे हैं-वह क्षरात्मा है-उसी का नाम प्रज्ञानात्मा है- यह हम दूसरे सूत्र में बतला आए हैं। अव्यय,अक्षर,क्षर-इन तीनों में से जो अव्यय है-वह तो अखण्ड है- अद्वितीय है, अतः इच्छादिधर्म्मशून्य है। जो वस्तु व्याप्य होती है-उसमें इच्छा हुआ करती है। व्याप्य अपने परिच्छेद को तोड़ने के लिए इच्छा करता रहता है। जीवात्मा जो कि प्रज्ञानात्मा किंवा क्षरात्मा नाम से प्रख्यात है-परिच्छिन्न है-सकल है, अतएव इसमें उस परिच्छेद को तोड़ने की इच्छा हुआ करती है। इच्छा ही का दूसरा नाम है-काम। इच्छा ज्ञान से उत्पन्न होती है। ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है- मन, अतएव ज्ञान और मन को एक पार्ट की चीज समझनी चाहिए। इच्छा के होते ही एक आन्त- रव्यापार होता है-जो कि तप नाम से व्यवहृत होता है। इसी को 'यत्न' भी कहा करते हैं। इस तप के बाद में वाग्व्यापार होता है। वाक् कहते हैं-भूत को। हाथ-पैर वगैरह चूंकि भूतसमष्टि है, अतएव हम इन्हें 'वाक्' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। हाथ का किंवा अंगुली का जो हिलना है-वह 'श्रम' कहलाता है। श्रम बल को कहते हैं। बल ही को वाक् कहते हैं। वस्तुतः वाक् नाम आकाश का है। चूंकि वही ग्रन्थिबन्धन द्वारा चारों भूतों में परिणत हो जाता है, अतएव भूतसामान्य को 'वाक्' कह दिया जाता है। इसी का नाम है-बल। मन और प्राण अर्थात् अव्यय और अक्षर-ये दो तो आत्मकोटि में चले जाते हैं। इसी मन-प्राणमय आत्मा से आकाशादिभूत अर्थात् वाक् उत्पन्न होती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

**"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः।
वायोरग्नि:। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी-इति"। [2]**

१ स्व. शास्त्री जी ने 'दृष्टि' की जगह 'द्रष्टृ' पाठ किया है।
२ तैत्ति० उप० २।१।

आकाश से पृथिवी तक के भूत 'वाक्' नाम से व्यवहृत होते हैं। उस मन-प्राणमय आत्मा की अवधि वाक् पर समाप्त होती है। वहाँ तक आत्मा की व्याप्ति रहती है, अतएव-आत्मा के लिए-यह कहा जाता है—

"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" [1]

सारा प्रपञ्च-ज्ञान क्रिया-अर्थ-इन्हीं तीन सीगों में बँटा हुआ है। इन तीनों का विस्तृत विवेचन पूर्व के **'जीवेश्वरखण्ड'** में कर दिया गया है। ज्ञान का उत्पादक मन है, क्रिया का उत्पादक प्राण है एवं अर्थ का उत्पादक वाक् है। मन, प्राण, वाक् ही-ज्ञान, क्रिया, अर्थ (घटपटादि) के जनक हैं। जो ज्ञान है-वही इच्छा का जनक है। क्रिया ही तप की जननी है एवं अर्थ (भूत) ही श्रम का जनक है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ से ही इच्छा-तप-श्रम उत्पन्न होते हैं। हम अंगुली हिलाते रहते हैं, तो उसमें-ये तीनों पार्ट मौजूद रहते हैं। पहले इच्छा होती है कि 'अंगुली' उठावें सबसे पहले ज्ञान से इस इच्छा का उदय होता है। बाद में इच्छानुकूल अन्तर्व्यापार होता है-जो कि स्वानुभवैकगम्य है-एवं कृति नाम से प्रसिद्ध है। बस, इस कृति के अनन्तर ही अंगुली उठ पड़ती है-अर्थात् श्रम हो जाता है। वाग्व्यापार होने लगता है। संसार में जो भी क्रिया देख रहे हो-समझलो उसमें प्राणव्यापार हो रहा है, क्योंकि विना प्राणव्यापार के आर्थात् तप के क्रिया अर्थात् श्रम हो ही नहीं सकता एवं साथ ही में यह भी समझलो कि इस क्रियामय पदार्थ के केन्द्र में इच्छा भी अवश्य ही काम कर रही है। क्योंकि विना इच्छा के तप नहीं हो सकता। तीनों अन्योन्याविनाभूत हैं। जब तीनों का कार्य्य हो जाता है-तभी कोई नई चीज उत्पन्न होती है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म्म तदेतत्कृतमुच्यते",।।

परन्तु ध्यान रहे-ये तीनों ही धर्म्म क्षर-प्रजापति के हैं। जो कि सप्तपुरुषपुरुष कहलाता है एवं जिसे कि हम अपने शरीर में प्रज्ञानात्मा नाम से व्यवहृत करते हैं। इच्छा, तप, श्रम ही से-ईश्वरस्थ क्षर-प्रजापति सारी सृष्टियों का निर्म्माण करता है अतएव सृष्टिप्रतिपादिका श्रुति में-बारबार-**'प्रजापतिर्ह वाऽइदमग्र एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत-सो-ऽश्राम्यत्'**-यह लिखा रहता है। इच्छा, तप और श्रम-ये तीनों अविनाभूत तत्त्व हैं। इन्हीं से नई चीज पैदा होती है। इसीलिए-**ऐक्षत-तपोऽतप्यत-सोऽश्राम्यत्**-यह कहा जाता है। सम्पूर्ण प्रपञ्च से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि इस प्रज्ञानात्मा के इच्छा-तप और श्रम-ये तीन धर्म्म हैं। इन तीनों में काम पहले होता है। कामानुसार तप होता है अर्थात् प्राणव्यापार होता है एवं तदनुकूल

---

१ शत० ब्रा० १४।४।३।१०।

श्रम होता है। यह काम अर्थात्-इच्छा आत्मा के अंशु ही हैं। आत्मा से बाहर निकलने वाले जो अंशु (किरण) हैं-उन्हीं का नाम काम है। बाहर के पदार्थों की कामना इन्हीं रश्मियों से होती है, अतएव इन्हें इच्छा किंवा 'काम शब्द से व्यवहृत करते हैं। बस, बाहर निकलते हुए इस काम से यह आत्मा, पुरोऽवस्थित जो भोग्यपदार्थ है-उसमें अंशरूप से (भक्त्या) जाकर उसके साथ युक्त हो जाता है। तात्पर्यार्थ समझने के लिए कल्पना कर लीजिए-सामने कोई वस्तु रक्खी हुई है। बस, उस पुरोऽवस्थित वस्तु पर हमारी आत्मा की किरणों का जिन्हें कि इच्छा शब्द से व्यवहृत करते हैं-आक्रमण होता है। आत्मा इच्छा द्वारा स्वांश से उस वस्तु के साथ युक्त हो जाता है। आत्मा का किरणरूप से कुछ हिस्सा ही विषय पर आक्रमण करता है-अवशिष्ट केन्द्र में ही रहता है, अतएव **-भक्त्या उपसृप्य**-यह कहा गया है। बस, उस विषयानन्द के साथ यह आत्मानन्द इच्छा द्वारा मिल जाता है, अतएव वह विषय (वह भोग्य वस्तु) प्रिय लगने लगता है। आत्मानन्द और विषयानन्द-दोनों के मेल से आनन्दानुभव होता है-जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में बतला दिया गया है। यहाँ पर हमें यही बतलाना है कि जो आत्मा शास्त्र में निष्काम, बेलाग, दुःख-सुखरहित बतलाया जाता है-वह अखण्डात्मा के अभिप्राय से समझना चाहिए। अखण्डात्मा अवश्य ही निष्काम है-निष्कल है-निरञ्जन है, अतएव सुख-दुःख-जरा-मोह-शोकादि से रहित है। परन्तु यह क्षर आत्मा तो अवश्य ही सकाम है-सुख-दुःखभोक्ता है। है वास्तव में यह भी वही। परन्तु चूँकि बलग्रन्थिबद्ध हो जाता है-भूतसूक्ष्मों से संपरिष्वक्त रहता है, अतएव इसमें इच्छा-तप-श्रमादि धर्म्म उत्पन्न हो जाते हैं। यदि यह प्रज्ञानात्मा (क्षरात्मा) कामादि धर्म्मयुक्त न होकर अकाम होता तो फिर संसार में कोई भी भोग्य इसे अच्छा न लगता। परन्तु जबकि यह भोग्यों से आनन्द प्राप्त करता है-इसे संसार के भोग्यपदार्थ प्रिय मालूम होते हैं तो ऐसी अवस्था में इसे अवश्य ही 'सकाम' मानना पड़ता है। आत्मा की बाहर निकलती हुई किरणों का नाम ही 'काम' है। ये किरणें जब विषयानन्द के साथ मिलती हैं-तभी आनन्द आता है। इस प्रकार भोग्यपदार्थ प्रिय लगा करते हैं-यह अनुभवसिद्ध बात है एवं यह प्रियभाव विना आत्मा और विषय के मिले उत्पन्न हो नहीं सकता है एवं यह मिलना तब तक नहीं हो सकता-है जब तक कि इसके अंशु बाहर निकलने वाले न मान लिए जाएँ। चूँकि विषय प्रिय लगते हैं, अतः बाध्य होकर आत्मा को सकाम मानना पड़ता है। यदि यह क्षरात्मा भी अव्ययवत् किंवा अक्षरवत् अकाम ही होता तो फिर कोई भी भोग्य पदार्थ प्रिय मालूम न होता।

तात्पर्य्य यही है कि जो आत्मांशु है-वही 'काम' कहलाता है। इस अपने अंशु से आत्मा पर-विषय में अंशात्मना आक्रमण कर उसके पास जा, उसमें आसक्त हो जाता है। अर्थात्-आत्मानन्द और भोग्यानन्द-दोनों परस्पर मिल जाते हैं। इसीलिए द्रष्टा, दृश्य-दोनों के मिलने के कारण ही वह भोग्य पदार्थ प्रिय मालूम होता है। यदि यह आत्मा अकाम होता तो कोई भी भोग्य पदार्थ इसका प्रिय न होता। परन्तु होता है, अतएव मानना पड़ता है कि यह आत्मा सकाम है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कामोऽयमात्मांशुरनेन कामेनात्मा परस्मिन्नुपसृप्य भक्त्या ।
आसज्यते तेन च स प्रियः स्यान्नास्य प्रियः कोपि सचेदकामः" ।।१६७।।

जब तक यह आत्मा (प्रज्ञानात्मा) सकाम रहता है-तब तक इसे 'परिच्छिन्न' रहना पड़ता है। कामना जब तक है-तब तक आत्मा बद्ध है। यदि कामना का परित्याग यह आत्मा कर देता है तो- **'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्'**-के अनुसार शरीर में रहता हुआ भी मुक्त ही रहता है। कामना के परित्याग से वासना नहीं होती। कामनापूर्वक जो कर्म्म किया जाता है-तो उससे जो अनुभवायित संस्कार होता है-वह 'वासना' कहलाती है। वह कर्म्म ठप्पे की बतौर उस प्रज्ञान पर बस जाता है। बस, यही खराबी पहुँचाता है। वासना ही बन्धन में डालती है। यदि वासना नहीं है तो बन्धन भी नहीं। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि यदि तुम कर्म्म करते हुए भी बन्धन में नहीं पड़ना चाहते हो तो कामना छोड दो। संग छोड दो—

"ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः" ।[1]

—यही भगवान् का उपदेश है। बस, कामनाओं की अपेक्षा न रख कर जो यह आनन्दस्वरूप आत्मा है-यह अखिलविश्व के आनन्दमय पदार्थों से एकीभूत हो कर सारे विश्व ही को आनन्दमय देखने लगता है। **'आत्मैवानन्दः'** **'विश्वमेवानन्दम्'**- इस प्रकार दोनों जगह 'एव' पद दिया गया है। इसका मतलब यही है कि जो कामनापूर्वक-आसक्तिपूर्वक विषयों से सम्बन्ध करता है-उसका आत्मा दुःखी भी हो जाया करता है। काम छोड देने पर फिर दुःख नहीं रहता-फिर तो आत्मा आनन्द ही में निमग्न रहता है। इसी भाव को बतलाने के लिए- **'कामानपेक्षस्त्वयमात्मैवानन्दः'**- में यह **'एव'** पद दिया है। एवमेव जो आसक्ति रखता है-कामना रखता है-उसके लिए विश्व के पदार्थों में-द्वेष्य और प्रिय दो विभाग हो जाते हैं। कितने ही पदार्थ उसे प्रिय लगा करते हैं एवं कितने ही भोग्य विषवत् लगा करते हैं। इस प्रकार कामना वाले मनुष्य को विश्व के यच्चयावत् पदार्थ आनन्दमय नहीं मालूम होते। कुछ अच्छे मालूम होते हैं, कुछ बुरे मालूम होते हैं। परन्तु जो कामना छोड देता है-निष्काम हो कर विषय-सम्बन्ध करता है-उसके लिए सारा विश्व ही आनन्दमय हो जाता है। ऐसा मनुष्य सारे विश्व को ही आनन्दमय देखा करता है। बस, इसी विशेषता को बतलाने के लिए **'विश्वमेवानन्दम्'** में **'एव'** पद दिया है। जो आत्मा कामना को छोड देता है-आसक्ति पथ से बिलकुल अलग हो जाता है, वह आत्मा **'विदेहमुक्त'**-कहलाता है। शरीर में रहता हुआ भी वह मुक्त ही है। इसी निष्कामात्मा के लिए भगवान् कहते हैं—

"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि,[2] न करोति न लिप्यते" ।।[3]

---

१ गीता ५।१०। २ ईशोप० २ ३ गीता १३।३१।

निष्काम-सकामादि कर्म्मों का विस्तृत विवेचन-**'गीता विज्ञानभाष्य'** में देखना चाहिए। यहाँ हमें सिर्फ इतना ही कहना है कि कामानपेक्ष जो आत्मा है-वह सदा आनन्दस्वरूप ही रहता है। कामना परित्याग से उसे कभी दुःख नहीं होता। ऐसा यह आत्मा आनन्दमय अखिल अर्थों के साथ एकीभूत होता हुआ सारे विश्व को ही आनन्दमय देखा करता है। यह आत्मा 'विदेहमुक्त' नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कामानपेक्षस्त्वथवायमात्मैवानन्द आनन्दमयाखिलार्थैः।
एकीभवन् पश्यति विश्वमेवानन्दं स आत्मास्ति विदेहमुक्तः" ॥१६८॥

—✽—

६-आत्मन्यज्ञानावरणाद् दुःखोपपत्तिः।

आत्मा में अज्ञानावरण के कारण दुःखोपपत्ति—

आत्मानन्द और भोग्यानन्द के बीच में व्यवधान (अन्तर) आने से जैसे यह आत्मा दुःखी होता है, तद्वत् अज्ञान के आवरण से भी आत्मा दुःखी हो जाया करता है। अज्ञानावरण से आत्मा कैसे दुःखी हो जाता है-यही इस छठे सूत्र का विषय है-(१) औषधि, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आवाज, (६) बल अर्थात् क्रिया एवं (७) ज्ञान-बस, इस प्रज्ञानात्मा की ये सात ही खुराक हैं। इन्हीं के लिए-**'यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता'**[1] यह कहा जाता है। इन सातों अन्नों में से 'औषधि' अर्थात् जौ, गेहूँ, बाजरा-इत्यादि अन्न एवं पानी-ये दो तो परिश्रम साध्य हैं एवं अवशिष्ट पाँचों अन्न विना परिश्रम के सदा मिला करते हैं। इन अन्नों का विस्तृत विवेचन-**'सच्चिदानन्दखण्ड'** के १७ वें सूत्र में कर दिया गया है-अतः वहीं देखना चाहिए।

इन सातों को ही यह मनुष्य खाता है। इन सातों में जो क्रिया है अर्थात् बल है-वह श्रम से अर्थात् कसरत से मिलता है। वाग्व्यापार से बल की मात्रा बढती है एवं जो ज्ञान है-वह स्वाभाविक एवं कृत्रिमभेदेन दो प्रकार का होता है। पाँचों इन्द्रियों के संयोग से होने वाला जो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-स्वरूप ज्ञान है-वह स्वाभाविक है-प्रकृतिसिद्ध है। पाँचों इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होने वाला जो रूप-रसादि का ज्ञान है-वह आबालवृद्ध सब में सामान्यतया विद्यमान है। इसके लिए पाठशाला में जाने की जरूरत नहीं होती, परन्तु एक ज्ञान ऐसा होता है जो शिक्षा के कारण उत्पन्न किया जाता है। उसे ज्ञान न कह कर 'विज्ञान' कहा जाता है। शिक्षा-वश से जिनका मस्तिष्क वैज्ञानिक बन जाता है-वे सामान्यज्ञानवान् पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँची श्रेणी में पहुँच जाते हैं। अस्तु, कहना हमें यही है कि ज्ञान के दो सीगे हैं-(१) प्राकृतिक ज्ञान, (२) एवं कृत्रिम-ज्ञान। पञ्चेन्द्रियसंयोग से उत्पन्न होने वाला ज्ञान सहज-ज्ञान कहलाता है एवं शिक्षा के कारण उत्पन्न किया जाने वाला ज्ञान कृत्रिम-ज्ञान कहलाता है। हैं-दोनों ज्ञान ही। बस, इस प्रकार से इन सातों अन्नों को यह मनुष्य खाया

१ बृहदा० उप० १।५।१।

करता है। सातों ही से इसकी स्थिति रहती है। बस, इन्हीं सातों के नाम बतलाते हुए गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदोषधीरत्ति जलं च तेजो वायुं च वाचं श्रमतो बलं च।
ज्ञानं च पञ्चेन्द्रियसंप्रयोगात् प्राप्नोति शिक्षावशतश्च किञ्चित्" ॥१६९॥

इन सातों अन्नों का आत्मा के साथ योग होता है। यह योग कुल चार प्रकार का है–(१) सुयोग, (२) अल्पयोग, (३) मिथ्यायोग, एवं (४) अतियोग। कल्पना कर लीजिए–मनुष्य की खुराक तीन पाव अन्न की है एवं कफप्रधान प्रकृति वाले मनुष्य को यह अन्न हितकर है–वातप्रकृतिज मनुष्य के लिए यह हितकर है एवं पित्तप्रकृति वाले मनुष्य के लिए यह अन्न हितकर है। एवमेव प्रातः इस समय भोजन करना हितकर है–सायं इस समय भोजन करना उचित है फलाने-फलाने पदार्थ त्याज्य हैं इस प्रकार आयुर्वेदशास्त्रसम्मत मनुष्य की जो आहार-व्यवस्था है–ठीक उसके माफिक आत्मा के साथ जो अन्न का योग है–वही योग-'सुयोग' कहलाता है। नियम है–तीन पाव खाने का। खा गए–आधसेर ही–पाव भर ही–बस, इसी का नाम अल्पयोग है–इसी को 'हीनयोग' भी कहा करते हैं। खाया तो तीन पाव ही, परन्तु खा गए तीन पाव निषिद्धवस्तु-विषादि-बस यही–'मिथ्यायोग' कहलाता है–इसी को 'असत्‌योग' कहते हैं। खाना चाहिए था तीन पाव–खा गए दो सेर-तो यह 'अतियोग'–कहलाता है। बस, आत्मा के साथ सातों अन्नों का योग चार ही प्रकार से हो सकता है। बस, इन सातों के सुयोग से तो सुख प्राप्ति होती है–आत्मा प्रसन्न रहता है। जिसका आहार-विहार नियम से होता है–वह मनुष्य कभी दुःखी नहीं होता। सुयोग ही सुख का मूल कारण है। जिसकी आहार-व्यवस्था नियमित है–शास्त्रसम्मत है, उसे कोई औषधि लेने की आवश्यकता नहीं होती। नियम परिपालन ही उसकी औषधि है। अल्पयोग-मिथ्यायोग एवं अतियोग से दुःखोदय होता है। दुःखोदय का एकमात्र कारण अन्न-व्यवस्था की विषमता ही है।

यह तो हुई सातों अन्नों की योग व्यवस्था। अब लीजिए-प्रसाद और किट्ट व्यवस्था। भुक्त जो ये सातों अन्न हैं–इन सातों में प्रसाद और किट्ट (मल) भेदेन दो विभाग रहते हैं। सातों ही अन्नों में प्रसाद और किट्ट–ये दो भाग कायम हो जाते हैं–जिनका कि स्वरूप नीचे के प्रकरण से बतलाया जाता है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहते हैं कि इन सातों अन्नों के सुयोग से सुख होता है एवं अतियोग, मिथ्यायोग, अल्पयोग से दुःखोदय होता है एवं इन सातों भुक्त अन्नों में प्रसाद और किट्ट–ये दो भाग रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एषां सुयोगात् सुखमल्पमिथ्यातियोगतो दुःखमुदेत्यनल्पात्।
अथास्ति सप्तस्वशितेषु तेषु प्रसादकिट्टद्विविभागसिद्धिः" ॥१७०॥

इस विश्व के 'आभु और अभ्व'–ये ही दो मूल हैं। आभु को रस कहा जाता है एवं अभ्व को बल कहा जाता है। रस नित्य है, अतएव इसे 'अमृत' भी कहा जाता है। चूंकि बल अनित्य है, अतएव

मरणधर्म्मात् बल को 'मृत्यु' कहा जाता है । बस, अमृत और मृत्यु-ये ही दो इस भावद्वययुक्त विश्व के मूल हैं । प्रतिक्षण में होने वाले प्रत्यक्षदृष्ट क्रियाप्रपञ्च का मूल तो 'बल' है एवं प्रतिक्षणपरिवर्तित होने पर भी जो एक-'अस्ति' प्रतीति हो रही है-अनित्यभाव में जो नित्यता के दर्शन हो रहे हैं-उसी नित्यभाव का मूल रस है । इस रस और बल का विवेचन हमने पूर्व के **'मूलोपनिषत्'** में कर दिया है । यहाँ सिर्फ यही कहना है कि रस नित्यत्वात् अमृत कहलाता है एवं 'बल' अनित्यत्वात् मृत्यु कहलाता है । इस रसबल की विश्वविश्वातीतत्वेन दो व्यवस्था हैं । विश्वातीत जो रसबल है-उसमें बलभाव अनुल्बण रहता है एवं रसभाग उल्बण रहता है । वहाँ बल पर रस सवार होता है एवं ठीक इसके विपरीत विश्व में बलभाग उल्बण रहता है, रसभाग अनुल्बण रहता है । अर्थात्, अमृत मृत्यु के अन्तः प्रविष्ट रहता है । हम विश्व के अन्दर का विज्ञान बतला रहे हैं, अतएव हम अमृत को मृत्यु के अन्तः-स्यूत ही कहें । यह अमृत और मृत्यु-दोनों तत्त्व परस्पर अविनाभूत हैं । विना अमृत के मृत्यु नहीं रहता-विना मृत्यु के अमृत नहीं रहता । दोनों तत्त्व लाजिम मलजूम हैं । हम संसार में सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-पर्वत-मकान-नदी-समुद्र-घट-पट-पुस्तक-टेबिल-कुर्सी जो कुछ भी देख रहे हैं-वह सब मृत्यु ही मृत्यु है-बल ही बल है । इन्द्रियगोचर बल ही है । रस तो अत्यन्त सूक्ष्म अतएव इन्द्रियागोचर है । इस प्रकार दीखता हमें बल ही है, परन्तु यहाँ बल रस को अपने में लिए हुए है । रस ही बल के अस्तित्व का कारण है । घट है-पट है-मठ है-इस प्रकार बल-समष्टि में जो एक-हैपना है-अस्तित्व है-वह यही रस है । सत्ता जो कि रात-दिन काम में आती है, परन्तु जिसका सिवाय 'है' के और कुछ निर्वचन नहीं किया जाता है-वही रस है । रस ही बल की प्रतिष्ठा है । यदि इस बल का आधार यह नित्य-तत्त्व-यह रस न होता तो-सर्वथा क्षणिक-अतएव स्थिति शून्य इस बल का (विश्व का) प्रत्यक्ष ही नहीं होता । इसीलिए **'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्'**-यह कहा जाता है । इस सारे प्रपञ्च से हमें बतलाना यही है कि इस विश्व में जो कुछ-'है'-कहकर व्यवहृत करने लायक है-वह रस-बल की समष्टि ही है । सिवाय रस-बल के अर्थात् अमृत-मृत्यु के और कोई तीसरी वस्तु नहीं है । जिसका प्रत्यक्ष हो रहा है वह बल है एवं बल का आधार-बल में अन्तःप्रविष्ट जो नित्यतत्त्व है-वही अमृत है । जब सारा विश्व अमृत एवं मृत्युमय है तो यह बात सुतरांसिद्ध हो जाती है कि संसार के प्रत्येक पदार्थ में अमृत और मृत्यु अर्थात् रस और बल मौजूद हैं । बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है—

"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्" ।[1]

संसार की प्रत्येक वस्तु में-प्रति पदार्थ में अमृत और मृत्यु-ये दो तत्त्व हैं । मृत्यु बाहर की ओर है अर्थात् जो दिखलाई दे रही है-वह मृत्यु है एवं अमृत इस मृत्यु के अन्तःप्रविष्ट है । यही अमृत इस मृत्यु की प्रतिष्ठा है । अमृत के कारण ही मरणधर्म्मा भी मृत्यु मरने नहीं पाता । तभी तो हम इस अनित्य भी बल का प्रत्यक्ष कर लेते हैं—

१ शत० ब्रा० १०।५।२।४ ।

किट्ट मल को कहते हैं, प्रसाद सारभाग को कहते हैं। बस, अमृत और मृत्यु-इन दोनों में जो मृत्यु है-वह तो किट्ट का अर्थात् मल का जनक है। मलभाग का जनक मृत्यु है एवं सारभाग का अधिष्ठाता अमृत है। चूँकि पूर्वोक्त सातों अन्न भी अमृतमृत्युस्वरूप ही हैं। एवं अमृत से प्रसाद होता है एवं मृत्यु से 'किट्ट' पैदा होता है। ऐसी अवस्था में भुक्त इन सातों अन्नों की स्वभाव ही से द्विविभाग-सिद्धि हो जाती है। तात्पर्य्य यही है कि सारा प्रपञ्च अमृतमृत्युमय है। अमृत से प्रसाद उत्पन्न होता है, मृत्यु से किट्ट उत्पन्न होता है। चूँकि इन सातों भुक्तान्नों में भी-अमृत-मृत्यु दोनों मौजूद हैं, अतएव इन सातों ही अन्नों में-प्रसाद और किट्ट-ये दो विभाग होना प्रकृतिनियमानुसार स्वाभाविक ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है--

"प्रत्यर्थमेवास्त्यमृतं च मृत्युर्मृत्युर्बहिर्धाऽन्तरतोऽमृतं च ।
किट्टं तु मृत्योरमृतात् प्रसादः स्वभावतः स्याद् द्विविभागसिद्धिः" ॥१७१॥

भुक्तान्न में-अमृत और मृत्यु--ये दो तत्त्व हैं-यह बात पूर्वप्रकरण से सिद्ध हो जाती है। उस अन्न का जो रसभाग है-सारभाग है-उसी का नाम प्रसाद है। रसस्वरूप आत्मा की जो कमी होती है-वह इसी रसभाग से पूरी होती है। भोजन के पहले आत्मा निर्बल रहता है। उसमें शक्तिक्षीणता रहती है, परन्तु भोजन करते ही उसमें ऐसे ताकत आ जाती है-जैसे कि बुझते दीपक में तैल डालने से दीपक में ताकत आ जाती है। बस, यह जो ताकत है-वह इसी रसभाग की है। आत्मशक्ति की पूर्त्ति इसी रसभाग से होती है। दूसरा है-भुक्तअन्न में किट्ट भाग। यही किट्ट मल नाम से व्यवहृत होता है। दीपक हरवक्त तैल-स्वरूप अन्न को खाया करता है। बस, वह भुक्त अन्न अर्थात् तैल, प्रसाद और किट्टभाग में परिणत हो जाता है। दीपक से जो कज्जल निकलता है-वह तो मलभाग है एवं जिससे दीप का स्वरूप बना हुआ है-वह प्रसादभाग है। इस प्रसाद-रस से दीप की क्षतिपूर्त्ति होती रहती है। जितना ही प्रसादभाग दीप का हितकर है, किट्टभाग अर्थात् कज्जल उतना ही इस दीपात्मा का विरोधी है। यदि दीपशिखा पर कज्जल आक्रान्त हो जाए तो उसी समय दीपक बुझ जाए। बस, यही हाल आत्मा का समझना चाहिए। भुक्तान्न का जो मल भाग है-वह आत्मा का जरा भी हितकारी नहीं है। बस, उस मलभाग को न छोडकर यह आत्मा उसके साथ योग करता है-यही इस आत्मा का दुःख है। जब तक मलभाग-किट्टभाग अर्थात् मृत्यु इस आत्मा पर आक्रान्त रहता है-तब तक आत्मा छटपटाता रहता है- सर्वथा दुःखी रहता है। यदि अधिक समय तक यह मल आत्मा के साथ रह जाता है-तो आत्मा को शरीर छोड देना पड़ता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसः प्रसादस्तत आत्मनो यद् विस्रस्यते तत् परिपूर्तिमेति ।
किट्टं मलं नात्महितं तदात्माऽनुत्सृज्य यद् यौति तदस्य दुःखम्" ॥१७२॥

जल, औषधि-इत्यादि अन्नों का जो स्थूलभाग है-वही पुरीष, मूत्र, अस्थि आदि कहलाता है। भुक्त अन्न के कितने विभाग हो जाते हैं-इसका विशद-स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति । यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ।। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः । तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक् । अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्"–इति ।।[1]

पुरीष-मूत्रादि इस अन्न के किट्टभाग हैं–मलभाग हैं। जिस समय इन पुरीषमूत्रादि के बाहर निकलने की हाजत होती है, उस समय आत्मा एकदम इन्हें बाहर फेंकना चाहता है। कब मेरे से यह मल निकल जाए–इसके लिए आत्मा व्यग्र हो उठता है। बस, जब तक इस मलभाग को यह बाहर नहीं फैंक देता है, तब तक दुःख पाया करता है। पेट में दर्द हुआ करता है। इतना ही नहीं–यदि अधिक देर तक–मल-मूत्रादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध बना रहता है–तो इसमें अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। किट्टभाग आत्मा का अहित पदार्थ है–इसमें इससे ज्यादा और क्या प्रमाण हो सकता है ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पुरीषमूत्राद्युपसर्गबाधे त्यक्तुं हठादिच्छति सद्य आत्मा ।
नोत्सृज्यते यावदिदं स तावत् प्रपीड्यते योगत एति रोगम्" ।।१७३।।

जिस प्रकार योग–(१) सुयोग, (२) अतियोग, (३) मिथ्यायोग, (४) हीनयोग–भेद से चार प्रकार का होता है–तद्वत् कर्म्म भी सुकर्म्म-विकर्म्म, अकर्म्म भेदेन तीन प्रकार का है। जिस कर्म्म से प्रसादरस उत्पन्न होता है एवं सुख मिलता है–वह कर्म्म तो 'सुकर्म्म' नाम से व्यवहृत होता है। एवं जो कर्म्म दुःख और किट्ट उत्पन्न करता है अर्थात् आत्मा पर मल उत्पन्न करता है–वह 'विकर्म्म' और 'अकर्म्म' कहलाता है। जिस कर्म्म से आत्मा का मल हटता है-बस, बुद्धियोग नाम का नैष्कर्म्य-सम्पत्ति पैदा करने वाला ही–सुकर्म्म है। इस बुद्धियोगमय कर्म्म का उपदेश भगवान् ने अर्जुन को दिया है एवं जो शास्त्रविरुद्ध कर्म्म है-आसक्ति में डालने वाला कर्म्म है–वही विकर्म्म कहलाता है। जो ठाली बैठे रहना एवं मक्खी मारते रहने का जो कर्म्म है, वही 'अकर्म्म' नाम से व्यवहृत होता है। इन तीनों में–सुखकृत् एवं प्रसादस्वरूपकर्म्म 'सुकर्म्म' कहलाता है एवं विकर्म्म और अकर्म्म–ये जो कर्म्मद्वय हैं–वे दुःख पैदा करने वाले हैं एवं आत्मस्वरूप को आविल करने वाले मल हैं।

एवमेव ज्ञान भी ज्ञान, मिथ्याज्ञान एवं अज्ञान भेदेन तीन ही प्रकार का है। जो ज्ञान बुद्धियोगमय है–जिससे कि प्रसाद होता है–आत्मा का आवरण हटता है-वही ज्ञान 'ज्ञान' नाम से व्यवहृत

---

१ छान्दोग्योप० ६।५।१-४।

होता है एवं जो विरुद्धज्ञान एवं अज्ञान हैं–वे मलस्वरूप हैं–किट्टस्वरूप हैं। बस, मलस्वरूप विरुद्धज्ञान एवं अज्ञान से ही यह आत्मा दुःख को प्राप्त होता है। विष को अमृत समझ कर उसे पी जाना–यही विरुद्धज्ञान है एवं अज्ञानतावश अच्छे को भी छोड़ देना–यही अज्ञान है। दोनों ही से आत्मा को दुःख मिलता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कर्म्म प्रसादः सुखकृद् विकर्मा कर्मद्वयं दुःखकृते तु किट्टम्।
ज्ञानं प्रसादः सुखकृन्मलात् त्वज्ञानान्यथाज्ञानत एति दुःखम्" ॥१७४॥

कहना इस सारे प्रपञ्च से हमें यही है कि सातों अन्नों के भोग में सुयोग का एकमात्र कारण ज्ञान और ज्ञानकृत् कर्म्म ही हैं। अर्थात् जान लेने पर भी काम नहीं चलता। जानकर तदनुसार कर्म्म करने से फलसिद्धि होती है। हर काम जानकर बुद्धिपूर्वक करना चाहिए। जो मनुष्य ज्ञानपूर्वक कर्म्म नहीं करता है–वह पद-पद पर ठोकरें खाता रहता है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि—

"ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे-पदे"॥

सातों अन्नों का सुयोग ही आनन्द का कारण है एवं ज्ञान और तदनुकूल कर्म्म ही सुयोग का हेतु है, अतः सुख की वाञ्छा रखने वाले को सदा सारा कर्म्म ज्ञानपूर्वक करना चाहिए। प्रज्ञापराध से–अज्ञान के आवरण से ही हीनयोग-मिथ्यायोग एवं अतियोग हो जाता है एवं अज्ञानवशात् ही विरुद्ध-कर्म्म हो जाते हैं। बस, इसी से इस आत्मा के दुःख का उदय हो जाता है। दुःख का एकमात्र कारण प्रज्ञापराध है। आत्मा में जब अज्ञान का आवरण आ जाता है–तभी दुःख होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सप्तान्नभोगेऽपि सुयोगहेतुर्ज्ञानं तथा ज्ञानकृतं च कर्म्म।
प्रज्ञापराधात् त्वतिहीनमिथ्यायोगा विकर्म्माणि ततोऽस्य दुःखम्" ॥१७५॥

प्रज्ञापराध ही दुःख का कारण है–यही तात्पर्य्य है।

सम्पूर्ण प्रकरण का सारांश बतलाते हुए कहते हैं—

सर्वत्र सुखोदय में ज्ञान ही कारण है। ज्ञान के विना सुख कभी नहीं हो सकता है। अज्ञान ही से सारे दुःखों का जन्म होता है एवं अज्ञान ही से भयोत्पत्ति होती है–पूर्व प्रकरण से यह बात सिद्ध हो जाती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तथा च सर्वत्र सुखोदयेस्ति ज्ञानं निमित्तं न विना ततस्तत्।
अज्ञानतः सर्वविधानि दुःखान्युद्यन्त्यतो भीर्भवतीति सिद्धम्" ॥१७६॥

७–अन्नसुयोगाभावाद् दुःखोपपत्तिः ।

अन्न के सुयोगाभाव से दुःखोपपत्तिः—

रस और बल–ये दो ही जगत् के आधार हैं। रस के विषय में और बल के विषय में पुनरुक्ति दोष का ख्याल न कर इसलिए बार-बार कहना पड़ता है–ताकि ये तत्त्व किसी प्रकार समझ में आ जाएँ। यद्यपि रसबल हैं–अत्यन्त सरल पदार्थ परन्तु चूँकि ये वैदिकविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं एवं सिवाय शब्द घोषणामात्र रखकर वेद के विज्ञान के पठन-पाठन का क्रम बहुत समय से लुप्तप्राय हो रहा है, अतएव बार-बार हमें इसका जिक्र करना पड़ता है–ताकि अति सरल किन्तु सदियों से लुप्त यह वैदिकतत्त्व सर्वसाधारण की समझ में आ जाए। इसीलिए हमें फिर कहना पड़ता है कि ये बल कुल १६ जाति के हैं। रस के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। कहना है केवल बल के विषय में। बल यद्यपि हैं–अनन्त। बलों की संख्या नहीं की जा सकती। परन्तु यह बल कितनी जाति के हैं–उन जातियों की संख्या की जा सकती है। बस, यह संख्या कुल १६ है। ये ही १६ जाति **बलकोश** नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं को माया-जाया-धारा आदि नाम से व्यवहृत किया जाता है। मायाबलकोश एक है। इसमें से योगमाया-विष्णुमाया-शिवमाया-माया के पेट में फिर माया–उसके पेट में फिर माया इस प्रकार अनन्तमाया बल उस मायाबलकोश में से निकल पड़ते हैं। इतने निकलते हैं–इतने निकलते हैं–जिनसे अव्ययब्रह्म का स्वरूप ढक जाता है एवं माया ही माया दिखलाई पड़ती है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः"।।[1]

बस, यही हालत अन्य बलकोशों में भी समझनी चाहिए। इन बलों में से एक बल का नाम है–**अशनाया**। अशनाया को ही **बुभुक्षा बल** कहते हैं। जब पेट सर्वथा खाली हो जाता है–उस समय जो एक 'खाऊँ-खाऊँ–इस प्रकार का स्वाभाविक बल निकलता है–इसी बल को अशनाया बल कहते हैं। बाहर से 'अश' को अर्थात् अन्न को यह आत्मा पर लाकर जमा करती है, अतएव **अशं नयते**–इस व्युत्पत्ति से इस बुभुक्षाबल को अशनाया बल कहा जाता है। इस अशनाया बल के उक्थ-अर्क-अशिति–ये तीन पार्ट होते हैं। केन्द्रस्थ जो बल है–वही अशनाया रूप में परिणत हो बाहर निकलता है। परन्तु यह बल सर्वात्मना बाहर नहीं निकलता–अपि तु, अधिक अंश से केन्द्र में स्थिर रहता है एवं कम मात्रा से बाहर निकलता है। जो बल बाहर निकलता है–वह इसी केन्द्रस्थबल से उठता है, अतएव **यस्मा-दुत्तिष्ठति**–इस व्युत्पत्ति से इस केन्द्रीयबल को 'उक्थ' कहा जाता है एवं जो बल किरणरूप से बाहर जाता है, उसी का नाम 'अर्क' है एवं जो बल अन्न के साथ रहकर आत्मा में हुत होता है–वही 'अशीति' नाम से व्यवहृत होता है। इस प्रकार एक ही अशनाया उक्थ-अर्क-अशिति भेदेन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। अस्तु, कहना इस प्रपञ्च से यही है कि जो बल बाहर से अन्न लाकर आत्मा में आहुत

१ गीता ७।२५।

करता है–उसी बल का नाम 'अशनायाबल' है। लौकिक-व्यवहार में जिसे 'भूख' कहते हैं-वही हमारा अशनायाबल है। भूख ही बाहर से अन्न लाकर आत्मा में जमा करती है। यदि यह भूख न होती तो अन्न की इच्छा ही नहीं होती।

प्रकृत में यही बतलाना है कि आत्मा के आयतन में अशनाया द्वारा जो अन्न इकट्ठा किया जाता है–यदि उसमें सुयोग है तो सुख उत्पन्न होता है। अर्थात् सुयोग से खाया हुआ जो अन्न है–वह सुख का उत्पादक है। यदि तो प्रज्ञापराध से भुक्त अन्न में आयोग-हीनयोग-अतियोग एवं विरुद्धयोग हो जाता है तो आत्मा में दुःखोदय हो जाता है। सुखोदय का एकमात्र कारण-ज्ञानपूर्वक होने वाला अन्न-सुयोग है एवं दुःखोदय के कारण प्रज्ञापराधमूलक हीनयोगादि हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदन्नमात्माऽऽयतनेऽशनायया संगृह्यते तत्रसुयोगतः सुखम्।
अयोगहीनातिविरुद्धयोगतः प्रज्ञापराधात् त्विह दुःखमुद्भवेत्" ॥१७७॥

अन्न, जल, तेज, वायु, वाक् (शब्द) एवं क्रिया और बल–ये सातों खुराकें हरवक्त आत्मा में आया करती हैं। इन सातों में हीनयोग एवं विरुद्धयोगादि से ही भय होता है एवं हीनयोगादि ही रोग के कारण हैं। जल यदि अधिक मात्रा में पी जाते हैं तो नुकसान हो जाता है। इसी प्रकार यदि प्रकाश का भी ज्यादा सेवन दुःखद ही होता है। तात्पर्य्य यही है कि सारे के सारे (अन्न) सुयोग से आनन्दप्रद हैं। हीनयोगादि दुःखद हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अन्नं जलं तेज इदं स वायुर्वाग् वा बलं ज्ञानमजस्रमत्र।
प्रयुज्यते तेष्वतिहीनयोगाद् विरुद्धयोगाच्च भयं च रोगः" ॥१७८॥

सातों अन्नों का जरिया पृथक्-पृथक् है। सातों अन्न पृथक्-पृथक् स्थान से आते हैं। जो अन्न है–वह पृथिवी से उपलब्ध होता है एवं इसमें परिश्रम करना पड़ता है। एवमेव पानी भी इसी पृथिवी में मिलता है, परन्तु परिश्रम से ही एवं तेज अर्थात् प्रकाश सूर्य्य से मिलता है एवं पृथिवी के ऊपर एवं सूर्य्य के नीचे जो यह पोल दिखलाई पड़ती है–जिसका कि नाम अन्तरिक्ष है–वायु इसी स्थान से आता है एवं वाक् अर्थात् आवाज सुनने से आती है। वाक्-ज्योति दूसरे के बोलने से आती है। इस खुराक का प्रत्यक्ष घोर अन्धकार में होता है। उस समय मारे अन्धकार के आत्मा डरा करता है। यदि उसी समय हमें किसी मनुष्य की आवाज आ जाती है तो आत्मा सम्भल जाता है। यही वाक्रूपी अन्न का प्रत्यक्ष निदर्शन है। इस प्रकार तेज, वायु और वाक्–इन तीनों अन्नों को यह अपने आप ही भोगा करता है। अर्थात् अन्न और पानी के लिए जैसे इसे परिश्रम करना पड़ता है तद्वत् इन तीनों के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। परमेश्वर अपनी ओर से विना परिश्रम किए ही इन तीनों अन्नों को दिया करता है एवं छठा अन्न है–क्रिया, जिसे कि बल भी कहते हैं–यह भी इस मनुष्य की खुराक है। ये

खुराक–कर्मेन्द्रियों के व्यापार से मिला करती हैं। क्रिया के जनक हस्तपादादिस्वरूप कर्मेन्द्रियाँ ही हैं। इस प्रकार यह क्रिया-अन्न भी परिश्रम से ही मिलता है।

एवं यह आत्मा ज्ञानान्न को विज्ञान द्वारा ग्रहण करता है। इसमें दो कोटि हैं–जो ज्ञान पञ्चेन्द्रियजन्य है–वह तो ईश्वरदत्त है–स्वाभाविक है एवं जो ज्ञान परिश्रमसाध्य-शिक्षासाध्य है, वह कृत्रिम ज्ञान है। आत्मा की स्थिति रखने वाले–आत्मा को प्रतिष्ठित रखने वाले–वे ही सात अन्न हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तेजो रवेर्वायुमथान्तरिक्षाद् वाचं श्रुताच्च स्वत एव भुङ्क्ते।
बलं तु कर्मेन्द्रियतः श्रमाच्च ज्ञानं प्रगृह्णाति च धीन्द्रियेण" ॥१७९॥

इन सातों ही अन्नों में हीनयोग से, अतियोग से, विरुद्धयोग से एवं अयोग से ही अनिष्ट की उत्पत्ति होती है। दुःख के मूल कारण ये ही हीनयोगादि हैं–यही हमारा सिद्धान्त है। दुःख में एकमात्र हीनादियोगों को ही हम कारण मानते हैं। यह प्रज्ञापराध आदान और विसर्ग–दो ही समय में होता है। जिस समय अन्न खाने लगे, उस समय कुछ खयाल न रक्खा। अंट-संट जो कुछ मन में आया, खा गए। बस, अन्न-ग्रह के समय जो यह प्रज्ञापराध है–वही भय का कारण है। एवमेव खाने में (अन्न-ग्रह में) तो प्रज्ञापराध नहीं हुआ। जिस नियम से जितना चाहिए, उतना ही खाया। यदि उसके विसर्ग में प्रज्ञापराध कर गए, तब भी दुःख ही है। पुरीष-मूत्र का उत्सर्ग नियम से करना चाहिए। यदि उत्सर्ग-विषयक इस नियम में भी प्रज्ञापराध हो गया–गलती हो गई–तब भी दुःख धरा ही रक्खा है। इसलिए अन्न-ग्रहण के समय एवं अन्नविसर्जन के समय–दोनों में सदा सचेत रहना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्वत्र हीनाप्तिविरुद्धयोगादनिष्टमुत्पद्यत इत्यवैमि।
अन्नग्रहे [1]चान्नविसर्जने वा प्रज्ञापराधो भयहेतवे स्यात्" ॥१८०॥

बृहदारण्यक श्रुति में आत्मा को वाङ्मय, प्राणमय एवं मनोमय बतलाया जाता है–जैसा कि कहा है—

"अयमात्मा वाङ्मयः प्राणमयो: मनोमयः"–इति ।।[2]

मन और प्राण–ये दोनों सूक्ष्मतत्त्व हैं एवं वाक् स्थूलतत्त्व है। मन पर जब बलों की गाँठें लगती हैं तो वही मन अपने एक अंश से प्राणस्वरूप में परिणत हो जाता है एवं वही प्राण जब और भी बल-ग्रन्थियों में गिरफ्त हो जाता है तो वह आकाशस्वरूप में परिणत हो जाता। चूँकि कि यह आकाश

१ पूज्य ओझा जी के मूल ग्रन्थ में 'चात्मविसर्जने वा' पाठ छपा हुआ है।
२ बृहदा० उप० १।५।३।

वाक्स्वरूप है, अतएव इसे मर्त्य समझना चाहिए। बस, भूतों में पहला भूत यही आकाश है। तेज, अप् और अन्न–इन तीनों के त्रिवृत्करण से पाञ्चभौतिक शरीर की उत्पत्ति होती है। तेज मनःस्वरूप है, अप्-प्राणस्वरूप है–अन्न वाक्स्वरूप है। बस, इनके त्रिवृत्करण से शरीर बनता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि–इति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" ॥[1]

नीचे लिखी तालिका से त्रिवृत्करणविभाग स्पष्ट समझ में आ जाता है—

तेजः	आपः	अन्नम्				
॥	॥	तेजः	आपः	अन्नम्		
॥	॥	॥	॥	॥		
॥	॥	॥	॥	॥		
॥	॥	॥	॥	तेजः	आपः	अन्नम्
॥	॥	॥	॥	॥	॥	॥
(मनः	प्राणः)	आकाशम्	वायुः	तेजः	जलम्	पृथिवी
(द्वयोर्मूतत्त्वं नास्ति)		**(वाक्)**				

कहना हमें यही है कि वाक् प्राण की स्थूलावस्था का नाम है एवं प्राण मन की स्थूलावस्था का नाम है एवं परिच्छिन्न अतिसूक्ष्म केन्द्रीयरस का नाम ही मन है। वही मन अवस्थाविशेष से प्राण वाक्-स्वरूप में परिणत हो जाता है। वाक् ही अर्थात् आकाश ही उत्तरोत्तर स्थूल होता हुआ पाँचों भूत-स्वरूपों में परिणत होता है। वाक् स्थूलभाग है। इसी को कहते हैं–भूत। विश्व का स्वरूप इसी वाक् से बना हुआ है। अखिलब्रह्माण्ड इसी वाक् से व्याप्त है, अतएव कहा जाता है—

**"वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे। वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता। सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी"–इति ॥[2]**

आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है–इसका अर्थ यही है कि आत्मा मन-प्राण-आकाश-तेज-वायु-जल एवं मृत्तिकामय है–वहाँ तक आत्मा का स्वरूप रहता है। वाक् ही को अन्न कहते हैं। अन्न ही को 'वित्त'

---

१ छान्दोग्योप० ६।३।१। २ तैत्ति० ब्रा० २।८।८।४-५।

(सम्पत्ति) कहते हैं। चूंकि वाक् तक आत्मा रहता है, अतएव **यावद्वित्तं तावदात्मा**-यह कहा जाता है। बस, यह सात ही हमारे शरीर के अधिष्ठाता हैं। इन्हीं सातों की समष्टि से अहं भाव बना हुआ है। चूंकि हम सात पदार्थों की समष्टि है, अतएव इन सातों की रक्षा के लिए हमको सात ही अन्न खाने पड़ते हैं। ज्ञान मन का अन्न है। ज्ञान ज्ञान का जितना हिस्सा शरीर में आता है-वह सब मन की खुराक है एवं क्रिया जिसे कि बल भी कहा था-प्राण की खुराक है एवं वाक् आकाश की खुराक है, इसीलिए तो **शब्दगुणकमाकाशम्**-यह कहा जाता है एवं वायु शरीरस्थित वायु की खुराक है, जल जल की खुराक है एवं औषधि अर्थात् अन्न शरीरस्थ मृत्तिका (मांस) की खुराक है। मांस मिट्टी है, इसीलिए तो लोक में मांस को मिट्टी ही कहा करते हैं। सप्तसंस्थ शरीर है एवं इसके सात ही अन्न हैं। मन से लेकर मृत्तिकान्त अर्थात् पृथिवी तक-इस आत्मा में कुल सात चीजें हैं-यही पूर्वोक्त कथन का सारांश है। सात ही का नाम आत्मा है एवं सात ही इसके अन्न हैं। बस, सप्तसंस्थ इस आत्मा से युक्त जो अन्य अन्य सात अन्न हैं, यदि प्रज्ञापराध से उन सातों में से कोई भी अन्न विरुद्धगति का आश्रयण कर लेता है अर्थात् सुयोग की सीमा से बाहर निकल जाता है तो वह आत्मा में जाकर सर्वथा अनिष्ट कर देता है। वह विरुद्ध अन्न रोग पैदा करता है-भय पैदा कर देता है। करे कैसे नहीं जबकि हीनातियोग के कारण वह अन्न आत्मा का विरोधी है। सुयोग से भुक्त जो अन्न है-वही आत्मा का हितकारी होता है एवं वही अन्न हीनातिमिथ्याल्पयोगों से आत्मा के लिए विष हो जाता है।

तात्पर्य्य यही है कि मन से लेकर मृत्तिकान्त जो समष्टि आत्मा में है-अर्थात् मन, प्राण, आकाश, वायु, तेज, जल, मिट्टी-ये जो सात पदार्थ इस आत्मा में हैं-इनसे संयुत जो अन्न, ज्ञान, क्रिया, वाक्, वायु, तेज, जल, औषधि-ये सात अन्य अन्न हैं-हीनातिमिथ्याल्पयोगों द्वारा इनमें से कोई भी अन्न यदि विरुद्ध हो जाता है तो वह अनिष्टकारी बन जाता है। यह विरुद्ध अन्न आत्मा में रोग एवं भीति पैदा करने वाला है। भीति से दुःख ही अभिप्रेत समझना चाहिए क्योंकि भीति का मूल दुःख ही है। प्रज्ञापराध से भुक्त अन्न आत्मा के सर्वथा विरोधी है-अतः सदा अन्नभक्षण में सावधानी रखनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मनः प्रभृत्यात्मनि मृत्तिकान्तं यदस्ति तत्संयुतमन्यदन्नम्।
विरुध्यते चेत् तदनिष्टकृत् स्यात् रुग्भीतिकृद्ध्यात्मविरुद्धमेतत्" ।।१८१।।

हमने बतलाया है कि ज्ञान, क्रिया, वाक्, वायु, तेज, जल और मिट्टी आत्मा के ये सात अन्न हैं। इन सातों को तीन विभागों में बाँट दिया जाता है-ज्ञान-क्रिया और अर्थ-ये ही तीन विभाग हैं। अर्थ कहते हैं-पदार्थ को। पदार्थ का स्वरूप आकाश, वायु, तेज, जल और मिट्टी है-इन पाँच भूतों की समष्टि का नाम ही पदार्थ है। हम जो कुछ देखते हैं-बस, यह पञ्चभूतसमष्टि ही देखते हैं-क्रिया और ज्ञान तो अदृश्य पदार्थ हैं-वे उस पञ्चभूतसमष्टि के अन्तःस्यूत रहते हैं। अतः अर्थ को हम इन्हीं पाँचों की समष्टि कहते हैं। तात्पर्य्य कहने का यही है कि पाँचों भूतों को हम 'अर्थ' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। हमारा आत्मा मनोमय, प्राणमय एवं वाङ्मय है-यह हमने इस प्रकरण के

प्रारम्भ में ही बतला दिया है। इन तीनों में वाक् से ये ही पाँचों भूत अभिप्रेत हैं। वाक् ही पाँचों भूतों के स्वरूप में परिणत होती है, अतएव इन पाँचों की समष्टि का नाम ही वाक् है। इस प्रकार मन-प्राण-वाक् तो आत्मा है एवं ज्ञान-क्रिया-अर्थ-ये तीन आत्मा के अन्न हैं। आत्मस्थित जो वाक् है अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश हैं, वह तो अर्थस्वरूप अन्न को (औषधि, जल, तेज, वायु, शब्द को) खाती है, वाक् का अन्न अर्थ है एवं आत्मस्थित प्राणभाग बल को अर्थात् क्रिया को खाता है एवं मन ज्ञान-अन्न को खाता है। बस, इस प्रकार मन, प्राण, वाक्-इन तीनों में ज्ञान-क्रिया-अर्थ-ये तीन अन्न बने हुए हैं। क्रिया, जल, तेज, वायु और औषधि एवं आकाश (शब्द) इन छओं अन्नों के हीनातियोग से जो अनिष्ट होता है-वह तो प्रत्यक्ष ही है। ज्ञान का जरा सूक्ष्मस्वरूप है, अतएव ज्ञानान्न से होने वाले अनिष्टभाव का स्पष्टीकरण कर देते हैं। ज्ञान की खुराक यदि ठीक-ठीक मिल जाती है तो आत्मा में किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं होती। परन्तु यदि विरुद्धज्ञान आत्मा में घुस पड़ता है तो यह आत्मा उसी समय क्षुब्ध हो उठता है। इतना ही नहीं, विरुद्धज्ञान को प्राप्त होकर यह उस विरुद्धज्ञान के प्रदाता से द्वेष करने लगता है। इतना ही नहीं-बाजे मौके पर तो-यह उसे मार भी बैठता है। कल्पना कर लीजिए-कोई अपनी स्त्री के विषय में जो कि पतिव्रता है, किसी से सुन लेता है कि यह पुंश्चली हो गई। बस, इस विरुद्धज्ञान से प्राणप्रिया स्त्री से यह द्वेष करने लगता है और विरुद्धज्ञान यदि अतिमात्रा में बढ जाता है तो उसे मार भी बैठता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"वागर्थमश्नाति बलं भुनक्ति प्राणो मनो ज्ञानमलं भुनक्ति।
विरुद्धविज्ञानमवाप्य सद्यः क्षुभ्णाति विद्वेष्टि बिभेति हन्ति" ॥१८२॥

जिस प्रकार कमजोर आदमी ताकतवर मनुष्य के प्रबल आक्रमण से दबा दिया जाता है, उसके आक्रमण से वह दब जाता है-उस बलवान् मनुष्य के वशीभूत हो जाता है-तद्वत्-जो अल्पचेता मनुष्य है-जिसका मन कमजोर है-जो बुजदिल है, वह ऐसे ऐसे विरुद्धज्ञान को प्राप्त हो-उसी समय धैर्य्यच्युत हो जाता है। उसी समय वह अकुला उठता है। जरा किसी ने विरुद्धज्ञान का सपेटा मारा कि यह आपे से बाहर हुआ। परन्तु जो विद्वान् मनुष्य हैं, जिनका आत्मा बडा प्रबल है, विरुद्धज्ञान का उनके ऊपर चाहे कितना ही आक्रमण होवे-जरा भी उसकी पर्वाह नहीं करते। हँसते-हँसते-सारे विरुद्धभावों को सह जाते हैं। बस, मूर्ख और विद्वान् में-यही अन्तर है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथाल्पसारः प्रबलाक्रमेण प्रपीड्यते तद्वदिहाल्पचेताः[1]।
विरुद्धविज्ञानमवाप्य सद्यो धैर्य्यच्युतः स्यान्न तथा विपश्चित्" ॥१८३॥

भगवान् प्रजापति के शरीर की भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्-ये सात व्याहृतिएँ मानी जाती हैं। व्याहृति कहते हैं-नाम को। सातों ही प्रजापति के नाम हैं। यह प्रजापति जो कि

१ पूज्य ओझा जी के मूल ग्रन्थ में 'तद्वहादिहाल्पचेताः' पाठ छपा है।

पौराणिक परिभाषा में 'ईश्वर' नाम से व्यवहृत होता है–सात अवयवों में विभक्त है। भूः पृथिवी-लोक है, भुवः अन्तरिक्ष-लोक है, स्वः सूर्य्यलोक है, महः सूर्य्य के ऊपर के अन्तरिक्ष का नाम है। जनः परमेष्ठि-लोक है। मैथुनीसृष्टि का प्रारम्भ इसी आपोमय परमेष्ठिमण्डल से होता है, अतएव इसे 'जनत्' कहा जाता है एवं परमेष्ठि-मण्डल के ऊपर का जो अन्तरिक्ष है–वह तपोलोक कहलाता है एवं उससे ऊपर का स्वयम्भू-मण्डल सत्यलोक कहलाता है। इस सत्य के अर्थात् स्वयम्भू के पूर्वोक्त ६ओं लोकों के अधिष्ठाता देवता मयलोकों के परिक्रमा लगाया करते हैं एवं स्वयम्भू भगवान् बिल्कुल स्थिर रहकर और सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहते हैं। ६चल हैं–एक स्थिर है। ६ओं का अधिष्ठाता वही सत्य है। इसी अभिप्राय से वेद भगवान् कहते हैं—

"अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्" ॥[1]

वेद में पृथिवी को माता कहा जाता है एवं द्यौ को पिता कहा जाता है। पृथिवी और द्यौ के रस से ही–मेल से ही यच्चयावत् प्राणि उत्पन्न होते हैं, अतएव इन्हें माता-पिता कहा जाता है। चूंकि रोदसी–क्रन्दसी–संयती भेदेन तीन त्रिलोकी हैं, इसलिए तीन ही माता बतलाई जाती हैं, तीन ही पिता बतलाये जाते हैं। इन ६ओं का अधिष्ठाता वही सत्य है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्" ॥[2]

कहने का तात्पर्य यही है कि भगवान् प्रजापति की भूः–भुवः–आदि सात व्याहृतिएँ हैं। चूंकि ये सात ही प्रजापति की व्याहृतिएँ हैं। सात से अलावा और आठवीं वस्तु है ही नहीं, अतएव हमारे शरीर में भी कुल सात ही वस्तु रहती हैं। जो कुछ वहाँ है–वही यहाँ है। जो कुछ अधिदैवत में है–वही अध्यात्म एवं अधिभूत में है। जरा भी फर्क नहीं है। इसीलिए तो–'**यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह**'[3]–यह हमारा घण्टाघोष है।

हमारे शरीर में मन, प्राण, वाक् वायु, तेज, जल और मिट्टी ये सात पदार्थ हैं। बस, जो सत्यलोक है वह मन का अधिष्ठाता है। मन ही को ज्ञान कहा है एवं यही सत्यलोक ज्ञानाधिष्ठाता है। सत्य के बाद में है तपोलोक। बस, हमारे शरीर में जो प्राण का हिस्सा है वह तपोलोक की चीज है। इसी प्राण को–इसी तप को क्रिया भी कहते हैं। तीसरा लोक है जनत्–लोक। इसी का दूसरा नाम है परमेष्ठिलोक। परमेष्ठि से वाक् का सम्बन्ध है। वाक् कहते हैं भूत को। भूतसृष्टि का

१ ऋग्वेद मं० १।१६४।६। २ ऋग्वेद मं० १।१६४।१०।
३ कठोप० २।४।१०।

प्रारम्भ इसी परमेष्ठिमण्डल से होता है। पहला भूत यही परमेष्ठी है। चूंकि यह भूत अन्य भूतों की अपेक्षा अतिसूक्ष्म है, अतएव इसे आकाश भी कहा जाता है। शरीर में जो वाक् का अर्थात् शब्द का अधिष्ठाता है वह यही वाक्लोक है अर्थात् परमेष्ठिलोक है। चौथा लोक है महर्लोक। यह सूर्य्य और परमेष्ठि के बीच का लोक है। इसी से वायु का सम्बन्ध है। चूंकि यह वायु परमेष्ठि के उदर में ही रहता है, अतएव इसे पारमेठ्य भी कहा करते हैं। शरीरस्थ वायु का अधिष्ठाता यही महर्लोक है। बाद में है स्वर्लोक जिसे कि सूर्य्यलोक भी कहते हैं। शरीरस्थ तेज इसी सूर्य्य की वस्तु है एवं स्वः के बाद है भुवर्लोक। शरीरस्थ पानी का हिस्सा इसी भुवर्लोक की वस्तु है। सातवां लोक है भूर्लोक। बस, शरीरस्थ मिट्टी का हिस्सा इसी पृथिवी की चीज है। प्रजापति सप्तावयव हैं तो प्रजापति के अंशभूत हम भी सप्तावयव ही हैं। उन्हीं सातों का नाम 'अहं' भाव है। चूंकि सात के अलावा और आठवीं कोई वस्तु नहीं है, अतएव शरीरस्थ सातों के क्रमशः सात ही अन्न हैं। नीचे लिखी तालिका से सारा क्रम स्पष्ट हो जाता है—

		आत्मा	अन्नानि	
१ भूः	पृथिवी	१ मिट्टी	मिट्टी	→अर्थ १
२ भूवः	अन्तरिक्ष	२ पानी	पानी	
३ स्वः	द्यौः (सूर्य्य)	३ तेज	तेज	
४ महः	वायु	४ वायु	वायु	
५ जनत्	वाक्	५ वाक्	शब्द	
६ तपः	प्राण	६ प्राण	क्रिया	→क्रिया २
७ सत्यम्	मन	७ मन	ज्ञान	→ज्ञान ३

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि इन सात ही अन्नों में प्रसन्नाप्रसन्न भेद से अनन्तानन्त विशेष भाव पैदा हो जाते हैं। मनुष्यों की प्रकृति सर्वथा भिन्न है, अतएव प्रकृत्यनुसार अन्नभेद हो जाता है। किसी के लिए कोई अच्छा है तो वही दूसरे के लिए बुरा है। कई अन्न ऐसे हैं जो खाते ही विरोध पैदा कर देते हैं। कई खाते ही तबियत खुश कर देते हैं। इनके स्पष्ट विभाग जानने के लिए आयुर्वेद की शरण में जाना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सप्तस्वपि व्याहृतिषु प्रसन्नाप्रसन्नभेदाद् बहवो विशेषाः।
कांश्चिद्विरुन्धन्ति च केचिदेषां मेद्यन्ति केपीति पृथक् प्रविद्यात्" ॥१८४॥

८–आत्मनि कामासक्त्या दुःखोपपत्तिः ।

आत्मा में कामासक्ति होने से दुःखोपपत्तिः—

यह प्रज्ञानात्मा काममय है । काम इसका प्रातिस्विक धर्म्म है । यदि यह काममय न होता तो इसे संसार का कोई भी भोग्यपदार्थ अच्छा ही नहीं लगता । परन्तु हम देखते हैं कि इसे भोग्यपदार्थ अत्यन्त ही प्रिय मालूम होते हैं, अतएव मानना पड़ता है कि यह आत्मा अवश्य ही काममय है । इसीलिए प्रकरण के ५वें सूत्र के १६७वें श्लोक में **कामोऽयमात्मांशुरनेन०**–इत्यादि से आत्मा को काममय बतलाया गया है । आत्मा अवश्य ही काममय है । बस, इसीलिए यह आत्मा कामद्वारा–स्वांशद्वारा विषय पर जाके आक्रान्त हो जाता है । भोग्यपदार्थ इसके पेट में आ जाता है । आत्मा रश्मियों द्वारा–अर्थात् कामद्वारा भोग्य के साथ बद्ध हो जाता है । ऐसी हालत में जिस समय यह आत्मा इस काम से अलग होता है तो इसका अंश उस भोग्य के साथ खिचता है । जो आत्मा का अंश भोग्य के साथ बद्ध हो गया था–भोग्य के बिछोह होने से–काम से अलग होने से यह उसी के साथ चला जाता है । बस, इससे आत्मा अलग हो जाता है–यही इस आत्मा का दुःख है । कमी का नाम ही तो दुःख है । आत्मा उसमें जाके ऐसा चिपक जाता है जैसे कागळी फोड़े पर । जैसे कागळी उतरते समय आत्मांश को लेती हुई अतएव कष्ट देती है तद्वत्–निवृत्तकाम–आत्मांश को ले जाने के कारण आत्मा के कष्ट का कारण बनता है । काम-व्यपघात ही आत्महानि का कारण है । क्योंकि उसके साथ ग्रन्थिबन्धन में बँधे हुए आत्मा को कट जाना पड़ता है–बस, इसी का नाम दुःख है । आत्मा रसस्वरूप है । जब भोग्य के साथ इसका सम्बन्ध हो जाता है तो बलस्वरूप भोग्य के साथ आने वाले रस से रसस्वरूप आत्मा का आयतन बढता जाता है । इस रसवृद्धि का नाम ही आनन्द है । परन्तु जब भोग्य का सम्बन्ध टूटता है तो उसके साथ ही आत्मा का रसभाग भी जाता है । बस, रस का जाना आनन्द की मात्रा का ही जाना है । यही कमी आत्मा के दुःख का कारण बनती है । आत्मा काममय है–इच्छामय है । जिस पदार्थ के साथ आत्मइच्छा का सम्बन्ध हो जाता है–वह काम–वह इच्छा यदि नष्ट कर दी जाती है । काम को भोग्य से अलग कर दिया जाता है अर्थात् भोग्य का सम्बन्ध आत्मा से तुड़वा दिया जाता है तो रसालभ्यता के कारण–इच्छा के (काम के) व्यपघात के कारण यह आत्मा दुःखी हो जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

> "आत्माह्ययं काममयोस्ति यस्मान्निवर्तते स्वत्वममुष्य कामात् ।
> आत्मांशकामव्यपघातहेतोरात्मा विहन्येत तदस्य दुःखम्" ।।१८५।।

काम हानि से आत्मा का नाश होता है । काम-व्यपघात ही आत्महानि का कारण है । इसमें कई दार्शनिक एतराज करते हैं । उनका कहना है कि दुःख क्यों होता है ? इसका कारण बतलाने वाले ने कामहानि से जो आत्महानि बतलाई है–वह मत नितान्त अशुद्ध है । शून्य है अर्थात् अपूर्ण है । कामहानि से आत्महानि कभी बन ही नहीं सकती । आत्मा की इच्छा का नाम ही–कामना है । पुरोवस्थित विषय पर आक्रमण करने वाली–उस विषय को चाहने वाली–आत्मा से बाहर की ओर

निकलने वाली जो आत्मरश्मियों की समष्टि है-उसी का नाम कामना एवं इच्छा है, एवं यह कामना जिस विषय को चाहती है-उस विषय का नाम काम है। चूंकि वह भोग्यपदार्थ आत्मकामना का विषय बनता है, अतएव उस विषय का नाम 'काम' है। सिद्धान्त की ओर लक्ष्य रख के पूर्व के श्लोक में हमने काम को 'कामना' कह दिया है। वस्तुत: काम नाम है-विषय का। बस, इस काम से-भोग्यपदार्थ से जब आत्मा का बिछोह होता है तो आत्महानि होती है। काम के नष्ट होने से-भोग्यपदार्थ के नष्ट होने से-आत्मा की हानि होती है-इसी का नाम दुःख है। हमने अब तक यही बतलाया है। वादी इस पर पूर्व पक्ष करता है कि कामहानि से अर्थात् भोग्यपदार्थ के विनाश से आत्महानि बताना सर्वथा अशुद्ध है। भोग्य विनाश से आत्मविनाश होता है-यह मत सर्वथा रिक्त है अर्थात् थोथा है। इस मत में कुछ भी सार नहीं है। क्योंकि आत्मा तो उस काम को लेने वाला और छोडने वाला है। काम को अर्थात् भोग्य को आत्मा लेता है एवं कालान्तर में छोड देता है। भला, इस कामहानि से आत्महानि क्यों कर हो सकती है? हमने एक गेन्द हाथ में ले ली एवं थोड़ी देर में वह गेन्द हाथ से निकल गई-नष्ट हो गई, तो क्या गेन्द के साथ हमारा भी नाश हो जाएगा? हर्गिज नहीं, अतः कामहानि से-भोग्यविनाश से आत्महानि कथमपि नहीं हो सकती-यह सिद्धान्त समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"अथाहुरेतन्मतमस्ति रिक्तं यत्कामहान्याह तदात्महानिम्।
आत्मा हि गृह्णाति जहाति कामं कुतो विहीयेत स कामहान्या" ॥१८६॥

स्थूलदृष्टि से देखने पर वास्तव में वादी का मत अच्छा लगता है। गेन्द का दृष्टान्त भी बहुत अच्छा है। परन्तु जरा सूक्ष्मदृष्टि से देखने की जरूरत है। मालूम हो जाएगा-कामहानि से आत्महानि होती है या नहीं। हमने बतलाया है कि यह आत्मा कामसमर्पित हो जाता है। अर्थात् भोग्यपदार्थ के साथ आत्मा का सम्बन्ध हो जाता है। चूंकि सम्बन्ध आसक्ति-अनासक्ति भेदेन दो प्रकार का है, अतएव काम समर्पित आत्मा-विषयावच्छिन्न आत्मा भी आसक्ति-अनासक्ति सम्बन्धभेदेन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है।

विषय के साथ अर्थात् काम के साथ सम्बन्ध करने वाले मनुष्य का जो आत्मा है-वह सकाम कहलाता है। विषयों के साथ सम्बन्ध आसक्ति और अनासक्तिभेदेन दो प्रकार का होता है। जो मनुष्य अनासक्तिसम्बन्धेन अर्थात् विभूतिसम्बन्धेन-विषयों के साथ युक्त होता है-उनका आत्मा कामानुग कहलाता है। काम के साथ आत्मा अवश्य रहता है-परन्तु काम स्वयं नहीं बन जाता। आसक्ति कहते हैं-ममत्व को। **मम इदम्**-इस प्रकार का जो ममत्व है-इसी का नाम आसक्ति है। बस, यह जो **मम इदम्**-है-वही आत्मा को काममय बना देता है। स्त्रीपुत्रादि विषयों में आसक्तिसम्बन्धेन युक्त आत्मा स्त्रीपुत्रादि को पृथक् नहीं समझता। मेरे स्त्रीपुत्रादि मेरे नहीं हैं-अपि तु, स्त्रीपुत्रादि भी मैं ही हूँ-बस, इसी का नाम आसक्ति है। परन्तु जो अनासक्ति पूर्वक-ममत्व को छोडकर विषयों से युक्त होता है-वह आत्मा केवल कामानुग कहलाता है। चूंकि विषय के साथ उस आत्मा का बन्धन

नहीं होने पाता, केवल योगमात्र रहता है, अतएव अनासक्तिसम्बन्धवाला आत्मा कामानुग ही रहता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि काम से सम्बन्ध रखने वाले–भोग्यपदार्थ से योग करने वाले मनुष्य का आत्मा 'सकाम' कहलाता है। यह सकाम आत्मा आसक्ति–अनासक्ति सम्बन्धभेदेन कामानुग और काममयस्वरूप–इन दो भावों में परिणत हो जाता है। अनासक्त विषययुक्त आत्मा 'कामानुग' रहता है, विषयासक्त काममय हो जाता है। इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अत्रोच्यते कामसमर्पितः स्यादासक्त्यनासक्तिवशाद् द्विधायम्।
कामप्रसक्तस्य सकाम आत्मा कामानुगः काममयस्वरूपः" ।।१८७।।

कामानुग और काममय–इन दोनों में से पहले हम काममय का विचार करते हैं। आसक्ति सम्बन्ध के कारण जिस सकाम पुरुष का आत्मा काममय हो गया है–आसक्ति के कारण जिसका आत्मा कामस्वरूप ही बन गया है–ऐसे काममय पुरुष का आत्मा उन कामों में अर्थात् विषयों में ही विभक्त होकर बैठ जाता है। आत्मा का हिस्सा उन कामों में ही बैठ जाता है। यदि द्रव्य पर किसी की आसक्ति होती है तो लोक में उसके लिए कहा जाता है कि–'इसका तो जीव धन में बैठा है'। वास्तव में बात सच है। आत्मा का अंश वाकई उन कामों में विभक्त होकर–आसक्त होकर बैठ जाता है—

बस, ऐसी हालत में इस आत्मा का काम जितना नष्ट हो जाता है, उस काम में बद्ध उस आत्मा का अंश भी अवश्य ही नष्ट हो जाता है। कल्पना कर लीजिए, किसी के पास बीस हजार रुपये हैं एवं उन रुपयों में आसक्ति के कारण उसका आत्मा फँसा हुआ है। यदि उस द्रव्य को चोर चुरा ले जाते हैं तो बस, उसी समय उस द्रव्यासक्त पुरुष के प्राण निकल जाते हैं। ऐसे निदर्शन हम हजारों बतला सकते हैं। भला, फिर क्यों न हम कामहानि से आत्महानि बतलावें। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कामात्मनः काममयस्य चात्मा कामेषु तेष्वेव विभक्त आस्ते।
कामोऽस्य यावानुपहन्यतेऽयं तावांस्तदात्माऽप्युपहन्यतेऽस्य" ।।१८८।।

तात्पर्य्य यही हुआ कि आसक्ति सम्बन्ध के कारण आत्मा काममय बन जाता है। उन कामों में आत्मा का अंश विभक्त होकर काममय बन जाता है। बस, जब वह काम नष्ट होता है तो उसके साथ में रहने वाले आत्मांश का भी अवश्य ही विनाश होता है। बस, इसी का नाम दुःख है।

अब लीजिए–अनासक्ति सम्बन्ध की चर्चा—

विषयों में यदि आसक्ति नहीं रहती है तो वह आत्मा केवल कामानुग कहलाता है। अनासक्त आत्मा काम के साथ मिला मात्र रहता है, परन्तु तन्मय नहीं बनता। बस, इसी सम्बन्ध को 'विभूति-सम्बन्ध' कहते हैं। सूर्य्य की जो रश्मिएँ सुवर्ण बन गई हैं–यह तो बन्ध-सम्बन्ध है–इसी को आसक्ति कहते

हैं। सुवर्ण के नाश से अवश्य उन रश्मियों का विनाश है। परन्तु सुवर्ण में जो ऊपर से रश्मियों का सम्बन्ध है–यही विभूतिसम्बन्ध है।

प्रकृत में हमें यही कहना है–अनासक्तिपूर्वक आत्मा का विषय के साथ जो सम्बन्ध है–वही विभूतिसम्बन्ध कहलाता है। इसमें यद्यपि आत्महानि नहीं है–अपि तु, विभूति की हानि अवश्य ही है। बस, इस विभूति की हानि में भी दुःख अवश्य ही होता है। जब काम का (भोग्य का) विनाश होता है तो इस कामविनाश से अंश का भी–विभूति का भी नाश होता है। बस, कामहानि से–भोग्यपदार्थ के विनाश से जो आत्मा का उदर है–आत्मा की व्याप्ति है–उसमें अन्तर हो जाता है। बस, इसी अन्तर से आत्मा दुःख को प्राप्त हो जाता है।

आसक्ति से तो आत्महानि होती है, अतः आसक्ति के विषय में आसक्ति ही दुःख का कारण है एवं अनासक्ति में तो केवल कामहानि ही दुःख का कारण है। आत्मा और भोग्य के बीच में अन्तर आ जाना–आत्मा का भोग्य से बिछोह हो जाना–इससे भी आत्मा को दुःख होता है एवं आत्महानि से भी दुःख होता है। एक जगह काम ही केवल दुःख का कारण है। एक जगह–आसक्ति दुःख का कारण है। इस प्रकार काम और आसक्ति से ही आत्मा में दुःखोपपत्ति होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथापि वा तस्य विभूतिरस्मिन् कामेऽस्ति कामे विहते हता सा।
आत्मोदरेऽभूदिदमन्तरं यत् कामस्य हान्या तदवैति दुःखम्" ॥१८९॥

यह तो हुई–प्राप्तकाम की मीमांसा। अब अप्राप्तकाम की ओर चलिए। जिस काम का अर्थात् भोग्यपदार्थ का आत्मा के साथ अभी तक सम्बन्ध नहीं हुआ है–वह आत्मा अप्राप्तकाम कहलाता है। प्राप्तकाम आत्मा से यदि काम हट जाता एवं तब जैसे आत्मा को दुःख होता है तद्वत् अप्राप्तकाम आत्मा को भी तब तक दुःख होता रहता है जब तक कि उसे वह ऐच्छिक भोग्य पदार्थ न मिल जाय–बस, इसी का स्पष्टीकरण किया जाता है—

जो काम (पदार्थ) अभी अप्राप्त है–यदि उस अप्राप्तकाम की यह आत्मा इच्छा करता है–तो वहाँ भी उस काम को पाने के लिए यह आत्मा बढता रहता है। अर्थात्–इसमें उत्तरोत्तर बेचैनी बढती रहती है। कब मिले ? कब मिले ?–इस प्रकार से भूख की वृद्धि होती रहती है। बस, जब तक इच्छानुकूल भोग्यपदार्थ को यह आत्मा प्राप्त नही कर लेता है तब तक दुःख पाता रहता है–अकुलाता रहता है–छटपटाता रहता है। कहना इस सारे प्रकरण से हमें यही है कि हर हालत में दुःखोपपत्ति के कारण–आसक्ति और काम ही हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अप्राप्तकामं यदि कामयेत तत्रापि कामावपनार्थमात्मा।
संवर्द्धते तत्र न यावदेति कामं स तावत् समुपैति दुःखम्" ॥१९०॥

—❀—

९–दुःखस्य भयपूर्वकत्वनियमः ।

भयपूर्वक ही दुःख होता है—

भय दुःख से एवं भय से दुःख–दोनों परस्पर मिलकर के ही अपना स्वरूप प्रकट करते हैं । न दुःख के विना भय होता है, न भय के विना दुःख होता है । दोनों ऐसे मिले जुले रहते हैं–जिनकी पूर्वा-परता भी नहीं की जा सकती–चूँकि दोनों मिलकर अपना स्वरूप कायम करते हैं अतएव हम कह सकते हैं कि यदि दुःख नहीं है–तो भय नहीं है एवं भय नहीं है–तो वहाँ हर्गिज दुःख का उदय नहीं होता है । यदि दुःख है तो भय भी है एवं यदि भय है तो दुःख भी है, जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भयं नु दुःखेन भयेन दुःखं समन्वितं रूपमुदेति तस्मात् ।
दुःखं न चेन्नास्ति भयं भयं वा न चेन्न दुःखं समुदेति तत्र" ।।१९१।।

वादी हमारे पूर्वोक्त सिद्धान्त पर आक्षेप करता हुआ कहता है कि भय विना दुःख के नहीं होता–जब दुःख होता है तभी भय होता है । यदि दुःख नहीं है तो भय भी नहीं है–हम तुम्हारी यह बात तो यथाकथञ्चित् स्वीकार करने के लिए तय्यार हैं, परन्तु विना भय के दुःख नहीं होता–यदि भय नहीं है तो दुःख भी नहीं होता है–भय का यह सिद्धान्त सर्वथा गलत है । 'भय के विना दुःख हो ही नहीं सकता'–यह मत कभी भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि हम विना भय के भी दुःखोदय देखते हैं ।

कल्पना कर लीजिए–एक आदमी रास्ते में जा रहा है एवं उस पर ऊपर से अकस्मात् एक मण-भर का पत्थर गिर पड़ा । बस, इस आकस्मिक आघात के कारण या तो हाथ-पैर टूट जाते हैं अथवा मृत्यु हो जाती है–तो दोनों ही अवस्थाओं में यह मनुष्य दुःख का अनुभव करता–इसे भय जरा भी नहीं लगता । आकस्मिक आघात से दुःख ही होता है–भय नहीं होता, अतएव हम कह सकते हैं कि–विना भय के दुःख नहीं होता"–यह मत सर्वथा रिक्त है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथाहुरेतन्मतमस्ति रिक्तं दुःखं च नोदेति भयं विनेति ।
आकस्मिकाघातवशात् स्वहानौ मृतौ च दुःखं क्रमते न भीतिः" ।।१९२।।

इस पूर्वपक्ष के विषय में हमें यही कहना है कि–"भय के विना दुःख कभी नहीं हो सकता है"–हमारे इस सिद्धान्त का विघात किसी प्रकार से भी नहीं किया जा सकता । विना भय के दुःख नहीं हो सकता है–यह असल सिद्धान्त समझना चाहिए । कम्प के विना आत्मावसाद कभी नहीं हो सकता है । जब तक प्रज्ञानात्मा कम्पित नहीं होता अर्थात् जब तक स्थान से विचलित नहीं होता तब तक उसका अवसाद (पतन) कथमपि नहीं हो सकता । एक वृक्ष सामने खड़ा है । वह गिर गया और परन्तु कम्पित न हुआ–इस बात को कौन मान सकता है ? स्थिति के विचलित हुए विना भी कभी वृक्ष गिर सकता है ? हर्गिज नहीं । स्थितिविच्युति का नाम ही तो 'कम्प' है । अतएव हम कह सकते हैं कि

विना कम्प के आत्मावसाद नहीं हो सकता। कम्प ही का नाम तो भय है। भला मृत्यु हो जाय और कम्प न हो। मृत्यु-दुःख उत्पन्न हो जाय और कम्प अर्थात् भय न हो—ऐसा हर्गिज नहीं हो सकता। अतएव हम दावे के साथ कह सकते हैं कि विना भय के दुःख नहीं हो सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अत्रोच्यते नास्ति भयादृते तद् दुःखं न कम्पेन विनावसादः स्यादात्मनः"।

अपि च—काम अर्थात् भोग्यपदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी यदि आत्मकम्प नहीं है तो दुःख कभी नहीं हो सकता है। कितने ही विषय हमारे से अलग हो जाते हैं परन्तु उनसे आत्मकम्पन नहीं होता उन विषयों के चले जाने से आत्मा अपनी जगह नहीं छोडता अपि तु, पूर्ववत् ही प्रतिष्ठित रहता है। कामहानि पर भी दुःख तभी होता है जब कि आत्मकम्प हो। कम्प ही दुःख का मूल है। ऐसी अवस्था में—**'नास्ति भयादृते दुःखम्'** हमारे इस मत को कैसे काटा जा सकता है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अत्रोच्यते नास्ति भयादृते तद् दुःखं न कम्पेन विनावसादः।
स्यादात्मनोऽथास्ति न कामहानौ चेदात्मकम्पो न तदास्ति दुःखम्" ॥१६३॥

यदि दुःख विना भय के नहीं होता है तो फिर आकस्मिक आघात में उस भय का अनुभव क्यों नहीं होता?—आपका एक मात्र यह प्रश्न बाकी बच जाता है। इस प्रश्न का उत्तर देकर हम आपके संशय को मिटा देते हैं। प्रज्ञानात्मा के (१) मन, (२) प्राण, (३) वाक्, (४) वायु, (५) तेज, (६) जल और (७) मिट्टी—हमने ये सात परिग्रह बतलाएँ हैं। ये सातों ही प्रज्ञा के अंग कहलाते हैं। बस, जब इन सातों में कम्प होता है तो इस कम्प को वह प्रज्ञानात्मा अनुभव कर लेता है। आत्मा के सप्त परिग्रह में स्थित जो कम्प है—इन सातों में होने वाला जो कम्प है अर्थात् भय है, उसका प्रज्ञान द्वारा अनुभव हो जाता है। परन्तु जब प्रज्ञान स्वयं कम्पित हो जाता है तो इस द्रष्टा-स्वरूप प्रज्ञानात्मा का प्रसादगुण एकदम मारा जाता है। बस, इसीलिए भय का अनुभव नहीं होता। भय का अनुभव करने वाला है—प्रज्ञान। भला, जब वह स्वयं भयभीत हो जाए (कम्पित हो जाए) तो फिर इसका अनुभव करे ही कौन। आकस्मिक आघात में प्रज्ञा प्रकम्प नहीं होता-इसका यही कारण है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"किन्त्वात्मनः सप्तपरिग्रहस्थे कम्पे भयस्यानुभवो धियास्ति।
प्रकम्पिते त्वात्मनि न प्रसादो द्रष्टु स्ततो नानुभवो भयस्य" ॥१६४॥

आकस्मिक आघात में भी प्रज्ञाङ्गकम्प अवश्य ही होता है। मृत्यु के समय भी प्रज्ञाङ्गकम्प अवश्य ही होता है। परन्तु एक क्षणमात्र में—वह कम्प एकदम सातों (आत्मा के सातों परिग्रहों) में हो जाता है। बस, इसी आत्यन्तिक वेग के कारण इस भय का अनुभव नहीं हो सकता। जैसे आत्यन्तिक

दु:ख का भी अनुभव नहीं होता है तद्वत् आत्यान्तिक वेग के कारण भयानुभव भी नहीं होता है। ऐसी अवस्था में 'अनुभव नहीं होता'–केवल इस तर्क से भयपूर्वकत्व कम्प नियम को नहीं काटा जा सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्कालमृत्यौ तु भयं क्षणेन स्थानेषु सप्तस्वपि सर्प्यमाणम्।
गृह्येत नात्यन्तिकवेगहेतोर्न गृह्यते दु:खमपीह तद्वत्"॥१६५॥

अथवा जाने दो इस झगड़े ही को। आकस्मिक आघात से होने वाला दु:ख सर्वात्मना दु:ख ही है। उसमें भय है ही नहीं। भय का स्वरूप दु:ख से पृथक् ही है। चाहे कुछ भी मान लो। हमारा इस झगड़े से कोई प्रयोजन नही है। हमें सिर्फ कहना इतना ही है कि काम और आसक्ति ही आत्मा के भय और दु:ख के कारण हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथास्तु वा दु:खमिदं समस्तं भयस्वरूपं पृथगात्मकं वा।
यथा तथा वास्तु तथापि कामासक्त्यात्मनो दु:खमिदं भयं च" ॥१६६॥

———※———

१०–प्रज्ञाशरीरोपष्टम्भभेदाद् दु:खद्वैविध्यम्।

प्रज्ञा एवं शरीरोपष्टम्भभेदाद् दु:खद्वैविध्यम्—

पूर्व प्रकरण में आत्मा और उसके अङ्ग–इन भागों का जिक्र किया गया है। आत्मा प्रज्ञान नाम से प्रसिद्ध है, अङ्गसमष्टि शरीर नाम से प्रसिद्ध है। चूंकि अहं भाव में प्रज्ञानात्मा और शरीर दो पार्ट हैं, अतएव दु:ख भी दो ही प्रकार का होता है। बात है भी वास्तव में सच। कम्प का नाम भय है एवं यही भय दु:ख का मूल है। परन्तु प्रज्ञा के अङ्गों के कम्पन से जो भय होता है–वह भय न कहलाकर दु:ख कहलाने लगता है। प्रज्ञाङ्गकम्प–दु:ख कहलाता है–इसमें कम्प (भय) होता अवश्य है, परन्तु उसका अनुभव नहीं होता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु–इत्यादि जो भूत हैं–वे ही 'प्रज्ञाङ्ग' कहलाते हैं। इनमें जब किसी प्रकार का कम्पन होता है–काँटा वगैरह चुभने से जो इनमें कम्प होता है–वह दु:ख उत्पन्न करता हुआ आप स्वयं तिरोहित हो जाता है। प्रज्ञाङ्गकम्प में भय का अनुभव नहीं होता–इसी दु:ख को 'रोग' कहते हैं। बुखार आ जाना–माथा दु:ख जाना–सर्दी लग जाना–ये भूतों का विकृति फल हैं। पूर्वोक्त दु:खों में भय का अनुभव नहीं होता। केवल दु:ख ही दु:ख का अनुभव होता है।

तात्पर्य्य यही है कि इस शरीर प्रपञ्च में दु:ख दो ही प्रकार से होता है–(१) प्रज्ञा के आधार से एवं (२) शरीराधार से। या तो प्रज्ञाप्रकम्पात् दु:ख होता है या प्रज्ञाङ्गप्रकम्पात् दु:ख होता है। इन दोनों में से भूतों के कम्पन से (प्रज्ञाङ्गकम्पन से) जो दु:ख होता है–वहाँ केवल दु:ख ही है–वहाँ भय नहीं

रहता। नहीं रहता का तात्पर्य्य–'अनुभव नहीं होता' यही समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"द्वेधा च तद्दुःखमिह प्रवर्तते प्रज्ञामुपक्रम्य शरीरमेति वा।
भूतान्युपक्रम्य धियं समेति वा रुजैव तत्रास्ति भयं न दृश्यते" ॥१६७॥

———

११–अनासक्तौ स्थितप्रज्ञता।

अनासक्ति में स्थितप्रज्ञता—

आसक्ति और अनासक्ति भेदेन विषय-सम्बन्ध दो प्रकार का होता है।–'**मम इदम्**'–इस प्रकार ममत्वपूर्वक भोग्यपदार्थों के साथ जो आत्मा का सम्बन्ध है, उसे आसक्ति सम्बन्ध कहते हैं। आसक्ति सम्बन्ध से आत्मा काममय हो जाता है। अर्थात्–भोग्यपदार्थ में आत्मांश विभक्त हो जाता है अतएव आसक्ति सम्बन्ध से बद्ध काममय आत्मा का जब काम से अर्थात् भोग्य से बिछोह होता है तो काम के साथ आत्मांश के भी नष्ट होने से यह आत्मा दुःखी होता है। आसक्ति ही तो दुःख का कारण है। परन्तु जो आत्मा विषयों के साथ–'**मम इदम्**'–इस ममत्व को छोडकर युक्त होता है–ममत्व-शून्य आत्मा का विषय के साथ जो सम्बन्ध है–वह 'अनासक्ति-सम्बन्ध' कहलाता है। इसमें आत्मा विभूति-सम्बन्धेन विषयानुगमात्र रहता है–विषय के साथ रहता मात्र है। आसक्ति की तरह बन्धन में आ कर तन्मय नहीं हो जाता। इस प्रकार कामों में अर्थात् भोग्य-पदार्थों में अनासक्त जो आत्मा है, वह इस अनासक्ति के कारण ही–ममता न रहने के कारण ही–उन भोग्य-पदार्थों के विनाश से स्वयं नष्ट नहीं होता। ममता ही आत्महानि का कारण है। यदि विषयों में ममता नहीं है–और फिर उनसे केवल विभूति सम्बन्ध है–तो उनके विनाश से आत्महानि नहीं होती। बस, जब कि हानि नहीं होती है तो–यह आत्मा स्थिति से विचलित भी नहीं होता। यदि विषयों में आसक्ति द्वारा यह फँस जाता–काममय बन जाता तो कामविनाश से उस बन्धन के कारण आत्मा हिल पड़ता। जैसे एक रस्से से थूण बन्धा हुआ है। अब यदि उस थूण को हटाया जाता है–रस्से से अलग किया जाता है तो वह रस्सा अवश्य ही हिल पड़ता है। परन्तु उसी खूंटे पर अनासक्तिसम्बन्धेन व्याप्त होने वाला सौर-प्रकाश है–अर्थात् धूप है–वह खूंटे के हजार दफे हिलने पर भी ज्यों का त्यों रहता है। उसके स्थिरभाव में जरा भी बाधा नहीं आती। बस, यही बात आसक्ति-अनासक्ति के सम्बन्ध के विषय में समझनी चाहिए। आसक्ति बन्धन-सम्बन्ध है, अनासक्ति विभूतिसम्बन्ध है। अनासक्तिमित जो आत्मा है–वह विषयानुग रहने पर भी बेलाग सा ही रहता है, अतएव विषय के नष्ट होने पर–विभूति सम्बन्ध के बाहर निकलने पर भी आत्मा विचलित नहीं होता–अपनी स्थिति को नहीं छोडता। विचलित हो कैसे? जब कि विचलित होने का कोई कारण ही नहीं है। कारण-आसक्ति–यदि नहीं हो तो फिर विचाली भाव कैसे? बस, विचाल-

हेतु के अभाव के कारण ही इस आत्मा के लिए-'संस्थितधीः' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी अवस्था का नाम 'स्थितप्रज्ञता' है।

तात्पर्य्य यही है कि अनासक्तिपूर्वक कामों से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा कामघात से नष्ट नहीं होता एवं न विचलित ही होता। चूँकि विचलित नहीं होता, अतएव-ऐसे आत्मा के लिए **"संस्थितधीः"** शब्द का प्रयोग होता है-जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कामेष्वनासक्तिमितो य आत्मा न कामघातादयमेति घातम् ।
नायं विचाल्येत विचालहेतोरभावतः संस्थितधीरिहोक्तिः" ॥१६८॥

स्थितिविच्युति का नाम ही कम्प है। कम्प का नाम ही भय है। भय ही दुःख का मूल है। जो अनासक्ति सम्बन्ध का उपासक है, उसका आत्मा चूँकि विषयों में बद्ध नहीं होता, अतएव काम (भोग्य) विनाश होने पर भी वह विचलित नहीं होता-स्थिर ही रहता है। बस, जिसका आत्मा स्थिर होता है-उसको दुःख नहीं हुआ करता। हो कैसे ?-स्थिर और विचाली-ये तो अत्यन्त विरुद्ध धर्म्म हैं। विचालीभाव का नाम ही भय है। भय ही दुःख का मूल है। भला, जिसका आत्मा जरा भी विचलित नहीं है-उसे दुःख क्यों कर हो सकता है ? बस, इसी कारण से स्थितप्रज्ञ मनुष्य स्वसंपत्ति के विनाश से भी दुःख से अलग रहता है-न उसे विषयों से सुख होता है-न दुःख होता है। इसीलिए—

**"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्" ॥[1]**

अर्जुन के यह पूँछने पर भगवान् स्थितप्रज्ञ का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

**"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते" ॥**

**"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते" ॥[2]**

यह स्थितप्रज्ञता एक मात्र अनासक्ति से ही उत्पन्न होती है-यही सारे प्रपञ्च का सार है एवं स्थितप्रज्ञता में विचालीभाव रहता नहीं। विचालीभाव का नाम ही भय है, भय ही दुःख का मूल है; अतएव सर्वस्व नष्ट हो जाने पर भी स्थितप्रज्ञ को दुःख नहीं होता-यही स्थितप्रज्ञता का फल है जैसा कि श्री गुरुवर ओझा जी ने कहा है—

१ गीता २।५४। २ गीता ३।५५-५६।

"आत्मा स्थिरो यस्य न तस्य दुःखं स्थिरो विचालीति विरुद्धमेतत् ।
ततः स्थितप्रज्ञ इह स्ववित्तादिकामहान्यापि न दुःखमेति" ॥१९९॥

१२–अज्ञानमूलासक्तिः, ज्ञानमूलाऽनासक्तिः ।

अज्ञानमूला आसक्ति, ज्ञानमूला अनासक्ति—

जो आसक्ति बन्धन में डालने वाली है–मनुष्य को सर्वथा गड्डे में डालने वाली है–इसका एकमात्र कारण अज्ञान है । अज्ञान ही से भोग्य पदार्थों में ममता पैदा होती है । अविद्या ही का नाम अज्ञान है । विद्या न पढने से–शास्त्रीय मार्ग का आश्रय न लेने से आसक्ति का उदय होता है एवं ठीक इसके विपरीत ज्ञान से अनासक्ति का उदय होता है । अनासक्ति की जननी यही विद्या है । अज्ञान ही भय का कारण है एवं विज्ञान ही भय का नाशक है । विज्ञान से भयनिवृत्ति होती है, अज्ञान से भय का समावेश होता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आसक्तिरज्ञानवशात्तु तस्मिन् प्रवर्तते ज्ञानवशात् त्वसक्तिः ।
अज्ञानमेवास्ति भयस्य हेतुर्विज्ञानमेव त्वभयं वदामः" ॥२००॥

जो कामानुषक्त मनुष्य है, वह अपने से प्रबल मनुष्य को जिसको कि पहले कभी नहीं देखा था–देख लेता है तो अकस्मात् भयभीत हो जाता है । कारण इसका यही है कि उसका आत्मा अज्ञान से होने वाली आसक्ति से निर्बल हो जाता है । मनुष्य प्राणिमात्र का उपलक्षण है । विषयानुरक्त मनुष्य अपने से प्रबल किसी प्राणी को देखता है तो सहसा डर जाता है एवं चकित हो कर दौड़ने लगता है । अन्त में जब थोड़ी देर बाद उसे पहचान लेता है–तब जा के ही उसे शान्ति आती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कामानुषक्तो हि बलाधिकं यत् पश्यत्यकस्मादगृहीतपूर्वम् ।
बिभेति तस्माच्चकितोऽपसर्पत्यसौ पुनः शान्तिमुपैति बुद्ध्वा" ॥२०१॥

अज्ञान ही भय का कारण है । जो अज्ञानी होता है–उसे ही पद-पद पर डर लगा करता है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जो मनुष्य राजघर में जनानीडयोढी में किस तरह किधर से किस वेषभूशा से जाना चाहिए–यह नहीं जानता है–वह भले ही कितना भी बुद्धिमान् हो–यदि उन कायदों से अपरिचित है तो भी वह नृपालय में प्रविष्ट होता हुआ डरता ही है । तद्विषयक जो अज्ञान है वही उसके डर का कारण है । नृपालय निदर्शनमात्र है । अज्ञातस्थान कोई भी हो–यदि वहाँ के नियमों से अपरिचित है तो अवश्य यह डरने लगता है । परन्तु ठीक इसके विपरीत जो शिक्षित मनुष्य है–जिसे

कैसे, कब, किस रास्ते से जाना चाहिए इत्यादि-इत्यादि नियमों का पता है- वह राजप्रासाद की कौन कहे-जो महादुर्ग है जिसमें कि कीड़ी भी पार नहीं हो सकती-निःशङ्क होकर घुस जाता है। कारण इसका एकमात्र तद्विषयक ज्ञान ही है। पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो ज्ञाता है कि अज्ञान से भय होता है एवं ज्ञान से भय विनाश होता है। अज्ञान से आसक्ति होती है। आसक्तिसम्बन्धेन कामानुषक्त मनुष्य का आत्मा निर्बल रहता है, अतएव वह जरासी अगृहीतपूर्व वस्तु को देखते ही डरने लगता। परन्तु जो कामानुषक्त नहीं होता-उसका आत्मा चूंकि सबल रहता है, अतएव वह सहसा किसी से भी नहीं डरता है। आसक्त आत्मा का कुछ हिस्सा विषयों में बँट जाता है, अतएव आत्मा कमजोर हो जाता है। बस, यही कामानुषक्त आत्मा की निर्बलता है। परन्तु जो कामानुषक्त नहीं होता-उसका आत्मा चूंकि विषयों में अंशरूप से विभक्त नहीं होता। आत्मा का जितना जैसा स्वरूप रहना चाहिए-उसमें कमी नहीं होती। बस, यही अनासक्त पुरुष की सबलता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अन्तः प्रवेशे नियमं न वेत्ति यो बिभेति धीमान् प्रविशन् नृपालये।
अज्ञातदेशे प्रविशन् बिभेत्यसौ दुर्गेऽपि निःशङ्कमुपैति शिक्षितः" ॥२०२॥

पूर्वप्रपञ्च से सिद्ध हो जाता है कि भय केवल अज्ञानवश होता है। उस विषय की अज्ञानमात्रा से ही भय का प्रादुर्भाव होता है। अर्थात्-यद्यपि इसे और सब विषयों का ज्ञान है, अतः उनमें डर नहीं हो सकता। परन्तु जिस अंश से वह अपरिचित है, तन्मात्र के अज्ञान में तद्विषयक ही भय होता है। एक पण्डित अखिलशास्त्रवेत्ता है, परन्तु उसे यह नहीं मालूम कि राजा से किस तरह मिलना चाहिए। बस, तद्विषयक अज्ञान ही उतने अंश में भयमात्रा उत्पन्न कर देता है। परन्तु उस अंश का भी ज्ञान है तो तद्विषयक बोधमात्रा से अर्थात् ज्ञान से सर्वत्र तद्विषयक शान्ति भी देखी जाती है।

तात्पर्य्य यही है कि जिस विषय का जिन्हें अज्ञान है-उस विषय में उन्हें भय रहता है एवं आत्मा विचलित रहता है-अशान्त रहता है। परन्तु जो उस विषय से परिचित हैं-जिन्हें उस विषय का ज्ञान है-ऐसे विवेकवृत्तियों का आत्मा सदा शान्त ही देखा जाता है। उस ज्ञानमहिमा से उनका आत्मा विचलित नहीं होने पाता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भयं ततोऽज्ञानवशात् प्रजायते भयस्य मात्रा तदबोधमात्रया।
प्रशान्तिमात्रापि च बोधमात्रया सर्वत्र दृश्येत विवेकशालिनाम्" ॥२०३॥

जहाँ भय होता है-उस भय में प्रज्ञा अवश्य ही विचलित होती है। भय से आत्मा अवश्य ही अपनी जगह छोड देता है-एवं जहाँ वह भय शान्त हुआ कि फिर वह अपने स्थिरभाव में आ जाता है। शेर को देखते ही डर लगता है-बस इस डर से-कलेजा (आत्मा) जगह छोड देता है। परन्तु जब हम किसी सुरक्षित स्थान में पहुँच जाते हैं-जहाँ पर कि पहुँचने से हमें यह विश्वास हो जाता है कि

अब शेर हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता तो बस, उसी समय हमारा भय शान्त हो जाता है। भय के शान्त होते ही जिस प्रज्ञा ने अपना स्थान छोड रक्खा था–विचलित हो रही थी–वह फिर स्थिरता को प्राप्त हो जाती है। यह तो हुई अल्पभय की बात–परन्तु बाजे मौके पर ऐसा भय होता है कि प्रज्ञा का विनाश ही हो जाता है। अल्पभय से कम्पनमात्र होता है–अतिभय से प्रज्ञावसाद हो जाता है। बस, यह भय की पराकाष्ठा है। बस, जब अतिभय से प्रज्ञा का उत्सादन हुआ कि इसकी मृत्यु हुई। प्रज्ञोत्सादन का नाम ही तो मृत्यु है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रज्ञा भयेऽस्मिन् विचलत्यवश्यं शान्तौ पुनः सा स्थिरतामुपैति।
प्रज्ञा यदुत्सीदति चात्मनः सा भयस्य काष्ठा म्रियते तदाऽसौ" ॥२०४॥

१३–भयस्य मरणान्ता अष्टौ भेदाः।
(कम्प से) मृत्युपर्य्यन्त भय के आठ–भेद।

स्त्री, पुत्र, धन, जमीन–इत्यादि-इत्यादि विषयों पर आत्मा व्याप्त रहता है। स्त्रीपुत्रादि से आत्मा विभूतिसम्पन्न है। स्त्री, पुत्र सम्पत्ति आदि ही आत्मा की विभूति हैं। बस, जिस समय–इस प्रज्ञानात्मा का कम्पन होता है–किसी कारण यह कम्पित हो जाता है तो उन विषयों से इसकी विभूति का भी उत्क्रमण हो जाता है। कम्पन होने से–विषयों के साथ रहने वाली जो आत्मविभूति है–वह भी जगह छोड देती है। बात वास्तव में ठीक है। जब आत्मा जगह छोडेगा तो विषयों के साथ होने वाला विभूति-सम्बन्ध क्यों कर स्थिर रह सकता है? उसकी भी स्थिति-विच्युति होना अनिवार्य्य ही है। प्रज्ञानात्मा में सोम का भी हिस्सा रहता है। इसीलिए इस प्रज्ञान को 'मन' भी कहा जाता है। बस, जिस समय इस प्रज्ञानमन के केन्द्र में कम्प हो जाता है–उस समय–उस कम्प के कारण जिसे कि बलस्वरूप होने के कारण हम 'तम' कहेंगे–प्राण, वाक्, वायु वगैरह-प्रज्ञाङ्गों में क्रमशः विकार उत्पन्न होते हैं। एक तालाब पानी से भरा हुआ है। उसके केन्द्र में यदि पत्थर डाला जाता है तो वह केन्द्र हिल पड़ता है। बस, उस केन्द्र के कम्पित होते ही उस पानी में लहरें पैदा हो जाती हैं। केन्द्रकम्पन से–पानी चारों ओर से–लहरें लेने लगता है। केन्द्रकम्पन का असर पानी के बडे दूर तक के हिस्से पर पड़ता है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रज्ञाप्रकम्पात् क्रमशः प्राणवागादि में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यदि पानी में पत्थर अल्प वेग से डाला जाता है तो लहरें भी थोड़ी ही दूर तक होती हैं। यदि प्रबलवेग से डाला जाता है तो लहरें बडी दूर तक जाती हैं। शरीर रचना में पहले प्रज्ञान है अर्थात् मन है–बाद में प्राण है–बाद में वाक् है–बाद में वायु है। वायु के अनन्तर तेज है। तेज के बाद जल है, जल के बाद मिट्टी है, अतएव यदि कम्प थोड़ा होता है तो प्राण का ही विकार हो के शान्ति हो जाती है एवं कम्प के उत्तरोत्तर आधिक्य से क्रमशः लहरवत् विकार भी बढता जाता है। प्रज्ञाकेन्द्र-कम्पन से क्रमशः प्रज्ञा के अङ्गभूत प्राणवागादि में भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं–यही तात्पर्य्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदा ह्यधिप्रज्ञमुदेति कम्पनं तस्या विभूतिर्विषयेभ्य उत्क्रमेत् ।
नाभौ प्रकम्पात्तमसा प्रसङ्गतः स्युः प्राणवागादिषु विक्रियाः क्रमात्"।।२०५।।

प्रज्ञा–केन्द्रकम्पन से यदि प्राणकम्पित हो जाता है तो ६ महिने से खाट में पड़ा हुआ अतिनिर्बल भी यह मनुष्य भय के कारण कम्पित भी जागृत जो प्राणबल है–उससे उठ कर भगने में समर्थ हो जाता है। प्राण बल का नाम है। भय से प्राण कम्पित हो जाते हैं। उस समय अत्यन्त निर्बल मनुष्य भी ऐसी दौड़ लगाता है जैसी कि शायद सबल मनुष्य भी न लगा सकता हो। प्राण के अनन्तर नम्बर है वाक् का–बोली का। यदि वाक् कम्पयुक्ता होती है–प्रज्ञा-कम्प का असर वाक् पर होता है तो उस भय से भयभीत इस मनुष्य के मुख से अकस्मात् डर के शब्द निकलने लगते हैं। मारे भय के चिल्लाने लगता है। यह चिल्लाहट दबी जबान से निकलती है। तात्पर्य यही है कि निर्बल मनुष्य यदि भय से भागने में समर्थ हो जाता है तो समझलो–इसका प्राण कम्पित हो रहा है। एवमेव यदि कोई डर के मारे चिल्ला रहा है–भय के शब्द मुँह में से निकल रहे हैं तो समझलो–इसकी वाक् पर प्रज्ञा-कम्प का असर पड़ा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणः सकम्पो भवतीति दुर्बलोऽप्यसौ भयोद्भूतबलात् पलायते ।
वाग्वा सकम्पा भवतीति बिभ्यतो मुखादकस्माद् भयवागुदीर्य्यते"।।२०६।।

वाक् के अनन्तर नम्बर है–वायु का। यदि प्रज्ञा-कम्प का असर वायु पर होता है–अर्थात् यदि वायु कम्पित हो जाता है तो शरीर ही थर-थर धूजने लगता है। एवं लम्बे-लम्बे-जोर-जोर के श्वास आने लगते हैं। इसी को हाँपना कहते हैं। यदि किसी का श्वास अतिवेग से चल रहा है एवं शरीर थर-थर काँप रहा है तो समझलो प्रज्ञा-कम्प का असर वायु पर हो रहा है। वायु के बाद है- तेज। यदि तेज सकम्प होता है तो सारा मुँह एकदम सूख जाता है। होठ से होठ चिप जाते हैं। जिह्वा तालूस्थान में चिपक जाती है। सारा शरीर गरम हो जाता है एवं श्वास भी एकदम गरम आने लगते हैं। बस, जब ऐसी स्थिति देखो तो समझलो- इसके तेजो भाग में कम्प का अधिक असर है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"वायुः सकम्पो भवतीति कम्पनं गात्रेऽधिकं श्वास उदेति भूयसा ।
तेजः सकम्पं भवतीति शोषणं मुखेऽनुतप्तश्वसनोष्णवर्ष्मणः" ।।२०७।।

तेज के अनन्तर है–जल का हिस्सा। यदि जल का हिस्सा कम्पित होता है तो सारा शरीर एकदम पसीने से सराबोर हो जाता है। एकदम सारा शरीर भीग जाता है। जहाँ ऐसी हालत देखो- समझलो–इस मनुष्य के जलभाग पर कम्प का अधिक असर हुआ है। जल के अनन्तर बाकी बच जाता है–मिट्टी का अर्थात् माँस का हिस्सा। यदि मिट्टी कम्पयुक्ता हो जाती है तो गौरवात् वह एकदम स्तब्ध हो जाती है–हाथ-पैर वहाँ के वहीं रुक जाते जाते हैं एवं आत्मा मूर्च्छित हो जाता है। मृत्तिका कम्प से–सारा शरीर सन्न हो जाता है एवं मूर्च्छा आ जाती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"जलं सकम्पं भवतीति विग्रहः प्रस्वेदपूर्णः सहसाभिजायते ।
मृद्वा सकम्पा भवतीति गौरवात् स्तब्धाऽसृगुत्सन्नगतिश्च मूर्छितः" ।।२०८।।

ऐसी हालत में–चूँकि खून की गति रुक जाती है, अतएव आत्मा उत्सन्नगति होकर मूर्च्छित हो जाता है–शेर को जंगल में खुला देखने से यही हालत हो जाती है निदर्शनमात्र है ।।२०८।।

इस प्रकार क्रम क्रमशः–भय की वृद्धि होने पर–बहुत काल तक–धक्के खाते रहने के कारण प्रज्ञा जब अतिदुर्बल हो जाती है एवं होते-होते इस आत्मा की प्रज्ञा समूल नष्ट हो जाती है–तो बस उसी समय यह प्रज्ञानात्मा मर जाता है । तात्पर्य्य यही है कि ज्यों-ज्यों भय की मात्रा बढती जाती है–त्यों-त्यों प्रज्ञा कमजोर होती जाती है । अन्त में वह एकदम विनष्ट हो जाती है । बस, जहाँ प्रज्ञा का नाश हुआ नहीं कि आत्मा की मृत्यु हुई नहीं । जैसा कि गुरुवर ओझा जी ने कहा है—

"इत्थं चिरायात्र भयोपसर्पणे चिरं विकारक्रमतोऽति दुर्बला ।
निर्मूलमुत्सन्नतरा यदात्मनः प्रज्ञा भवेत् तर्ह्य चिरान्म्रियेत सः" ।।२०९।।

प्रज्ञा एक प्रकार का पानी है । ब्रह्मणस्पति के सोम का नाम ही प्रज्ञा है । इसी प्रज्ञा पानी पर उस चित् का आभास पड़ता है । अर्थात् जैसे पानी पर सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तद्वत् इस प्रज्ञा-सोम पर चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है । बस चिदनुगृहीत जो प्रज्ञा है–उसी का नाम प्रज्ञानात्मा है । जिस प्रकार से पात्रस्थित पानी की अल्पमात्रा में प्रतिबिम्ब भी अल्प ही आकार का होता है–ठीक इसी प्रकार भय के कारण इस मनुष्य की प्रज्ञा यदि अल्पमात्रा युक्त हो जाती है–अल्पबला हो जाती है, अतएव इसमें श्लथत्व आ जाता है, तो इस पर चित् भी अल्पवत् ही प्रतिभासित होता है । जिसकी प्रज्ञा जितनी प्रबल एवं स्थिर होती है–भय-शून्य होती है, चित् का आभास भी उसमें उतना ही अधिक होता है । बस, ऐसी हालत में–अज्ञान बल से धक्का खाई हुई–अवधृतप्रतिष्ठिता अर्थात् आत्मधारणानुकूल प्रतिष्ठा से एकान्ततः शून्य जो अल्पप्रज्ञा-मात्रा है–वह विचलित हो जाती है–अपने स्थान को छोड देती है । तात्पर्य्य यही है कि जब भय के कारण प्रज्ञा अल्पबला हो जाती है तो उसकी वह प्रतिष्ठा (ठहराव) जाती रहती है–जिसके कि द्वारा वह अपने आपको स्थिर रखने में समर्थ होती है । बस, जहाँ प्रतिष्ठा उखड़ी कि यह अपने स्थान से विचलित हुई । प्रतिष्ठा से च्युत होने का नाम ही तो स्वस्थान से च्युत होना है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रज्ञाल्पमात्राल्पबला श्लथास्य चेदाभासते तत्र चिदल्पवत् ततः ।
प्रज्ञाल्पमात्राऽविधृतप्रतिष्ठिता विचाल्यतेऽज्ञानबलप्रणोदिता" ।।२१०।।

पानी जब तक शान्त रहता है–स्थिर रहता है, तभी तक उसमें सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है । यदि पानी को जोर से हिला दिया जाए तो उसी समय प्रतिबिम्ब भी हिलने लग जाए एवं इतना ही

नहीं, अपि तु, प्रतिबिम्ब का जैसा स्वच्छ स्वरूप शान्त पानी में था–वह स्वच्छत्व एकान्ततः विलुप्त हो जाए–प्रतिबिम्ब के दर्शन ही न हों एवं–यदि पानी जमीन पर गिर कर फैल ही जाए तो प्रतिबिम्ब ही नष्ट हो जाए। बस, ठीक यही हालत इस प्रज्ञानात्मा की है। प्रज्ञा सोम है अर्थात् पानी है, चित् एक प्रकार का सूर्य्य है। इसका प्रतिबिम्ब तभी तक पड़ता है, जब तक कि प्रज्ञा शान्त रहती है–जरा भी विचलित नहीं होती। यदि भय के कारण प्रज्ञा स्थान से च्युत हो जाती है तो जलवत् इस प्रज्ञा में चिदात्मा का आभास अर्थात् प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। बस, प्रज्ञा में चित् के प्रतिबिम्ब का न आना ही आत्मा की मृत्यु कहलाती है। तात्पर्य्य यह है कि पानी के नष्ट होने से जैसे प्रतिबिम्ब का नाश मान लिया जाता है–वास्तव में प्रतिबिम्ब का नाश नहीं होता–प्रतिबिम्ब तो उसी समय अपने कारणभूत सूर्य्य में मिल जाता है, इसी प्रकार प्रज्ञा विनाश से चिदाभास का अर्थात् जीवात्मा का विनाश मान लिया जाता है–वास्तव में उसका विनाश हर्गिज नहीं हो सकता।

कहना इस प्रपञ्च से यही है कि–१–नाभिकम्प, २–प्राणकम्प, ३–वाक्कम्प, ४–वायुकम्प, ५–तेजःकम्प, ६–जलकम्प, ७–मृत्तिका कम्प एवं ८–प्रज्ञोत्सादन–भेदेन भय के मरणान्त आठ भेद हैं। भय आठ भागों में विभक्त है।–प्रज्ञा जब एकान्ततः विचलित हो जाती है–जब प्रज्ञा का सर्वथा अवसान हो जाता है–तो चित् का आभास (प्रतिबिम्ब) नहीं पड़ता। जब चिदाभास ही नहीं–तो फिर उसकी विभूतियों का तो कहना ही क्या है? मेरा यह है–मेरा यह है–बस, जहाँ चिदाभास गायब हुआ कि–'मेरा यह है'–इस भाव का विनाश हुआ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विचाल्यमाने जलवन्न भाति चेत् प्रज्ञे चिदात्मा मरणं तदुच्यते।
प्रज्ञां नितान्तप्रचलान्तरामनु स्युर्नो चिदाभास विभूतयस्तदा" ॥२११॥

प्रज्ञा का कम्पित होना एवं प्रणादि का विकृत होना–इन सब का मूल केवल अज्ञान ही है। अज्ञान से ही–आत्मा की विशालता जाती रहती है। अज्ञानी मनुष्य में आत्मनिर्भरता नहीं रहती। वह अपने को सर्वथा अल्प–समझता रहता है। मैं गरीब हूँ–आपका दास हूँ–बस, सदा ये ही शब्द उसके मुँह से निकलते रहते हैं। बस, इस अल्पशक्तियुक्त प्रज्ञान में जब भय का सम्बन्ध होता है तो यह एकदम कम्पित हो जाता है। बस, इस प्रज्ञान के कम्पित होते ही इसके अंगभूत जो प्राणादि हैं, उनमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं–इसके सारे अंग कम्पित हो जाते हैं। यही प्रज्ञा जो कि अज्ञान के कारण प्रतिष्ठा से उखड़ जाती है, विज्ञान प्राप्त कर प्रतिष्ठित हो जाती है एवं इसी विज्ञान से विधृत होती हुई अर्थात् प्रतिष्ठित होती हुई प्रसन्न हो जाती है। अज्ञान के कारण प्रज्ञा में दारिद्र्यादिप्रयुक्त जो अनेकानेक दुःखों का समावेश हो जाता है–ज्ञान महिमा से वे सारे दुःख–प्रज्ञान के वे सारे दुःख एकान्ततः नष्ट हो जाते हैं–एवं ज्ञान महिमा से ही यह प्रतिष्ठित हो जाती है। फिर क्या मजाल है कि इसे भी कोई भयभीत कर दे। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अज्ञानतोऽल्पे तु भये प्रवर्तिते प्रज्ञानकम्पादुदियन्ति विक्रियाः।
सा प्राप्य विज्ञानमिह प्रतिष्ठिता तेनैव चालं विधृता प्रसीदति" ॥२१२॥

१४–भयमज्ञानमूलकं ज्ञानमूलकं वेति विचारः ।

भय अज्ञानमूलक है अथवा ज्ञानमूलक–यह विचार–

पूर्व प्रकरण से हमने यही सिद्ध किया है कि भय का एक मात्र कारण अज्ञान है । अज्ञान ही से भय हुआ करता है । इस पर कई दार्शनिक आक्षेप करते हुए–इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि–'जो भय को अज्ञानकृत बतलाते हैं'–वे नितान्त भ्रान्त हैं । भय अज्ञानमूलक है, अज्ञान ही से भय होता है–यह मत सर्वथा रिक्त है अर्थात् निस्सार है । हम तो ठीक इससे विपरीत देखते हैं । हम लोक में–अज्ञान से भयनिवृत्ति देखते हैं–एवं ज्ञान से भय का उदय देखते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथाहुरेतन्मतमस्ति रिक्तं भयं यदज्ञानकृतं वदन्ति ।
पश्यामि तु ज्ञानकृतं भयं स्यादज्ञानतो निर्भयतामुपेयात् ।।२१३।।

इससे मानना पड़ता है कि ज्ञान ही भय का जनक है एवं अज्ञान भय को दूर करने वाला है । जैसा कि हम उदाहरणों द्वारा बतलाते हैं—एक बड़ का पेड है । आज उसकी छाया में एक पथिक सो रहा है । सांयकाल उठकर घर चला जाता है । घर जाते ही–रास्ते के लोग उसे पूछने लगते हैं–कहो ! इतनी देर कहाँ रहे ? उत्तर देता है–रास्ते में एक बड़ का सघन वृक्ष था । बडी ही ठंडी छाया थी । सोचा चलो दुपहर 'यहीं काट चलें'–बस, ऐसी नींद आई–शाम तक चेत ही न रहा । उसी समय–उसका एक मजाकिया मित्र बोल उठता है–अरे यार ! बडा गजब किया । उस वट में यक्ष (भूत) रहता है । अच्छा हुआ जो तुम सही-सलामत आ गए । बस, जब वह यह सुन लेता है कि इसमें यक्ष रहता है तो दुबारा जब वहाँ हो के निकलता है तो उसके प्राण काँप जाते हैं । जब तक 'इसमें यक्ष है' इसका ज्ञान नहीं था, तब तक इस वटवृक्ष से यह जरा भी नहीं डरता था । बस, जहाँ–'इसमें यक्ष रहता है'–यह ज्ञान हुआ कि इसके प्राण कम्पित हुए । विना जाने–घोर रात्रि में भी यह नहीं घबड़ाता एवं न दिन में ही घबराता । परन्तु जानने से इसके देवता कूच कर जाते हैं । अज्ञान से भय नहीं होता अपि तु, ज्ञान से भय होता है–इस सिद्धान्त में इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"वटेऽत्र यक्षो वसतोति जानन् बिभेति भूयो वटमागतस्तम् ।
अजानता निर्भयमत्र रात्रौ सुस्थीयते नापि दिवात्र भीतिः ।।२१४।।

राजा के प्रासाद में आम आदमी नहीं जा सकते । बस, खास खास राजकीय मनुष्य ही वहाँ जा सकते हैं । परन्तु जिसे इस बात का ज्ञान नहीं है–ऐसा साहसिक मनुष्य वहाँ जा सकता है । परन्तु घुसते ही उसके डंडे पड़ने लगते हैं । बस, उसी समय–उसे ज्ञान हो जाता है कि जो विना पूछे-ताछे यहाँ जाता है–वह सजा पाता है । बस, जिस दिन उसे यह ज्ञान हो जाता है–बस, उस दिन से राज-

प्रासाद में जाने से उसे डर लगा करता है। जो मनुष्य 'विना इजाजत राजप्रासाद में जाने से सजा मिलती है'-इस नियम को न जानकर बे रोकटोक घुस गया तो उस समय राजगृह में घुसते समय जिसे जरा भी डर मालूम नहीं हुआ था-वही आज 'विना इजाजत जाने से सजा मिलती है'-यह जानने के कारण वहाँ जाता हुआ डरता है। क्या अब भी-ज्ञान से भय होता है एवं अज्ञान से भयनिवृत्ति होती है-आप इस बात को मानने के लिए तय्यार नहीं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"राज्ञो गृहे सर्वजनः प्रवेशं नार्हत्यथो साहसिकः प्रविश्य।
दण्डेन निस्ताडनमर्हतीति जानन् प्रवेशाय बिभेति भूयः" ।।२१५।।

जो बालिश होता है अर्थात् सर्वथा अज्ञानी होता है-जो कि गरीब और राजघर में क्या अन्तर होता है-इस बात को नहीं जानता है-एवं न वह नृपालय में किस तरह जाना चाहिए-इस नियम से ही अपरिचित है, वह निर्भय होकर वहाँ जाने का विचार कर लेता है। फिर चाहे-कोई घुसने दे या न घुसने दे। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यो बालिशो दीनजनस्य भूपतेर्नेहान्तरं वेत्ति न वा नृपालये।
वेत्ति प्रवेशे नियमं स निर्भयं स्वैरं प्रवेशाय मतिं करोति हि ।।२१६।।

इससे मानना पड़ता है कि भय ज्ञान ही से होता है। भय का एक मात्र कारण ज्ञान ही है। जो जडात्मा मनुष्य है, उसका शरण अज्ञान ही है। अज्ञान जड़ मनुष्य को दुःखों से पार लगाने वाली नौका है। इस प्रकार जबकि ज्ञान से भय होता है-तो फिर आप ज्ञान को अमृतस्वरूप कैसे बतलाते हैं? विज्ञान आनन्दस्वरूप है-अभय है-आपका यह दावा मय ब्याज-बट्टे के गलत है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तस्माद्भयं ज्ञानत एव संभवत्यज्ञानमास्ते शरणं जडात्मनः।
ज्ञानाद्भयं चेत्कथमुच्यतेऽमृतं विज्ञानमानन्दमयं किलाभयम् ।।२१७।।

——❀——

१४वें सूत्र का परिशिष्ट ❀

ज्ञानान्तर्गतावज्ञानाद् दुःखम्।

ज्ञानान्तर्गत अज्ञान से दुःख—

❀ इस परिशिष्ट के अन्तर्गत के तीन श्लोक ओझा जी के मूलग्रन्थ में नहीं मिले हैं एवं स्व० शास्त्री जी ने क्योंकि इनको भाष्यसहित लिखा है-अतएव इन तीनों श्लोकों एवं इनके भाष्य को **१४वें** सूत्र के परिशिष्ट-भाग के रूप में दिया जा रहा है। [सं०]

ज्ञान में जब अज्ञान घुस पड़ता है तो वह अज्ञान मात्रा दुःख का कारण बन जाती है। अज्ञान से आत्मा म्लान हो जाता है। बस, यही म्लानता दुःख का एवं आत्मावसाद का कारण है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अन्तं वा एष आत्मनो गच्छति। यस्ताम्यति (ग्लायति)"[1]

आत्मा को सच्चिदानन्दस्वरूप बतलाया जाता है। सत्ता, चेतना, आनन्द तीनों असल में आनन्द ही हैं। आनन्द उस भाव का नाम है जो कि केन्द्र में रहता है। ज्ञान उस भाव का नाम है जो केन्द्र से रश्मिरूपेण बाहर निकलता है। सत्ता उसे कहते हैं जो प्रतिफलित आनन्द रश्मिएँ हैं। कहना यही है कि ज्ञान चूंकि आनन्द की किरणें हैं, अतएव ज्ञान भी आनन्द ही है। आत्मा आनन्दस्वरूप है। आनन्द ही की अवस्था-विशेष का नाम है–ज्ञान एवं आनन्द है नित्य तत्त्व, अतएव हम कह सकते हैं कि ज्ञानस्वरूप यह चिदात्मा नित्यानन्द स्वरूप है। ज्ञान (आत्मा) सदा आनन्दमय है। इस प्रकार यद्यपि ज्ञान सर्वथा आनन्दस्वरूप है, तथापि अज्ञान के घुस जाने से दुःख हुआ करता है। इस ज्ञान के अन्दर अज्ञान मात्रा घुस पड़ती है एवं घुसकर ज्ञानज्योति को चारों ओर से ढकलेती हैं। बस, ज्ञान उदर में यह जो अज्ञान का अन्तर है वही सुख का विनाशक है–दुःख का जनक है। ज्ञान में अज्ञान का घुस जाना–यही आनन्दस्वरूप इस आत्मा का दुःख है। आँख का धर्म्म रूप देखने का है। परन्तु आँखों पर यदि कपड़े की पट्टी बाँध दी जाती है तो चक्षुज्योति ढक जाती है। इसी प्रकार अज्ञानप्रवेशात् आत्मा के आनन्दस्वरूप का अभिभव हो जाता है। इसी का नाम दुःख है।

"ज्ञानं सदानन्दमयं यदस्मिन् ज्ञानेऽन्तरज्ञानमुपावृणोति।
ज्ञानोदरेऽज्ञानजमन्तरं यत् सुखं न तत्रास्ति तदस्ति दुःखम्" ॥१॥

"आकस्मिकं किञ्चिदुपेतमीक्ष्यते तच्च प्रकुर्वद् बलवत् प्रतीयते।
कथं भविष्यत्यपि किं करिष्यतीत्येवं न वेत्तीति तदस्ति दुःखम्" ॥२॥

कैसे जाना चाहिए? किस वेश-भूषा से जाना चाहिए? किस समय जाना चाहिए–किधर से जाना चाहिए? जो मनुष्य राजकीय इन सारी व्यवस्थाओं को जानता है–वही राजगृह में बेरोकटोक जा सकता है। व्यवस्था से राजगृह में प्रवेश कर सकता है। परन्तु जो नियमों को न जानकर हठात् घुस पड़ता है, वह दण्ड का भागी होता है। इस प्रकार का ज्ञान मनुष्य को है। अर्थात् वह जानता है कि व्यवस्थापूर्वक ही–राजगृह में जा सकता है एवं हठात् जाने वाला दण्ड का भागी होता है। इस प्रकार यह जानने पर भी यदि यह स्वयं वहाँ जाने की व्यवस्था नहीं जानता है तो–वहाँ जाने के लिए डरता है एवं आशङ्कित होता है। ऐसा जानने वाला ही वहाँ जा सकता है–विना जाने प्रविष्ट मनुष्य दण्ड का

---

१ तै० ब्रा० १।४।४।२।

भागी होता है–'इतना ज्ञान तो इसको अवश्य है। परन्तु, व्यवस्था न जानना–इतना अज्ञान भी उस ज्ञान में घुस रहा है। अतएव वह डरता है। तात्पर्य्य यही है कि ज्ञानान्तर्गत अज्ञान से दुःख होता है।

"व्यवस्थया राजगृहे प्रविशयत् हठाते प्रविष्टस्त्विह दण्डमर्हति।
इत्थं विदन्-वेत्ति न चेद् व्यवस्थितिं ततः प्रवेशाय बिभेति शङ्कते ॥३॥

॥ इति चतुर्दशसूत्रस्य परिशिष्टभागः समाप्तः ॥

——※——

१५–अज्ञानावृतज्ञानाद्भयमिति सिद्धान्तः।

अज्ञानावृत ज्ञान से भय होता है–यह सिद्धान्त—

कोई कहते हैं कि ज्ञान से भयनिवृत्ति होती है एवं अज्ञान से भय का प्रादुर्भाव होता है। कई कहते हैं–ज्ञान से भय होता है, अज्ञान भय का विनाशक है। परन्तु तीसरे दार्शनिक और ही कुछ कहते हैं। उनका कहना है कि न भय अज्ञानकृत है एवं न भय ज्ञान से ही होता है। भय का कारण न अज्ञान है, न भय का कारण ज्ञान ही है। अपि तु, जो ज्ञान अज्ञानावृत है–वही मात्र दुःख का कारण है। अज्ञानावृत ज्ञान का आगमन हो जाता है तो उससे मनुष्यमात्र मोहनिद्रा में निमग्न हो जाते हैं। बस, अज्ञानावृत ज्ञान ही एकमात्र भय का कारण है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अत्राहुरज्ञानकृतं न तद्भयं न त्वेव विज्ञानकृतं क्वचिद्भयम्।
ज्ञानं यदज्ञानकृतं तदागमान्मुह्यन्ति सर्वे भयहेतुरस्ति तत्" ॥२१८॥

जैसा कि कहा गया है—

"हर्षो भयं सुखं दुःखं यदायान्ति वियान्ति च।
ज्ञानादेव ज्ञान एव ज्ञानमेव च वेद्मि तत्" ॥

इसी अभिप्राय से भगवान् श्री कृष्ण भी कहते हैं—

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"।

अपि च—

"अज्ञान विनिवृत्तौ तु न भयं नापि यातना"।

आत्मा विज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है–इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। प्रकृति-रचना के अनुसार–जिस विज्ञानात्मा का शरीरयष्टि में प्रवेश होता है, वह अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता। जिसका विज्ञानात्मा जैसा है–वह अपने उसी स्वरूप में स्थिर रहता है। जो विज्ञान विचलित भाव का विनाश करने वाला है–वह स्वयं कैसे विचलित हो सकता है? हमने बतलाया है कि हमारे शरीर में अव्यय, अक्षर, क्षर–ये तीन आत्मा हैं। तीनों में जो अव्यय है, वह तो अखण्डात्मा है–निष्कल है–वाङ्मनसातीत है, अतएव शास्त्रानधिकृत है। दूसरा है अक्षर। बस, इसी अक्षर का नाम विज्ञानात्मा है एवं क्षर का नाम प्रज्ञानात्मा है। विज्ञानात्मा इस प्रज्ञानात्मा के साथ सदा युक्त रहता है। क्षर मर्त्त्यात्मा है, अक्षर अमृतात्मा है। इसीलिए तो इसका नाम अक्षर है। भला जो अक्षर है अर्थात् अविनाशी है–ऐसा विज्ञानात्मा अज्ञान के समावेश से भी कैसे विचलित हो सकता है। अज्ञान के पचास धक्के लगने पर भी उस अज्ञान से सर्वथा बेलाग रहता हुआ–उसकी नोदना की पकड़ में न आता हुआ विज्ञान कैसे विचलित हो सकता है? जब विज्ञानात्मा विचलित ही नहीं हो सकता तो उससे भय क्यों कर बतलाया जा सकता है? क्योंकि कम्प का–स्थितिविच्युति का नाम ही तो भय है।

तात्पर्य्य यही है कि विज्ञानात्मा स्वस्वरूप से सदा स्थिर रहता है। अज्ञान वगैरह उसे जरा भी विचलित नहीं कर सकते। जब विज्ञान विचलित ही नहीं होता तो फिर–'विज्ञान से भय होता है–यह बात क्यों कर ठीक हो सकती है? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विज्ञानमात्मा हि यथास्ति यस्य तत्तथैव तिष्ठत्यपहन्यते न तत्।
अज्ञानकालेऽपि तदप्रणोदितं कथं विचाल्येत कुतो भयं भवेत् ॥२१९॥

आप कहते हैं कि विज्ञान के आगमन से भय होता है। हम कहते हैं–इस विज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्यों ज्यों विज्ञान की मात्रा बढती है, त्यों त्यों ही यह आनन्द मात्रा से वृद्धि को प्राप्त होता है। जिसका विज्ञानात्मा पहले से जितने आयतन का होता है, वह विज्ञान की मात्रा को और प्राप्त कर उससे वृद्धि को प्राप्त होता है। बस, जब विज्ञान की मात्रा से पहले वाला विज्ञान बढता है तो आत्मा की वृद्धि होती है। ज्यों ज्यों विज्ञान बढता है, त्यों त्यों आत्मा महाशय बनता जाता है। आत्मा रस-स्वरूप है, आत्मा की वृद्धि होना रस की वृद्धि होना है। रस ही का नाम आनन्द है। तो बस आत्म-वृद्धि से वह मनुष्य रस ही को खाता है–रस को आत्मसात् करता है। रस की वृद्धि से ही तो आत्म-वृद्धि होती है। बस, इस रस की वृद्धि से उसे अधिकाधिक आनन्द आता जाता है। भला जो विज्ञान आत्मवृद्धि कर आनन्द का कारण है–उसे भय का कारण क्यों कर बतलाया जा सकता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विज्ञानमात्मा हि यथास्ति यस्य तद्विज्ञानमन्यत् परिगृह्य वर्द्धते।
तदात्मवृद्धया रसमश्नुते तथाऽनन्दः स तस्मान्न भयं तदा भवेत्" ॥२२०॥

फिर भय होता किससे है ?–एकमात्र यह प्रश्न बाकी बच जाता है। बस, इसका उत्तर देकर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं—

वही ज्ञान जब अज्ञानावृत हो जाता है–तो बस, ज्ञान द्वारा इन्द्रियमार्ग से आने वाले उस अज्ञान से प्रज्ञा श्लथाङ्गा हो जाती है। परमाणु जब घनीभूत रहते हैं–तब उनमें अधिक प्रतिष्ठा रहती है। परन्तु विशकलित परमाणुओं में बल नहीं रहता। चूँकि प्रज्ञा बलश्लथाङ्गा हो जाती है, अतएव उसमें से बल की मात्रा निकल जाती है एवं वह अल्पबला हो जाती है। बस, इसी कारण वह स्वप्रतिष्ठा से शीघ्र ही च्युत हो जाती है। ढीलेपने के कारण–स्वात्मधारणरूपा प्रतिष्ठा प्रज्ञान में से निकल जाती है। उस प्रज्ञान की प्रतिष्ठा अज्ञान के धक्के से उसी वक्त अपनी जगह को छोड देती है। बस, इस प्रतिष्ठाविच्युति का नाम ही भय है। तात्पर्य्य यही है कि विज्ञान से भय नहीं होता एवं न विज्ञान से विज्ञानात्मा विचलित ही होता है। भय होता है अज्ञानावृतज्ञान से। अज्ञानावृतज्ञान इन्द्रियों द्वारा जब अन्तःप्रविष्ट होता है तो वह अज्ञानमात्रा प्रज्ञान के ग्रन्थिबन्धनों को ढीला कर देता है। बस, इससे प्रज्ञान स्वप्रतिष्ठा से च्युत हो जाता है। कहना यही है कि भय अज्ञान से होता है एवं उसका अनुभव प्रज्ञान करता है–न कि विज्ञान। विज्ञान तो बडा स्थिर रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ज्ञानं यदज्ञानत आवृतं भवेत् तदागमादिन्द्रियमार्गतः क्रमात्।
प्रज्ञा श्लथाङ्गाल्पबला प्रतिष्ठया च्यवेत चाज्ञानबलावृताऽऽहता ॥२२१॥

——❀——

१६–प्रज्ञानबलानुसाराद्भयतारतम्यम्।

प्रज्ञानबलानुसाराद् भयतारतम्य—

प्रज्ञान के बलबन्धन के तारतम्य से भय में तारतम्य हो जाता है। जिसका प्रज्ञान जितना अधिक बलशाली होता है, वह बलाधिक्यात् उतना ही दृढ रहता है, अतएव उस पर भय का असर कम होता है। परन्तु जिसका प्रज्ञानबलशून्य होता है, वह शीघ्र ही प्रतिष्ठा से च्युत हो जाता है।

संसार में जिसे हम बन्धन-बन्धन कहते हैं एवं जिस पदार्थ में वह बन्धन होता है, उसमें वह बन्धन दो प्रकार से हो सकता है। अर्थात् बन्धन का सीगा दो भागों में विभक्त है–(१) कहीं तो श्लथत्व (ढीलापना) रहता है एवं किसी बन्धन में अत्यन्त दृढता रहती है। बस, श्लथत्व और दृढत्व बन्धन दो ही प्रकार का होता है। यदि अन्तिम दृढ-बन्धन का स्वरूप पूछना चाहो तो वह वज्र है। वज्र ही का नाम हीरा है। सबसे अधिक बन्धन हीरे में होता है। एक अंगुष्ठमात्र हीरे के टुकड़े के परमाणुओं को आप फैलावेंगे तो वे बहुत बडा स्थान रोकेंगे। बस, इसी से हीरे के दृढबन्धनत्व का अनुमान किया जा सकता है एवं यदि सबसे हलके-थोड़ी देर के लिए हम कह सकते हैं तो वह रूई है।

बस, श्लथ और दृढबन्धन के आपको उदाहरण बतला दिए गए। इसी से संसार के यच्चयावत् पदार्थों में अपेक्षया श्लथत्व और दृढत्वभाव के दर्शन करते चले जाइए। यच्चयावत् पदार्थों में श्लथत्व और दृढत्व के अलावा तीसरे भाव के दर्शन ही नहीं हो सकते। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"द्वैधं हि मात्राकृतबन्धने भवेत् क्व च श्लथत्वं दृढताथवा क्वचित्।
वज्रेऽस्ति बन्धोऽस्ति दृढोऽथ तूलके श्लथः स एवं निखिलेषु कल्प्यताम्" ॥२२२॥

जो वस्तु दीखने में बडी विशाल है और यदि उसका बन्धन ढीला है तो विपुल होते हुए भी श्लथत्व के कारण उसे सर्वथा निर्बल समझना चाहिए। निदर्शन मेदस्वी पुरुष है। जो मनुष्य मेदस्वी होता है, वह डील-डोल का इतना बडा दीखता है-एक दफे तो देखते ही भय हो जाए, परन्तु बल उसमें इतना ही (अधिक) रहता कि-एक १० वर्ष का बच्चा भी धक्का देकर उसे गिरा सकता है। इसका एकमात्र कारण बन्धन का ढीलापना है एवं ठीक इसके विपरीत जो दुर्बल भी होता है, उसमें यदि दृढ बन्धन होता है तो वह उस विपुल से अधिक शक्तिशाली रहता है। उदाहरणार्थ पतला-दुबला परन्तु मजबूत हड्डियों वाला मनुष्य है। यद्यपि है यह उस मेदस्वी से दीखने में-आठवें हिस्सा, परन्तु बल की दृढता के कारण वैसे दस विपुलों को यह सीधा कर सकता है। हाँ, परन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे कि यदि बल की मात्रा अधिक होती है तो ढीले बन्धनवाला भी क्रमशः दृढ बन जाता है। एक मनुष्य का शरीर खूब मोटा है-उसमें बल की मात्रा अधिक है, परन्तु बन्धन ढीला है। यदि उससे व्यायाम करवाया जाएगा तो दृढबन्धनक्रम से उसकी निर्बलता जाती रहेगी एवं वह पहलवान् हो जाएगा एवं उसका शरीर गठीला हो जाएगा। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"श्लथः स बन्धो विपुलोपि दुर्बलो दृढस्तु कार्श्येऽपि बली घनास्थिवत्।
बलाधिकश्चेच्छ्लथबन्धनोऽप्ययं काले ध्रुवं स्याद् दृढबन्धनक्रमात्" ॥२२३॥

कहने का तात्पर्य्य यही है कि बन्धन श्लथ एवं दृढ भेदेन दो प्रकार का होता है। जिसका बन्धन ढीला होता है, वह निर्बल होता है। जिसका बन्धन दृढ होता है, वह सबल होता है। बस, इसी प्रकार जिसका प्रज्ञानबन्धन ढीला होता है, वह उतना ही अधिक निर्बल होता है। उदाहरणार्थ छोटे बच्चे को लीजिए-प्रज्ञा का बन्धन बच्चे में बिल्कुल ढीला रहता है। छोटे बच्चे की प्रज्ञा सर्वथा ढीली रहती है, अतएव यह जरा से भय से भी डर जाता है। 'हो' करते ही इसकी प्रज्ञा स्थान छोड देती है। इसका एकमात्र कारण प्रज्ञा के बन्धन का ढीलापना है। परन्तु जब यह बालक क्रमक्रमशः विज्ञान को आत्मसात् करता जाता है। बस, विज्ञान से इसकी प्रज्ञा का बन्धन उतना ही अधिक दृढ होता जाता है। ज्ञान ही से प्रज्ञान प्रबल होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रज्ञस्य बन्धोऽपि शिशोः श्लथः पुरा ततो बिभेत्यल्पविभीषयाऽप्यसौ।
यदा तु विज्ञानमुपार्जते क्रमात् सहैव तेनात्र विधीयते बलम्" ॥२२४॥

बस, ज्ञान के कारण ज्यों-ज्यों बल की मात्रा बढती जाती है, बस, उन बलों से प्रज्ञा का बन्धन भी उतना ही अधिक दृढ होता जाता है। इस प्रकार बन्धन में जितनी दृढता होती है, प्रज्ञान उतना ही अधिक प्रतिष्ठित हो जाता है। बस इसीलिए वह बिभीषिका से सहसा विचलित नहीं होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथा यथा ज्ञानवशाद् बलोदयः प्रज्ञस्य बन्धोऽपि बलैर्दृढीभवेत् ।
यावत्तु बन्धे दृढता ततः क्रमात् प्रज्ञो विचाल्येत न वा बिभीषया" ॥२२५॥

———

१७–विज्ञानयोगमूलकप्रज्ञानप्रतिष्ठातारतम्याद्भयतारतम्यम् ।

विज्ञानयोगमूलक प्रज्ञानप्रतिष्ठा तारतम्यात्–भयतारतम्य—

विज्ञान के कारण शरीर में आया हुआ जो बल है–वह प्रज्ञान को प्रतिष्ठा से युक्त करता है। अर्थात् विज्ञान द्वारा आगत बल प्रज्ञान के ढीले बन्धनों को दृढकर उसे प्रतिष्ठित बनाता है। परन्तु ठीक इसके विपरीत अज्ञान के साथ आया हुआ जो बल है, उससे क्रम क्रमशः प्रज्ञान की प्रतिष्ठा उलटी च्युत होती है। ज्ञानेन आगत बल प्रज्ञा को प्रतिष्ठित करता है, अज्ञान के साथ आने वाला बल प्रज्ञान को प्रतिष्ठा से च्युत करता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विज्ञानसङ्गेन बलं यदागतं प्रज्ञं तदा योजयति प्रतिष्ठया ।
अज्ञानसङ्गेन बलं यदागतं प्रज्ञप्रतिष्ठा च्यवते ततः क्रमात्" ॥२२६॥

बस, प्रतिष्ठा-च्युति का नाम ही भय है। प्रतिष्ठा-च्युति होती है अज्ञान द्वारा आए हुए बल से अतएव हम कह सकते हैं–नाना प्रकार के जो भय हैं–वे अज्ञानकृत ही हैं। अज्ञान ही इन विविधभयों का कारण है एवं प्रतिष्ठा का नाम ही अभय है। प्रतिष्ठा होती है- ज्ञान द्वारा आए हुए बल से अतएव हम कह सकते हैं कि शान्ति का एकमात्र कारण–अभयदान करने वाला यही ज्ञान है। विज्ञान से प्रज्ञा-धृति हो जाती है। विज्ञान से प्रज्ञा में स्वात्मावधारणानुकूला शक्ति आ जाती है। इसीलिए विज्ञान संपृक्त प्रज्ञान में न उद्वेग होता है–न शोक होता है–न आकुलता होती है एवं न दुःख ही होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तदेतदज्ञानकृतो भयोदयोऽनन्तो मतो ज्ञानकृतः शमक्रमः ॥
विज्ञानतः प्रज्ञधृतौ बलोदयान्नोद्वेगशोकाकुलतार्ति संभवः" ॥२२७॥

———

१८–प्रज्ञानप्रतियोगिकविज्ञानसंबन्धात् प्रज्ञानबन्धनबलदाढ्यर्म् ।
प्रज्ञानानुयोगिकविज्ञानसंबन्धात् प्रज्ञानबन्धनमुक्तिः ।

प्रज्ञानप्रतियोगिक विज्ञानसम्बन्ध से प्रज्ञानबन्धनबलदाढ्यर्प्रज्ञानानुयोगिक विज्ञानसम्बन्ध से प्रज्ञानबन्धनमुक्ति—

बडे आश्चर्य्य की बात है–शास्त्र का डिण्डिमघोष है कि, ज्ञान से मुक्ति होती है–आप कहते हैं–ज्यों-ज्यों ज्ञानमात्र बढती है–त्यों-त्यों प्रज्ञान बन्धन में अधिकमात्रा से कसता जाता है । 'विज्ञान से बन्धनमुक्ति अभिप्रेत है । विज्ञान के आ जाने पर बन्धन का नाम निशान भी नहीं रहता । बात वास्तव में ठीक है । प्रश्न वास्तव में उचित है हम भी यही मानते हैं कि ज्ञान से बन्धनमुक्ति होती है न कि बन्धन । तथापि प्रकृत में विज्ञान के कारण प्रज्ञान का जो बन्धन बतलाया जाता है–वह सर्वथा उपपन्न होता ही नहीं–यह बात नहीं है ' एक मार्ग ऐसा भी है जिसका आश्रय लेने पर विज्ञान भी प्रज्ञान के बन्धन का कारण बन जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विज्ञानतो बन्धनमुक्तिरिष्यते न बन्धनं क्वापि तथापि संप्रति ।
प्रज्ञस्य विज्ञानवशेन बन्धनं यदुच्यते तन्न च नोपपद्यते" ।।२२८।।

ज्ञान वास्तव में विकाशिस्वरूप है–ज्योतिष्मान् पदार्थ है, अतएव अन्धकार का विनाश करने वाला है । चूंकि इसका अन्धकार का नष्ट करने का स्वभाव है–बस, इस विकाशन-स्वभाव के कारण ही–अवश्य ही–इससे बन्धनमोचन होता है । 'ज्ञान से बन्धनमुक्ति होती है'–यह बात हम सौलह आना ही नहीं, अपितु सवा १७ आने मानने के लिए तय्यार हैं, एवं हम यह भी निश्चितरूप से समझते हैं कि जिस कर्म्म को यह ग्रहण कर लेता है–उसका सर्वथा विस्फोटन कर देता है । कर्म्म-बन्धन को नेस्तनाबूद कर देता है । जिस कर्म्मप्रपञ्च पर ज्ञान का अनुग्रह हो जाता है, वह चलता हुआ ही नजर आता है । इसी अभिप्राय से—

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा" ।।[1]

–यहा कहा जाता है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि ज्ञान से बन्धनमुक्ति होती है–इसे हम सर्वथा मानने के लिए तय्यार हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है —

"विकाशि विज्ञानमिदं विकाशनस्वभावतो बन्धनमोचनं भवेत् ।
तच्चानुगृह्णाति विशिष्य कर्म्म यत् तदेव विस्फोटयतीति निश्चितम्" ।।२२९।।

---

१ गीता ४।३७ ।

परन्तु कहना हमें यही है कि इस ज्ञान का सम्बन्ध प्रतिग्रह एवं अनुग्रह भेदेन दो प्रकार से होता है। अनुग्रह से जो ज्ञानोदय होता है, वह वास्तव में अन्धकार को दूर करने वाला होता है-कर्म्मप्रपञ्च को नेस्तनाबूद करने वाला होता है। परन्तु प्रतिग्रह से आने वाला जो ज्ञान है-वह बन्धन में डाल देता है। विषयज्ञान को ही प्रतिग्रहज्ञान कहते हैं। विषसंपृक्त अन्न जैसे पतन का कारण होता है तद्वत् विषयसंपृक्त ज्ञान बन्धन का कारण बन जाता है। विषयज्ञान में जो विषय है, वह बलस्वरूप है। बल ही का नाम मृत्यु है, अतः वह भी शरीर में प्रविष्ट होता है। बस, इसका अन्तिम परिणाम मल है। अन्न का अन्तिम परिणाम मल है तद्वत् मृत्यु भी मल है। बस, यही मल-यही किट्ट-बजाय बन्धनमुक्ति के प्रज्ञान को उल्टा बन्धन में डालता जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रतिग्रहेणैतदनुग्रहेण प्रवर्ततेऽनुग्रहतस्तमोनुत् ।
प्रतिग्रहादस्य तु मर्त्यकार्य्यानुयोगयोग्यामलरूपसिद्धिः" ॥२३०॥

प्रज्ञानसंपृक्त जो विज्ञान है, वह पराङ्मुख है। अर्थात् उसकी रश्मियाँ भीतर से बाहर की ओर निकल रही हैं, अतएव यह विज्ञान सदा बाहर के घट-पटादि विषयजात को ही प्रकाशित करने में समर्थ होता है। परन्तु सारी इन्द्रियों का रुख भीतर की ओर लौटा दिया जाता है तो प्रज्ञान पर उस विज्ञान का प्रकाश पड़ जाता है। बस, प्रकाश पड़ते ही आत्मा का ज्ञान हो जाता है। विज्ञान की रोशनी में आत्मा पहचान लिया जाता है-बस, उसी समय मुक्ति हो जाती है। तात्पर्य्य यही है कि जो विज्ञान मोचन करने वाला है, उसकी स्वाभाविक गति बाहर की ओर होती है, अतएव वह बाहर के विषयों को ही प्रकाशित कर सकता है-न कि हृदयस्थ प्रज्ञान को-जब इन्द्रियों को प्रत्यङ्मुख कर लिया जाता है तो अवश्य विज्ञान का भी रुख पलट जाता है एवं उसका प्रकाश प्रज्ञान पर पड़ने लगता है। प्रज्ञानप्रतियोगिक विज्ञान बन्धन का कारण है एवं प्रज्ञानानुयोगिक विज्ञान बन्धनमुक्ति का कारण है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

**"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" ॥[1]**

अवस्थाविशेष से ज्ञान ही बन्धन का कारण है एवं ज्ञान ही मुक्ति का कारण है-यही तात्पर्य्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रज्ञस्य विज्ञानमिदं पराङ्मुखं कामान् पराचो हि सदाऽवभासयेत् ।
प्रज्ञे परावर्तितमानखादिदं गच्छेत् तदात्मज्ञतया स मुच्यते" ॥२३१॥

---

१ कठोप० २।४।१।

१९–निरन्नविज्ञानवर्धनात् प्रज्ञानबन्धनमुक्त्या दुःखाभावः ।*

निरन्नविज्ञानवर्धनात् प्रज्ञानबन्धनमुक्ति से दुःखाभाव—

विज्ञानमाकाशममुष्य वर्द्धनादन्नादमन्नं च विसारि जायते ।
विवृद्धमाकाशमनुप्रसारणादन्नस्य बन्धः क्रमशो विहीयते ।।२३२।।

सहैव चान्नेन यदा तु वर्द्धते विज्ञानमस्मिन् न तदान्नबन्धनम् ।
विशीर्य्यतेऽन्नस्य च न प्रसारणं तद्बन्धमुक्त्यै तु निरन्नवर्द्धितम् ।।२३३।।

सहैव चान्नेन यदा तु वर्द्धते विज्ञानमेतद्विधृतान्नसंचयः ।
प्रज्ञस्य संवर्द्धयते धृतिं क्रमाद् धृतेश्च मात्रामनु तद्भ्रयक्षयः ।।२३४।।

तथा च विज्ञानमिदं हि बाह्यानर्थान्दधत् प्रज्ञसमर्थताकृत् ।
अन्तर्मुखं प्रज्ञगतं तु मुक्त्यै तमस्तदुत्साद्य रसं तनोति ।।२३५।।

।। इति तृतीयो दुःखप्रतिपत्तिखण्डः सम्पूर्णः ।।

* कृष्णत्रिसत्योपनिषत् के तृतीयखण्ड दुःखप्रतिपत्तिखण्डः के १९वें सूत्र के 'निरन्नविज्ञानवर्धनात् प्रज्ञानबन्धनमुक्त्या दुःखाभावः' नामक इस विषय के २३२ से २३५ तक के श्लोकों का हिन्दीविज्ञान-भाष्य उपलब्ध नहीं हुआ है । अतः मूलसंस्कृत श्लोक मात्र दिये जा रहे हैं । [सं०]

अथ

कृष्णत्रिसत्योपनिषत् चतुःखण्डा (द्वितीयं पर्व)

तत्र

चतुर्थ उपासनाखण्डः

४

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ उपासनाखण्डः ।

१—श्रद्धानमयानुध्यानमुपासना ।

आतिष्ठते चेदिदमस्ति सत्यं सत्यत्वविश्वास इति स्म श्रद्धा ।
श्रद्धाय तल्लग्नमना यदानुध्यायत्यमुं प्राहुरुपासनां ताम् ।।२३६।।
सत्यत्वविश्वासमये परानुध्याने रसं यल्लभते ततोऽसौ ।
उपासिताराधयते विशेषात् तं सच्चिदानन्दमुपासनातः ।।२३७।।

२—सत्यवती उपासना ।

सा च त्रिधा तत्र हि तस्य दृष्ट्याऽस्त्युपासना सत्यवती विशिष्टा ।
तथा ह्यणुः कश्चन यो महान् वा तं सच्चिदानन्द इति ह्युपास्ते ।।२३८।।

३—अङ्गवती उपासना ।

एकैकमङ्गं प्रतिपद्यते चेदङ्गीत्यकृत्स्ने यदि कृत्स्नबुद्धिः ।
अपूर्णभावे यदि पूर्णबुद्धिः सोपासना त्वङ्गवती द्वितीया ।।२३९।।
आशीर्षमापादतलं विभुर्यो वैश्वानरः सोऽस्ति षडङ्ग आत्मा ।
एकैकमङ्गं प्रतिपद्यते चेद् वैश्वानरं साङ्गवती ह्युपास्तिः ।।२४०।।
प्राणं हि कश्चिन्मन एव कश्चिद् वाचं हि कश्चिद् हृदयं च कश्चित् ।
ब्रह्मेत्युपास्ते क्वचिदन्यदन्यच्चेत्यूचिरे तूपनिषत्स्वभिज्ञाः ।।२४१।।
उपासना याङ्गवती प्रतीकादुपासना या च पृथक् पृथक् सा ।
प्रतीकतोऽङ्गं पृथगीहमानस्योत्तिष्ठते तद्घटिताङ्गिबुद्धिः ।।२४२।।

४—अन्यवती उपासना ।

तद्वस्तु वस्त्वन्तररूपतो यदा पश्यत्यसावन्यवती ह्युपासना ।
यज्ञात्मनायं पुरुषोऽथ पूरुषात्मनापि यज्ञः प्रतिपद्यते क्वचित् ।।२४३।।

रवौ यजुःपूरुष इत्युपासते भुव्यातपे त्वश्व इति ह्युपासते ।
वायोः परावर्तितरश्मिगं यजुस्तूपास्यते गौरिति भूमिधारकः ॥२४४॥
यदन्धकारावृतविश्वचक्रं यदन्तरे भाति हिरण्मयोऽर्कः ।
हिरण्यगर्भः प्रभुरेष शालग्रामाश्मनि स्वेन समेऽस्त्युपास्यः ॥२४५॥

५—अङ्गवत्यन्यवत्योरुपासनयोः सामर्थ्यम् ।

योपासनेहाङ्गवती न सा स्यादनर्थिका यावदिहास्ति सत्यम् ।
तावद्बलं नूनमयं लभेतामुष्मिन्निहापि प्रतरां प्रयोगात् ॥२४६॥
कार्त्स्न्यात् समुद्रं न विगाह्य तीरादादाय तोयान्यभिमन्यतेऽयम् ।
समुद्रतस्तोयमनेषमित्थं नापैति सत्यादभिमान एषः ॥२४७॥
या चान्यवत्यस्ति न साप्यपार्था तयास्ति विज्ञानविधोपकारः ।
येनास्त्युपास्यो व्यपदिष्ट एतद्धर्मानुपास्येऽपि विदन्ति साम्यात् ॥२४८॥
गजाश्वधेनुप्रतिमूर्तिभिश्चेत् प्रशिक्षितः पश्यति मृन्मयीस्ताः ।
अयं गजो गौरयमश्व इत्थं न व्यर्थतामेत्यभिमान एषः ॥२४९॥
अकार एषोस्ति हकार एषोऽस्त्येवं मसीकल्पितचिह्नभेदे ।
व्युत्पादितोऽस्मिन्नभिमन्यते यन्न व्यर्थतामेत्यभिमान एषः ॥२५०॥

॥ इत्युपासनाखण्डश्चतुर्थः सम्पूर्णः ॥

॥ इति चतुःखण्डा कृष्णत्रिसत्योपनिषत् (द्वितीयं पर्व) ॥

अथ उपासनाखण्डः प्रारभ्यते—

१–श्रद्धानमयानुध्यानमुपासना ।

श्रद्धायुक्त ध्यान को ही उपासना कहते हैं ।

[हिन्दीविज्ञानभाष्य] 'किसी विषय में यह बात सत्य है'–यदि ऐसा निश्चय हो जाए, बस इसी सत्यमय विश्वास का नाम श्रद्धा है । श्रद्धापूर्वक ध्येय में तल्लीन होकर जब ध्येय का चिन्तन किया जाता है–उसे ही उपासना कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आतिष्ठते चेदिदमस्ति सत्यं सत्यत्वविश्वास इति स्म श्रद्धा ।
श्रद्धाय तल्लग्नमना यदानुध्यायत्यमुं प्राहुरुपासनां ताम्" ॥२३६॥

सत्य और विश्वासमय जो परमेश्वर का ध्यान है, उसमें जितना आनन्द उपलब्ध होता है–बस, यह उपासक उपासना से–उस सच्चिदानन्दघन-आनन्द को विशेष प्रकार से प्राप्त करता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सत्यत्वविश्वासमये परानुध्याने रसं यल्लभते ततोऽसौ ।
उपासिताराधयते विशेषात् तं सच्चिदानन्दमुपासनात:" ॥२३७॥

——❀——

२–सत्यवती उपासना ।

यह उपासना तीन प्रकार की होती है । उस वस्तु में उस वस्तु को व्यापकरूप से जो देखना है–अर्थात् दर्शन और मन की वृत्ति दोनों ही व्यापकरूपेण हैं–तो यह सर्वाङ्गीण उपासना **सत्यवती** कहलाती है । चाहे वह वस्तु छोटी हो या बडी से बडी हो–उसको 'सच्चिदानन्द' ऐसा मानकर उपासना की जाती है–यही **'सत्यवती उपासना'** है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सा च त्रिधा तत्र हि तस्य दृष्ट्याऽस्त्युपासना सत्यवती विशिष्टा ।
तथा ह्यणु: कश्चन यो महान् वा तं सच्चिदानन्द इति ह्युपास्ते" ॥२३८॥

——❀——

३–अङ्गवती उपासना ।

ईश्वर के प्रत्येक अङ्ग में अङ्गी ऐसी भावना कर एवं यदि अकृत्स्न में कृत्स्न बुद्धि कर एवं अपूर्ण में पूर्ण बुद्धि कर यदि उपासक उपासना करता है तो यह–**अङ्गवती** नामक उपासना कहलाती है ।

अर्थात् दर्शन व्याप्यरूपेण एवं मनोवृत्ति व्यापकरूपेण जिसमें हो वही 'अङ्गवती' उपासना कहलाती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एकैकमङ्गं प्रतिपद्यते चेदङ्गीत्यकृत्स्ने यदि कृत्स्नबुद्धिः।
अपूर्णभावे यदि पूर्णबुद्धिः सोपासना त्वङ्गवती द्वितीया" ॥२३६॥

दो हाथ, दो पाँव, एक आत्मा और एक शिर-इस क्रम से वैश्वानर के ६ अङ्ग हैं-इन सब को मिलाकर वैश्वानराग्नि अङ्गी कहलाता है। इस प्रकार माथे से लेकर पैर तक व्यापक जो षडङ्ग आत्मा वैश्वानराग्नि है, उसके प्रत्येक अङ्ग पर ही वैश्वानर बुद्धि पैदा करके यदि उपासना की जाए तो यह 'अङ्गवती' उपासना कहलाती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आशीर्षमापादतलं विभुर्यो वैश्वानरः सोऽस्ति षडङ्ग आत्मा।
एकैकमङ्गं प्रतिपद्यते चेद् वैश्वानरं साङ्गवती ह्युपास्तिः" ॥२४०॥

प्राण ही ब्रह्म है-मन ही ब्रह्म है-वाक् ही ब्रह्म है-हृदय ही ब्रह्म है-इत्यादि प्रकार से उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन है। बस, इसी क्रम से यदि कोई प्राण की अथवा मन की अथवा वाक् की अथवा हृदय की उपासना करता है तो समझ लेना चाहिए कि यह उपासना ब्रह्म की ही है। क्योंकि उपनिषदों के जानने वालों ने ईश्वर के प्रत्येक अवयव को 'ब्रह्म' नाम से कहा है, यथा **अग्निर्ब्रह्म, वायुर्ब्रह्म, सोमो ब्रह्म, खं ब्रह्म**-इत्यादि। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणं हि कश्चिन्मन एव कश्चिद् वाचं हि कश्चिद् हृदयं च कश्चित्।
ब्रह्मेत्युपास्ते क्वचिदन्यदन्यच्चेत्यूचिरे तूपनिषत्स्वभिज्ञाः" ॥२४१॥

यह अङ्गवती उपासना-अङ्गवती और प्रतीकवती इस क्रम से दो प्रकार की होती है। जो अङ्गवती उपासना है और जो प्रतीकवती उपासना है-ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इनमें इतना ही फर्क है कि-अङ्गवती उपासना में दृष्टि है एक देश पर, परन्तु मनोवृत्ति है व्यापकरूप से। प्रतीक उपासना में जितने अंश पर दृष्टि है, उतने ही पर मन का व्यापार है-जैसे वायु की तो उपासना और ध्यान व्यापक परमेश्वर का-यह है अङ्गवती उपासना एवं वायु की उपासना और ध्यान भी केवल वायुमय ब्रह्म का-यह है-प्रतीक उपासना। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उपासना याङ्गवती प्रतीकादुपासना या च पृथक् पृथक् सा।
प्रतीकतोऽङ्गं पृथगीहमानस्योत्तिष्ठते तद्घटिताङ्गिबुद्धिः" ॥२४२॥

—※—

४–अन्यवती उपासना ।

किसी वस्तु का वस्त्वन्तर द्वारा जहाँ प्रत्यक्ष किया जाए, वह अन्य की उपासना कहलाती है। जैसे श्रुति में कहा है–**'यज्ञो वै पुरुषः'** (यज्ञ पुरुष है) **'पुरुषो वै यज्ञः'** (पुरुष यज्ञ है) **'यज्ञं पुरुषमुपासीत'** (ऐसे यज्ञरूपी पुरुष की उपासना करो)–इत्यादि। अर्थात्–यज्ञ में गार्हपत्य से लेकर यूप तक–सारे शरीर की कल्पना करके पुरुष एवं पुरुष में–गार्हपत्य से आहवनीय तक की कल्पना करके उस पुरुष को यज्ञ कहते हैं। बस, यज्ञ से पुरुष की एवं पुरुष से यज्ञ की अर्थात् अन्य से अन्य की जहाँ उपासना होती है, यही अन्यवती उपासना कहलाती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तद्वस्तु वस्त्वन्तररूपतो यदा पश्यत्यसावन्यवती ह्युपासना।
यज्ञात्मनायं पुरुषोऽथ पूरुषात्मनापि यज्ञः प्रतिपद्यते क्वचित्" ॥२४३॥

पृथिवी की अङ्गिरा अग्नि के एवं सूर्य्य की निराकार सावित्राग्नि के अन्तरिक्ष में रगड़क खाने से जो अग्नि पैदा होती है–उसे वैश्वानराग्नि पुरुष कहते हैं। बस, इसी यजुरूप पुरुष की जो उपासना की जाती है एवं सूर्य्य का तेज जब पृथिवी का प्रवर्ग्य बनकर ऊपर की तरफ प्रतिफलित होता है–उसे अश्व कहते हैं। ऐसे अश्व की जो उपासना की जाती है एवं सात वायुस्तरों में घर्षण करती हुई प्रतिफलित जो रश्मियाँ हैं–तत्र स्थित जो यजुः पुरुष है–उसकी जो उपासना की जाती है एवं सूर्य्यस्थित जो १००० गौ (रश्मियाँ) हैं–जिन्होंने भूमि को पकड़ रक्खा है–ऐसी गौ की जो उपासना की जाती है–यह सब अन्यवती उपासना कहलाती है–क्योंकि इन सबसे ब्रह्म का ध्यान किया जाता है।

"रवौ यजुः पूरुष इत्युपासते भुव्यातपे त्वश्व इति ह्युपासते।
वायोः परावर्तितरश्मिगं यजुस्तूपास्यते गौरिति भूमिधारकः" ॥२४४॥

जो कि विश्वचक्र अन्धकारावृत है–जिसके अन्दर पीले रंग का (हिरण्मय) सूर्य है–बस, हिरण्यक गर्भ यह भगवान् शालिग्राम एतद्दूरावच्छिन्न ही शालिग्राम पाषाण में उपास्य होते हैं। अर्थात्–उसी पाषाण द्वारा भगवान् हिरण्यगर्भ की उपासना की जाती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदन्धकारावृतविश्वचक्रं यदन्तरे भाति हिरण्मयोऽर्कः।
हिरण्यगर्भः प्रभुरेष शालग्रामाश्मनि स्वेन समेऽस्त्युपास्यः" ॥२४५॥

—❀—

५–अङ्गवत्यन्यवत्योरुपासनयोः सामर्थ्यम्।

अङ्गवती और अन्यवती उपासना का सामर्थ्य—

यदि कोई प्रश्न करे कि जो अङ्गवती एवं अन्यवती उपासना हैं–यह मिथ्या है, क्योंकि अङ्गवती में–अपूर्ण में पूर्ण बुद्धि की जाती है एवं अन्यवती में तो वस्त्वन्तर से–परमेश्वर की उपासना करने से सर्वथा ही मिथ्यात्व है । अतः चाहे सहस्रवर्ष तक मिथ्याविषयक उपासना करो, मगर इसका फल नहीं हो सकता । इसी का उत्तर देते हैं–जो हमने अङ्गवती उपासना बतलाई है, वह व्यर्थ नहीं हो सकती । क्योंकि जितने अंश की हम उपासना करते हैं–उसमें जितना सत्य अंश है, उतना बल उसी अङ्ग में निरन्तर ध्यान करने से निश्चय ही यह उपासक बल प्राप्त कर सकता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"योपासनेहाङ्गवती न सा स्यादनर्थिका यावदिहास्ति सत्यम् ।
तावद्बलं नूनमयं लभेतामुष्मिन्निहापि प्रतरां प्रयोगात्" ।।२४६।।

इतना ही नहीं–विना अङ्गवती के सत्यवती उपासना हो भी नहीं सकती । पूरे समुद्र के पानी को लेने में असमर्थ होता हुआ समुद्र के एक तीर से पानी लेकर यह मनुष्य–'मैंने समुद्र का पानी ले लिया'–इस प्रकार का जो अभिमान करता है, उसका यह अभिमान झूठा नहीं कहा जा सकता । इसलिए अङ्गवती उपासना व्यर्थ है–ऐसा कहना नितान्त भ्रम ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कात्स्न्र्यात् समुद्रं न विगाह्य तीरादादाय तोयान्यभिमन्यतेऽयम् ।
समुद्रतस्तोयमनैषमित्थं नापैति सत्यादभिमान एषः" ।।२४७।।

और जो अन्यवती उपासना है–वह भी व्यर्थ नहीं कही जा सकती, क्योंकि इस उपासना से वैज्ञानिक पदार्थों के जानने में बडा उपकार होता है । जिससे उपास्य व्यपदिष्ट है–उन धर्मों को साम्येन उपासक उपास्य में भी समझने लगता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"या चान्यवत्यस्ति न साप्यपार्था तयास्ति विज्ञानविधोपकारः ।
येनास्त्युपास्यो व्यपदिष्ट एतद्धर्म्मानुपास्येऽपि विदन्ति साम्यात्" ।।२४८।।

बालक–हाथी-घोड़ा-गाय–इनकी मूर्त्ति को देख कर इनके मिट्टी के होते हुए भी यदि अयमश्वः–इत्यादि व्यवहार करता है तो यह उसका अभिमान व्यर्थ नहीं कहा जा सकता । क्योंकि यही क्रम उसके सत्य के ज्ञान का साधन है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

गजाश्वधेनुप्रतिमूर्तिभिश्चेत् प्रशिक्षितः पश्यति मृन्मयीस्ताः ।
अयं गजो गौरयमश्व इत्थं न व्यर्थतामेत्यभिमान एषः" ।।२४९।।

यह अकार है, यह हकार है–ऐसा जो स्याही से कल्पित चिह्नभेद है–उसे ही जो अकार एवं हकार समझता है–यह उसका अभिमान व्यर्थ नहीं कहा जा सकता । अन्यथा शब्द तो मुंह से बुलता

है। यह चिह्न क्या अकारादि थोड़े ही हो सकता है तथापि लोक में व्यवहार उसी से होता है। इसलिए मानना पड़ता है कि अन्यवती उपासना व्यर्थ नहीं हो सकती। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा—

"अकार एषोस्ति हकार एषोऽस्त्येवं मसीकल्पितचिह्नभेदे ।
व्युत्पादितोऽस्मिन्नभिमन्यते यन्न व्यर्थतामेत्यभिमान एषः" ।।२५०।।

पूर्व प्रकरण में हमने जगत् के प्रत्येक पदार्थ को सच्चिदानन्दमय बतलाया है–अर्थात् संसार का कोई ऐसा पदार्थ नहीं–चाहे वह लौकिकपरिभाषानुसार जड़ हो या चेतन हो, स्थावर हो या जङ्गम हो जो कि सच्चिदानन्दमय न हो। चूंकि ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानन्दमय है और सच्चिदानन्दातिरिक्त-जगत् में कोई पदार्थ नहीं, इसीलिए श्रुति कहती है–**'ब्रह्मं वेदं सर्वं, नेह नानास्ति किञ्चन'**–इति। उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि संसार में सब ब्रह्म ही है, मिथ्या कुछ भी नहीं। इस प्रकार शंकराचार्य का जगत् को मिथ्या बतलाना–वैदिकविज्ञान के विरुद्ध होने से चिन्त्य समझना चाहिए।

बस, सत्ता और चेतना और आनन्द-जगत् के मूलभूत ये ही तीन पदार्थ हैं। इनमें से सत्ता क्या है–चेतना क्या है और आनन्द क्या है और ये तीन भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, अथवा एक ही पदार्थ के तीन स्वरूप हैं–और यदि सच्चिदानन्दमय ही जगत् है तो हम संसार में प्रत्येक प्राणी को दुःखी क्यों देखते हैं–इत्यादि बातों का विशद विवेचन कृष्णत्रिसत्योपनिषत् में कर दिया गया है। उस प्रकरण में अन्ततोगत्वा यही सिद्धान्त है–एक रस (ब्रह्म) की ही ये तीन अवस्थाएँ हैं। वस्तुतः सत्ता-चेतना और आनन्द–एक ही पदार्थ हैं। यद्यपि यह एक ही पदार्थ है तथापि हमें जगत् के स्वरूप में यह शुद्ध रस तीन प्रकार से भासित होता है, इसलिए कृष्ण-यजुर्वेदियों (तैत्तिरियों) के मत से इन्हीं तीन सत्ता-चेतना और आनन्द से जगद् व्याप्त है, अतः जगत् के ये ही तीन मूल हैं। बस, अब तक इसी कृष्णयजुर्वेद के मतानुसार 'कृष्णत्रिसत्योपनित्' कहा गया है। अब कईयों का मत है कि संसार के यच्चयावत् पदार्थों के पूर्णब्रह्म और पूर्ण कर्म्ममय होने से जगत् को पूर्ण द्विसत्ययुक्त ही समझना चाहिए।

।। इत्युपासनाखण्डश्चतुर्थः सम्पूर्णः ।।

।। इति कृष्णत्रिसत्योपनिषन्नामकं चतुःखण्डात्मकं–
द्वितीयपर्वभाष्यं समाप्तम् ।।

अथ

पूर्णद्विसत्योपनिषत् त्र्यधिकारा (तृतीयं पर्व)

तत्रादौ

प्रथमो ब्रह्मकर्म्माधिकारः

१

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ पूर्णद्विसत्योपनिषत् ।

तत्रादौ

१—ब्रह्मकर्माधिकारः ।

१—जगन्मूलैकत्वसिद्धान्तः । [१]

विकुर्वदाकारमिदं निरन्तरं तथापि नो नास्ति कदापि तेन तत् ।
ध्रुवस्य नित्यस्य हि कस्यचिद् ध्रुवं विकारभूतं जगदित्यवेयते ॥१॥
विकारि सर्वं जगदस्ति सर्वे सर्वेषु रूपेषु विपर्य्ययन्ते ।
तस्मात् समस्तं जगदेककार्य्यं निश्चीयते कारणमस्य चैकम् ॥२॥
यन्निर्विशेषं ध्रुवमेकरूपं तत्कारणं नाम ततो विशेषाः ।
इमे समग्राः प्रभवन्ति भूयोऽभवन् भविष्यन्ति जगत्तदाहुः ॥३॥
यन्निर्विशेषं नु तदाभुनाम्ना तदम्वमन्यन्नु यतो विशेषाः ।
तदाभु तु ब्रह्म, तदम्वमेवं कर्मेति मायेति वदन्ति देवाः ॥४॥

१—जगदन्तभावनामतम् । (अवसितविकारकल्पः) [२]

मतानि षट् तत्र भवन्ति धीमतां केचिद्विदुर्ब्रह्म यदस्ति कारणम् ।
जगत्स्वरूपाय तदल्पमस्त्रसङ्कुयिष्ठमद्याप्यविकारि शिष्यते ॥५॥
यथा सरस्यम्बुघनोपरि स्तरः फेनस्य दुग्धोपरि वा शरस्तरः ।
यथा च लोहोपरि किट्टसंभवस्तथेह च ब्रह्मणि विश्वसंभवः ॥६॥
कदाचिदन्ते तदशेषतो जगद्भवत् पुनर्निर्विकृतं न वर्त्स्यति ।
द्रवंस्तुषारो निखिलद्रवात्परस्वरूपतो विच्यवते यथा तथा ॥७॥
यदाऽखिलं ब्रह्म जगद्भविष्यति प्रवर्त्स्यतीदं न जगत्तदुत्तरम् ।
न मूलमस्तीति जगत्क्रियाऽन्ततो निरोत्स्यते नोत्तरकर्म्म वेद्म्यहम् ॥८॥
पूर्णं पुरा सर्गगतं च पूर्णं पूर्णात् पुनः पूर्णमुदच्यते तत् ।
पूर्णस्य पूर्णं परिगृह्यते चेद् अन्तेऽवशिष्येत तदेव पूर्णम् ॥९॥

२–ब्रह्म-जगच्चक्राविराममतम् । (चक्रविकारकल्पः) [३]

प्राहुः परे नेत्थमियं जगत्क्रिया समाप्यते, ब्रह्म न नास्ति कर्हिचित् ।
प्राणज्जगत्तत् सविशेषमेकदा ब्रह्माविशेषं तदपानदेकदा ।।१०।।

स्याद् ब्रह्मणः कृत्स्नजगत् प्रवृत्या, स्याद् ब्रह्म पश्चाज्जगतो निवृत्या ।
पुनर्जगद् ब्रह्म पुनः पुनस्तत् प्रवर्तते चक्रमनारतं तत् ।।११।।

पूर्णं ह्यदो ब्रह्म कदाचिदासीत् ततोऽभवद् विश्वमिदं च पूर्णम् ।
तद्ब्रह्मतः पूर्णतयाऽस्य सेके जनत् पुनः सेचकरूपमेति ।।१२।।

पूर्णं हि कार्त्स्न्यं वदतीति कार्त्स्न्यादुदच्यते ब्रह्म तदा जगत्स्यात् ।
गाथेयमाथर्वणसंहितायामाम्नायते वाजसनेयके च ।।१३।।

"पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ।।१४।।
पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ।।१५।।

३–अनन्तब्रह्मणि खण्डविकारजगदानन्त्यमतम् । [४]
(खण्डविकारकल्पः)

अन्ये विदुः प्राणनमस्य कार्त्स्न्यतोऽप्यपाननं चास्ति नु साकमेव तत् ।
एकैकभावेऽस्ति पृथक् क्रियाद्वयी पुनः पुनर्नश्यति जायते च सः ।।१६।।

किञ्चेदृशे प्राणनमप्यपाननं संभाव्यते कृत्स्नतया तदा यदा ।
देशाच्च कालाच्च मितं भवेदिदं ब्रह्मामिते तत्र तु नैष संभवः ।।१७।।

चिरादिदं भाति जगद्यदीदृशो देशो न कल्प्येत न यत्र तद्भवेत् ।
रिक्तं जगत्तो न यतोस्ति तेन तत् पूर्णं जगत्सिद्धमसीममक्षयम् ।।१८।।

जगत् प्रपश्यामि न तस्य सीमां पश्यामि देशादपि कालतोऽपि ।
पश्यामि तस्मिन् परिवर्तनानि प्रत्यर्थमेषामपि नास्ति सीमा ।।१९।।

यस्याविशेषस्य विशेषरूपवज्जगद्विकारात् प्रभवत्ययं पुनः ।
आत्मास्त्यमुष्य प्रभवः स च ध्रुवः पूर्णो न तेनापि विरिच्यते क्वचित् ।।२०।।

तस्मादसीमं जगदस्य कारणं ब्रह्माप्यसीमं प्रतिपद्यते ध्रुवम् ।
स्वभावतो वान्यनियोगतोऽपि वा सर्वत्र साम्येन जगत्क्रिया भवेत् ।।२१।।

सर्वं हि तद् ब्रह्म जगत्स्वरूपतो विवर्तमानं ध्रुवमस्ति संप्रति ।
नैकान्ततो निर्विकृतं क्वचित्स्थितं जगद्विकारोपहितं तु लक्ष्यते ।।२२।।

पूर्णं हि भूमानमसीमभावं वक्तीत्यसीमं परिवर्तनीयम् ।
असीममेतत् परिवर्तते चेत् तथाप्यसीमं परिवर्तनीयम् ।।२३।।
यतस्त्वसीमादिदमस्त्यसीमं तदद्य विद्याम न तत् स्वरूपे ।
गाथेयमाथर्वणसंहितायामाम्नायते वाजसनेयके च ।।२४।।

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।२५।।
"पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते" ।।२६।।

४–ब्रह्मजगतोरन्योन्याविनाभावादैकात्म्यमतम् । (तादात्म्यकल्पः)[५]

विद्यस्तु यद्विक्रियते तदन्यत् ततोऽन्यदत्रास्त्यविकारि किञ्चित् ।
तद्वैकृतं चाविकृतं च पूर्णं तत् तन्न यत्रास्ति न सोऽस्ति देशः ।।२७।।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।२८।।
पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ।।२९।।

पूर्णं त्वशून्यं भूतमाह कार्त्स्न्याद् विकारसिद्धावपि चैकमेकम् ।
न कारणाच्छून्यमिदं न कार्य्यात् सर्वं समं कारणमस्ति कार्य्यम् ।।३०।।
पूर्णं ह्यदः कारणमस्त्यशून्यं कार्य्यं तथा पूर्णमिदं समस्तम् ।
पूर्णादिदं पूर्णमुदच्यते तत् पूर्णस्य पूर्णग्रहणेऽस्ति पूर्णम् ।।३१।।
एकेन तु व्याप्तिमति प्रदेशे कथं द्वितीयस्य सतोवकाशः ।
नाशङ्क्यमित्यव्यतिरिक्तसत्ताकयोः स्थितिर्मृद्घटयोरिवास्ति ।।३२।।
तद् ब्रह्म यन्निर्विकृतं प्रशान्तं तत्कर्म्म यद्विक्रियमाणरूपम् ।
न ब्रह्मणः कर्म्म विना स्वरूपं न कर्म्मणो ब्रह्म विना प्रतिष्ठा ।।३३।।
यथा घटत्वस्य घटः प्रतिष्ठा यथा घटत्वं च घटस्वरूपम् ।
तथैव तद् ब्रह्म च कर्म्म चेदं मिथोऽविनाभूतमिति प्रतीमः ।।३४।।

५–ब्रह्मकर्म्मणोः सहावस्थानं जगद्रूपम् । (सहयोगकल्पः) [६]

परे विदुर्ब्रह्म च कर्म्म चैतद् द्वयं प्रपद्ये विकृताविकारम् ।
कर्म्मैव किञ्चिद् विकृतिस्वभावं ब्रह्म त्विदं निर्विकृतं प्रतिष्ठा ।।३५।।

शून्यं तदन्यत् परिपूर्णमन्यत् स्थानं द्विधा कर्मण एव दिष्टम् ।
यत्र क्रिया नास्ति न तत्र सर्गः शून्यं विकाशावरणं तदिष्टम् ॥३६॥
यत्रैष सर्गस्तदिदं तु कर्म्मामृतेन पूर्णेन तदस्ति पूर्णम् ।
तत् सत् तदानन्दमयं विकाशोऽप्येवं द्विधा स्थानममुष्य मृत्योः ॥३७॥
अथामृतं स्थानममुष्य मृत्योर्भूमा स तस्मात् परिपूर्णरूपम् ।
तदत्र शून्येऽपि न नास्ति पूर्णं व्योमेव सर्गेऽपि तदस्ति पूर्णम् ॥३८॥
स्थितेर्विरोधो न यतोऽमृतेन मृत्योर्मतस्तेन समानमेतत् ।
शून्येपि सर्गेऽपि सदास्ति पूर्णं न चामृतं कर्म्मणि नास्ति पूर्णम् ॥३९॥
तदन्तरे यत्परितो बहिर्धाऽऽहितं हि मृत्यावमृतं समन्तात् ।
बलेऽमृतं मृत्युरमुष्य मृत्योरात्माऽमृतं न म्रियते ततस्तत् ॥४०॥
पूर्णं ततो ब्रह्म च कर्म पूर्णं तद् ब्रह्मणा कर्मणि पूर्णतास्ति ।
तद् ब्रह्म वीक्षे यदि सर्वकर्म्मातिरेकतो ब्रह्म तदावशिष्टम् ॥४१॥

६–निर्विकारपूर्णब्रह्मणि पूर्णकर्म्मोदयः । (विशिष्टैककल्पः) [७]

विदुः परे कारणमेव सर्वं न तूपपन्नोऽत्र विकारभावः ।
भ्रान्त्यैव कर्म्माण्यदिहान्यरूपं नामान्यदज्ञाः परिकल्पयन्ति ॥४२॥
ब्रह्मापि कर्मापि विभूभयं तत् कर्मोदयं ब्रह्मण एव याति ।
निःशेषकर्माण्युदरे गृहीत्वाऽवशिष्यते ब्रह्म तु केवलं तत् ॥४३॥
उदेति सद्ब्रह्मणि कर्म्म चासत् तद्ब्रह्मसत्ता रससेकतः सत् ।
ब्रह्मैव विद्याम तु तत्र कर्मण्यपीति देवा अवदन् पुरात्त्वे ॥४४॥

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥४५॥
पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते ॥४६॥

७–ब्रह्मणो निर्विकारत्वे दृष्टान्ताः । [८]

(१) जले प्रयुक्तानि बलानि तत्र क्रियात्मना स्युः परिणम्य भङ्गाः ।
जले विकारान् प्रवदन्ति किन्तु स्याद्वस्तुतो नास्ति जले विकारः ॥४७॥
भङ्गैर्जलं विक्रियते न किञ्चिच्छोषे खगं तत्र विकारमेति ।
फेने तु वायुर्निहितोऽस्य वायोः पार्थक्यतो निर्विकृतं जलं तत् ॥४८॥